

शुद्धिसूचा

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध | पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|-------|--------|----------------|-----------------|-------|--------|------------------|------------------|
| ६ | १० | मन्दित्र | मन्दित्रे | २९ | २ | नाणाइमिभोक्ति | नाणाइसभोक्ति |
| ८ | १० | तथाप्याग्मदोष | तथाप्याग्मदोष | ३० | ३ | बह्विन्यपरर्थ | बह्विन्यपरर्थ |
| | २६ | कुसुम | कुसुम | | २२ | क्लिपाग | क्लिपाक |
| ११ | १७ | मन्थपादस्म | मन्थपादस्म | | २७ | कण्डूयण च | कण्डूयण च |
| ११ | १ | कहियपुत्रवुत्त | कहिय पुत्रवुत्त | ३३ | १९ | कीटकादि | कीटिकादि |
| १२ | ४० | व्यावृत्त | व्यावृत्त | ३४ | ६ | भायार | भायार |
| | २१ | मन्य | मन्या | ३६ | ३४ | सुकपालेहि | सुकवालेहि |
| | २१ | ध्याने | ध्याने | | ३५ | उस्सुक्को | उस्सुक्को |
| १३ | ३४ | मुण्डा | मुण्डा | ३७ | १३ | कुग्गाहमाहेहि | कुग्गाहगाहेहि |
| | ३६ | तामि | तामि | ३८ | ४० | प्सविग्गोऽप्येको | प्सविग्गोऽप्येको |
| १६ | २७ | परोप्पर | परोप्पर | ४० | १६ | मो | मा |
| | ३० | ज विद्यानो | जविद्यालो | | १९ | चेति | वेति |
| १० | ६ | अनन्तरोस्ते | अनन्तरोस्ते | | ३९ | द्वयप | द्वयप |
| | १६ | आयसमाणे | आयसमाणे | | ४१ | पोत्तमण | पत्तमण |
| | २४ | सग्गाह | सग्गाह | | ३२ | या गारण | यावधारण |
| | २५ | वयति | वयति | ४१ | ४० | धणिय | धणिय |
| २० | १५ | अणुहियस | अणुहियस | ४३ | १९ | व्यापारिताभि | व्यापारिताभि |
| २० | १९ | वरात्तनामत्त | वरात्तनामत्त | ४५ | ७ | व्यक्ताया | व्यन्त्याहया |
| २३ | ३० | मन्थपक्षोणे | मन्थपक्षोणे | | २० | अणुद्विय | अणुद्विय |
| ३४ | ७ | अट्टयसट्टा | अट्टयसट्टा | | ३२ | पडिमा घरधूय- | पडिमाघरधूय |
| | ३८ | जोग्गम | जोग्गम | ४६ | २२ | ननु | न तु |
| ३६ | २० | नारी | नारी | | ३२ | विन्द्यामम् | विन्द्यामाम् |
| | ३६ | तामिक्के | तामिक्के | | ३७ | साधायन्न | साधयन्न |

धर्मरत्नप्रकरणविषयानुक्रमः

| संख्या | विषय | पन्नाङ्क | संख्या | विषय | पन्नाङ्क |
|--------|-----------------------------------|----------|--------|---------------------------------------|----------|
| ० | श्रीशारङमन्थपादशक्ति | १ | १० | प्रवृत्तिवैभ्य इति वृत्तियगुणस्वरूपम् | ७ |
| १ | नमस्तत्तप्रयोगशक्ति | १ | | गदुपरि अर्थिनायम् | ५ |
| २ | मन्थपादपरिभाषाशक्ति | २ | ११ | मोक्षप्रिय इति चतुर्वैगुणस्वरूपम् | ६ |
| ३ | अनन्तरोस्ते य इष्टान्तयोगशक्ति | ३ | | गदुपरि सुतागमविज्ञानम् | ६ |
| ४ | परोप्परिगुणस्वरूपशक्ति | ४ | १२ | अक्षर इति पञ्चमगुणस्वरूपम् | ७ |
| | | | १३ | भीकरिणि पञ्चमगुणस्वरूपम् | ७ |
| | | | | चतुपरि सुतामदृष्टान्तरम् | ७ |
| ५ | अनन्तरोस्ते वृत्तियगुणस्वरूपशक्ति | ५ | १४ | अक्षर इति सातमगुणस्वरूपम् | ८ |
| ६ | अक्षर इति सातमगुणस्वरूपम् | ६ | १५ | सुदावियय इत्यष्टमगुणस्वरूपम् | ८ |
| ७ | अक्षर इति सातमगुणस्वरूपम् | ७ | | गदुपरि ध्रुवकृतनागाव्याजम् | ८ |
| ८ | अक्षर इति सातमगुणस्वरूपम् | ८ | १६ | अक्षर इति नवमगुणस्वरूपम् | ९ |

| गाथा | विषय | पत्राङ्क | गाथा | विषय | पत्राङ्क |
|-------|---|----------|-------|--|----------|
| | तदुपरि चण्डरुद्रशिष्योदाहरणम् . | ९ | | भावार्थकथनम् . | २४ |
| १७ | दयालुरिति दशमगुणस्वरूपम् . | १० | | रुचिविषये यशोऽभिधेयस्य निदर्शनम् | २५ |
| | तदुपरि धर्मरुचिवृत्तान्तम् . | १० | ३७ | तुर्थे चतुर्था ऋजुव्यवहारस्वरूपम् | २६ |
| १८ | मध्यस्थमौम्यदृष्टिरित्येकादशगुणस्वरूपम् | १० | ४८ | एतस्यैव विषयं दोषदर्शनादि | २६ |
| | तदुपरि सोमवसुचरितम् | १० | | ऋजुव्यवहारे धर्मनन्दनोदाहरणम् | २६ |
| १९ | गुणराग इति द्वादशगुणस्वरूपम् | ११ | ४९ | पञ्चमे चतुर्था गुरुशुश्रूषोपदर्शनम् | २७ |
| २० | मत्कथ इति त्रयोदशगुणस्वरूपम् | १२ | ५० | सेवा १ कारण २ रूपाद्यभेदद्वयस्वरूपम् | २७ |
| २१ | सुपक्ष इति चतुर्दशगुणस्वरूपम् | १३ | ५१ | कौपघादिसपादन ३ भावा ४ ख्यतृती- | |
| | तदुपरि प्रभाकरवृत्तम् | १३ | | यचतुर्थभेदस्वरूपम् | २७ |
| २२ | सुतीर्षदर्शति पञ्चदशगुणस्वरूपम् | १३ | | तदुपरि सप्रतिमहाराजनिदर्शनम् | २८ |
| | तदुपरि धनश्रेष्ठिजातम् | १३ | ५२ | पष्ठे पङ्क्तिप्रवचनकुशलोपदर्शनम् | २९ |
| २३ | विशेषज्ञ इति षोडशगुणस्वरूपम् | १४ | ५३-५४ | सूत्र १ अर्थ २ उत्सर्ग ३ अपवाद ४ भाव- | |
| २४ | वृद्धानुग इति सप्तदशगुणस्वरूपम् | १४ | | ५ न्यवहार ६ रूपपद्विधकुशलस्य स्वरूपनिरूपणम् | २९ |
| | तदुपरि मन्त्रिवृत्तान्तम् | १४ | | तदुपरि पद्मशेखरभृपोदाहरणम् | ३० |
| २५ | विनय इत्यष्टादशगुणस्वरूपम् | १४ | ५५ | प्रस्तुतार्थोपमहार | ३० |
| | तदुपरि फलसालागयानम् | १५ | ५६ | अन्येषा भावश्रावकलक्षणाना | ३० |
| २६ | कृत्वा इत्येकादशगुणस्वरूपम् . | १५ | ५७-५९ | पृतेषा सप्तदशानामानि | ३१ |
| | तदुपरि भीमोदाहरणम् | १५ | ६० | स्तीति प्रथमभेदस्वरूपम् | ३१ |
| २७ | परहितार्थकारीति विंशतितमगुणस्वरूपम् | १६ | ६१ | द्वितीय इति द्वितीयभेदस्वरूपम् | ३१ |
| | तदुपरि विज्ञानश्रेष्ठिवृत्तान्तम् | १६ | ६२ | अर्थ इति तृतीयभेदस्वरूपम् | ३१ |
| २८ | लक्ष्यलक्ष्य इत्येकविंशगुणस्वरूपम् . | २७ | ६३ | ससार इति तुर्थभेदस्वरूपम् | ३२ |
| | तदुपरि कार्यरक्षितजातम् | १७ | ६४ | विषय इति पञ्चमभेदस्वरूपम् | ३२ |
| २९ | प्रस्तुतोपमहारेण प्रकरणार्थनिगमनम् | १७ | ६५ | आरम्भ इति पष्ठभेदस्वरूपम् | ३२ |
| ३० | त्रिधा धर्माधिकारिण चिन्तनम् | १८ | ६६ | गोह इति सप्तमभेदस्वरूपम् | ३२ |
| ३१ | धर्मार्थिना गुणार्जनादि . | १८ | ६७ | दर्शनमित्यष्टमभेदस्वरूपम् . . . | ३३ |
| | तदुपरि प्रभाषारथानम् | १८ | ६८ | गङ्गुरिकाप्रवाह इति नवमभेदस्वरूपम् | ३३ |
| ३२ | एतद्गुणौघे सति भावश्रावकवादि | १९ | | तदुपरि विप्रोदाहरणम् | ३३ |
| | ॥ द्वितीयवाक्यस्य विषयोपक्रमः ॥ | | ६९ | आगमपुरस्सर प्रवृत्तिरिति दशमभेदस्वरूपम् | ३३ |
| ३३ | भावश्रावकस्य पद्विलिङ्गनामानि . | १९ | ७० | यथाशक्ति दानादिप्रवर्तनमित्येकादशभेदस्वरूपम् | ३४ |
| ३४ | तेजरात्रौ चतुर्धा कृतप्रक्रमोपदर्शनम् . | १९ | ७१ | विहिक इति द्वादशभेदस्वरूपम् | ३४ |
| ३५ | आकर्षण १ ज्ञानाय २ आद्यभेदद्वयस्वरूपम् | १९ | | चित्तमणिमिव क्रियादुर्लभत्वे जयदेवस्य | |
| ३६ | ग्रहण ३ प्रतिसेवना ४ रूपाद्यभेदस्वरूपम् | २० | | क्रियाकरणविहितत्वे दत्तनैगमस्य चोदाहरणम् | ३४ |
| | आतङ्गमने आरोग्यद्विजजातम् . | २१ | ७२ | अरक्तद्विष्ट इति त्रयोदशभेदस्वरूपम् | ३६ |
| ३७-३८ | द्वितीये पद्विधनीलवस्वरूपम् . | २१ | ७३ | मध्यस्थ इति चतुर्दशभेदस्वरूपम् | ३७ |
| ३८-४१ | अनायतन १ परगृहप्रवेश २ उद्भववेप- | | ७४ | अमम्बद्व इति पञ्चदशभेदस्वरूपम् . | ३७ |
| | ३ मतिकारवचन ४ बालक्रीडा ५ पह- | | ७५ | परार्थक्रामोपभोगीति षोडशभेदस्वरूपम् | ३७ |
| | पत्रचन ६ वर्जनरूपत्रयिणीलस्य स्वरूपपरिभाषना | २२ | ७६ | वेद्येवेत्यादि सप्तदशभेदस्वरूपम् . | ३७ |
| | परुषभाषणे महाशतकसविधानकम् . | २३ | | तदुपरि वसुश्रेष्ठिसुतलिङ्गोदाहरणम् | ३७ |
| ४० | तृतीयलक्षणसन्धोपदर्शनम् | २४ | ७७ | भावश्रावकलक्षणोपसहारेण भावसाधुसन्धोपदर्शनम् | ३८ |
| ४३ | तस्यैव लक्षणस्य पञ्चभेदोपदर्शनम् | २४ | | ॥ तृतीयवाक्यस्य विषयोपक्रमः ॥ | |
| ४४ ४६ | स्त्राध्याय १ करण २ विनय ३ अन्- | | ७८-७९ | सप्तधा भावसाधुलिङ्गनामानि | ३८ |
| | भिनिवेश ४ रुचि ५ रूपगुणपञ्चकस्य | | ८० | सकलमार्गानुसारिणीक्रियेति प्रथमलिङ्गस्वरूपम् | ३८ |

| गाथा | विषय | पत्राङ्क | गाथा | विषय | पत्राङ्क |
|---------|---|----------|---------|--|----------|
| ८१-८१ | सविप्रगीताधांचरितोपदर्शनादि | ३९ | १०६ | गुर्वाञ्जाराधनमिति सप्तमलिङ्गरूपम् | ५१ |
| ८२-८२ | सुखशीलदात्रीणाम्याप्रमाणम् | ४० | १०७ | गुरुकुलवानादि | ५२ |
| ८३ | द्विविधमात्मनुसरणो भाववतिर्ये प्रथमलिङ्गनिगमन च | ४१ | ११८ | गुरुकुलबाग्यागिनो दोष | ५२ |
| ९० | धृदा प्रयागं मे इति ममेदद्वितीयलिङ्गोपदर्शनम् | ४१ | | तदुपरि शवरसविधानकम् | ५२ |
| ९१ | त्रिविधमेवेति प्रथममेदम्बरूपम् | ४१ | १२९ | गुर्वाज्ञाकारिण प्रसशा | ५२ |
| ९२-९३ | तदुपरि दृष्टान्तदाष्टान्तिरयोनना | ४१ | १३० | गुणवान गुरु सेवनीय इत्यादि | ५३ |
| ९४ | सत्त्वितिरिति द्वितीयमेदम्बरूपम् | ४२ | १३१-१३२ | सप्रमादिमूलगुणयुक्तगुर्वरयाज्यत्वादि | ५३ |
| ९५-१०३ | शुद्धदेवनेति तृतीयमेदम्बरूपम् | ४२ | | तदुपरि शैलकरार्त्तिकथानकम् | ५३ |
| १०४ | स्वल्पितरिगुद्विरिति चतुर्थमेदम्बरूपम् | ४५ | १३३ | गुरुवहुमानेन गुणोपदर्शनम् | ५४ |
| १०५ | द्वितीयलिङ्गोपसहारेण प्रजापतीयमिति | | १३४ | एतद्विषयये दोषोद्भावनम् | ५६ |
| | तृतीयलिङ्गसंज्ञानम् | ४५ | १३५ | प्रमादिनश्चारित्रस्थापने चतुश्चाकुशीलादिस्वरूपम् | ५६ |
| १०६-१०९ | प्रजापतीयमिति तृतीयलिङ्गस्वरूपम् | ४५ | १३६ | एतदुपदेशफलम् | ५६ |
| ११०-११८ | क्रियासंप्रनाद इति चतुर्थलिङ्गस्वरूपम् | ४६ | १३७ | गुर्वेवज्ञाकारिणोऽनर्थदर्शनम् | ५७ |
| ११९-१२७ | शक्यानुष्ठानारम्भ इति पञ्चमलिङ्गस्वरूपम् | ४८ | १३८ | गुणाधिकशिष्येण गुर्वेवज्ञावर्जनम् | ५७ |
| | तदुपरि आर्यमहागिरिदृष्टान्तम् | ४८ | १३९ | भावमाधुलिङ्गोपसहारेण तत्फलोदर्शनम् | ५७ |
| ११८ | विशेषत शक्यानुष्ठानपरिभाषना | ४९ | १४० | एकचिदानिगुणसमेत धादमाधुधर्मग्रहणयोग्य | ५७ |
| ११९ | अपरवारम्भानि | ४९ | १४१ | पूर्वाचार्यप्रशसा | ५७ |
| | तदुपरि गिरान्तिचरितम् | ४९ | १४२-१४३ | प्रकृतप्रकरणार्थानुवादपूर्वकप्रयोजनोपसहारादि | ५८ |
| १२० | गुणानुराग इति षष्ठलिङ्गस्वरूपम् | ५० | १४४ | शास्त्रार्थपरिज्ञानस्यानन्तरफलोपदर्शनम् | ५८ |
| १२१-१२२ | गुणानुरागस्य लिङ्गानि | ५० | १४५ | एतस्यैव परपरफलप्रदर्शनम् | ५८ |
| १२३-१२४ | प्रकाशान्तेण गुणानुरागस्य लक्षणानि | ५१ | | ग्रन्थसमाप्ति | ५८ |
| १२५ | गुणानुरागस्य फलोपदर्शनम् | ५१ | | प्रकरणवृत्तिकारप्रशस्ति. | ५८ |



धर्मरत्नप्रकरणम् ।

सिद्धं सर्वज्ञमानम्य वक्ष्ये संक्षेपतः स्फुटाम् । विवृत्तिं धर्मरत्नस्य मन्दबुद्धिप्रबुद्धये ॥ १ ॥

इह हि हेयोपादेयादिपदार्थपरिज्ञानशालिना विज्ञातासारसंसारपारपारावारपतितजन्तुसन्तानानवरतदुःखसन्तापेन जन्मजरामरणरोगशोकादिदुःखदौर्गत्यातिपीडितेन भव्यजन्तुना स्वर्गापवर्गादिसुखश्रीसंपादनावन्धनिवन्धनं जिनधर्ममहारत्नमुपादानमुचितम् । तदुपादानोपायश्च गुरुरूपदेशमन्तरेण नावबुध्यते । न चानुपायप्रवृत्तानामभीष्टसिद्धिः । इत्यतः कारुण्यपुण्यचेतस्तया धर्मार्थिनां धर्मापादानपालनोपदेशं दातुकामः प्रकरणकारः शिष्टमार्गानुगामितया पूर्वं तावदिष्टदेवतानमस्कारादिप्रतिपादनाय गाथामाह—

नमिऊण सयलगुणरयणकुलहरं विमलकेवलं वीरं । धम्मरयणत्थिआणं जणाण वियरेमि उवएसं ॥१॥

इह पूर्वोद्धेनेष्टदेवतानमस्कारद्वारेण विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलमुक्तमुत्तरार्द्धेन चाभिधेयमिति । संबन्धप्रयोजने च सामर्थ्यगम्ये । तथा हि—संबन्धस्तावदुपायोपेयलक्षणः, साध्यसाधनलक्षणो वा । तत्र प्रकरणमुपायः साधनं वा । साध्यमुपेयं वा, प्रकरणार्थपरिज्ञानमिति । प्रयोजनं पुनः द्विविधम्, कर्तुः श्रोतुश्च । पुनरनन्तरपरम्परभेदादेकैकं द्विधा । तत्रानन्तरं कर्तुः सत्त्वानुग्रहः, श्रोतुः प्रकरणार्थपरिज्ञानम् । परम्परमुभयोरप्यपवर्गप्राप्तिरिति । साप्रतं व्याख्या विधीयते । तत्र चायं विधिः—“संहिता च पदं चैव पदार्थं पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्नस्य षड्विधा ॥१॥” तत्रास्खलितादिगुणोपेतसूत्रोच्चारणं संहिता, सा च व्यक्तैव । पदानि संस्कृतभाषया । नत्वा सकलगुणरत्नकुलगृहं विमलकेवलं वीर धर्मरत्नार्थिना जनाना वितरामि उपदेशमिति । पदार्थस्तु ‘नत्वा’ प्रणम्य सकलानि समस्तानि यानि रत्नानि तेषां कुलगृहमुत्पत्तिस्थानम् । यो भगवान् वीरस्तम् । इह यद्यपि गुणा वस्तुधर्मा शुभाशुभस्वरूपा अप्यभिधीयन्ते; तथापि शुभा एव प्रत्येतव्या, इतरेषां रत्नत्वानुपपत्तेः । तथा हि—“जातौ जातौ यदुत्कृष्टं रत्नं निगद्यते हि तत् । इत्येवं सुधियः प्राहुर्निर्विसंवाटमुत्तमाः ॥ १ ॥” विमलं ज्ञानावारककर्माणुमपर्कविकलम्, केवलं केवलज्ञानं यस्य तम् । कर्मविदारणात्तपसा विराजनाद्द्वैवीर्ययुक्तत्वाच्च जगति यो वीर इति ख्यातस्तम् । यतोऽवाचि—“विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥” तथा दुर्गतां पततः प्राणिनो धारयतीति धर्मः । उक्तं च—“पततो दुर्गतां यस्मात्सम्यगाचरितो भवात् । प्राणिनो धारयत्येव तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥” स एवाशेषानर्थविघातहेतुत्वात् कल्याणकटापकरणत्वाच्च रत्नम्, तदर्थयन्ति मृगयन्ते ये ते धर्मरत्नार्थिनस्तेभ्यः ‘जनेभ्यः’ लोकेभ्यो ‘वितरामि’ प्रयच्छामि । उपदिश्यत इत्युपदेशो हितप्रवृत्तिहेतुवचनप्रपञ्चत्वमिति । वीरं वर्त्तमानतीर्थाधिनायं नत्वा धर्मार्थिजनेभ्य उपदेशं वितरामीति पदघटना । भावार्थः पुनरयम्—नत्वेति पूर्वकालाभिधायिनाऽऽक्षिप्तोत्तरकालक्रियेण स्याद्वादशार्दूलनादसंवादिना पदेनैकान्तनित्यक्षणिकवस्तुवादिमृगयोर्मुखवन्धो व्यधायि । तस्मान्नैकान्तनित्यः क्षणिको वा कर्त्ता क्रियाद्वय कर्तुमीशो भवति, क्रियाभेदे कर्त्तृभेदात् । ततो द्वितीयक्रियाक्षणे कर्तुरनित्यत्वाभावप्रसङ्गाभ्यां द्वयोरप्यपाकृतिरिति । तथा सकलगुणरत्नकुलगृहमित्यनेन भगवतः समस्तसुरासुरमनुजनायकेषु प्राधान्यमभ्यधायि । तेषां कस्यापि केनापि गुणेन विकलतया सकलशब्दप्रवृत्तेरयोगात् । तथा विमलकेवलमित्यनेन भगवतो ज्ञानातिशयसंपन्नतया तथार्थवाटित्वमुक्तम् । तदन्तरेण सूक्ष्मवादरमूर्त्तामूर्त्तादिभावाना याथातथ्येन वक्तुमशक्यत्वात् । तथा धर्मरत्नार्थिभ्य इत्यनेन श्रवणाधिकाग्निसामर्थ्यमेव मुख्यं लिङ्गमित्यवाचि । तथा चाहुर्वृद्धाः—‘तत्थहिगारी अत्थी समत्थओ जो न सुत्तपडिकुट्टो । अत्थी तु जो विणीओ समुवट्टिओ पुच्छमाणो य ॥ १ ॥’ जनानामित्यनेन बहुवचनान्तेनैतदुद्धितम् । नैकमेवेश्वरादिकमाश्रित्योपदेशदाने प्रवर्त्तितव्यमपि तु सामान्येन सर्वसाधारणतया जिनागमानुसारेण । स चायम्—“जहा पुन्नस्स कत्थई तथा तुच्छस्स कत्थई । जहा तुच्छस्स कत्थई तथा पुन्नस्स कत्थई ॥ १ ॥” वितराम्युपदेशमितीहैतदाकृतम्—न प्रज्ञागर्वेण, न पराभिभवेच्छया, नापि कस्यचिदुपाजनाय प्रवर्त्तते । किं तर्हि ? कथं नु नामामी प्राणिनः सद्धर्ममार्गमासाद्य साद्यपर्यवसितं शिवशर्माऽवाप्स्यतीत्यनुग्रहबुद्ध्या परेषामात्मनश्च । यतोऽभाणि पूर्वाचार्यैः—“शुद्धमार्गोपदेशेन यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति नितरां तेन कृतः स्वस्याप्यमौ महान् ॥ १ ॥” किं च—“न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततोऽहितश्रवणात् । ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्यैकान्ततो भवति ॥ २ ॥” इत्युक्तः सभावार्थः पदार्थः । पदविग्रहस्तु समासादिकपदेषु प्रदर्शित एवेति न पृथगुच्यते । अथ चालना—ननु सकलगुणरत्नकुलगृहमित्युक्ते विमल-

केवलमित्यपार्थक्यम्, केवलज्ञानस्यापि गुणत्वात्; सकलशब्दस्य च सर्वसङ्गहार्थत्वादित्यत्रोच्यते—सर्वगुणेषु प्राधान्यो-
पदर्शनार्थमस्य पृथगुपन्यासः सत्यस्मिन्नवश्यं परमपदप्राप्तेर्दृश्यते चाय न्यायो लोकेऽपि यथा—‘ब्राह्मणा आयाताः व-
शिष्ठोऽध्यायातः’ इत्यादौ। इति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ यथाप्रतिज्ञातं विभणिषुः प्रस्तावनामाह—

भवजलहिम्नि अपारे दुलहं मणुयत्तणं पि जंतूणं । तत्थवि अणत्थहरणं दुलहं सद्धम्मवररणं ॥ २ ॥

भवन्त्यस्मिन्नारकतिर्यङ्गरामरूपेण प्राणिन इति भवः ससारः, स एव जन्मजरामरणजलधाग्णाज्जलधिः, तस्मिन्न-
नादिनिधनतया “अपारे” पर्यन्तविकले वस्त्रम्यमाणानामिति शेषः । ‘दुलभं’ वुरापं ‘मनुजत्वमपि’ मनुष्यभावोऽपि
दूरे तावद्देशकुलारोग्यादिसामग्रीत्यपरर्थः । यतोऽवाचि भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽष्टापदादागतं गौतममहामुनिं प्रति—
“दुलहे खलु माणुसे भवे चिरकालेणवि सद्यपाणिणं । गाढा य विवागकम्पुणो समयं गोयम । मा पमायए ॥” ‘जन्तूनां’
प्राणिना ‘तस्मिन्’ मनुजत्वे सत्यपि ‘अनर्थहरणम्’ इति नार्धन्ते न काम्यन्ते ये दारिद्र्यक्षुद्रोपद्रवादयोऽपायास्ते हियन्ते येन
तदनर्थहरणम् । ‘दुलभं’ दुर्गपं वर्त्तते किं तत्? इत्याह—संश्र्वासौ धर्मश्च सद्धर्मः सम्यग्दर्शनादिरूपः । स एव वरं प्रधानं
रत्नमिवाशेषापायनाशित्वात्तदिति । उक्तं च—“मानुष्यकर्मभूम्यार्थदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ । श्रद्धा कथकश्रवणेषु स-
त्स्यपि सुदुर्लभा बोधिः १ ।” इति गाथार्थः ॥ २ ॥

१ ‘सुदुर्लभो’ इत्यपि ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तविशिष्टं स्पष्टतरमाह—

जह चिंतामणिरयणं सुलहं न हु होइ तुच्छविहवाणं । गुणविभववज्जियाणं जियाण तह धम्मरयणं पि ॥३॥

‘यथा’ इति दृष्टान्तोपन्यासार्थः । येन प्रकारेण ‘चिन्तामणिरत्नं’ प्रतीतं ‘सुलभं’ सुप्रापं ‘न हु’ नैव ‘भवति’ स्यात्
‘तुच्छविभवानां’ अल्पधनानां, तन्मूल्योचितविभवाभावादिति भावः । गुणा वक्ष्यमाणस्वरूपाः, तेषां विशेषेण भवनं
सत्ता गुणविभवः । अथवा गुणा एव विभवो भूतिगुणविभवः, तेन वर्जितानां रहितानां ‘जियाणं’ इति प्राकृतशैल्या
ह्रस्वं, तवकारलोपौ (?) । ‘जीवानां’ पञ्चेन्द्रियप्राणिनाम् । उक्तं च—‘प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ता भूतानि तरवः स्मृताः ।
जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥ १ ॥’ अपिशब्दस्य वक्ष्यमाणस्यैव संबन्धादेवं भावना कार्या—वि-
कलेन्द्रियाणां तावद्धर्मप्राप्तिर्नास्त्येव पञ्चेन्द्रियाणामपि योग्यताहेतुगुणसामग्रीविकलानाम् । ‘तथा’ तेन प्रकारेण ‘धर्म-
रत्नम्’ सुलभं न भवतीति प्रकृतेन संबन्धः । इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

कति गुणसंपन्नः पुनस्तत्प्राप्तियोग्यः ? इति प्रश्नमाशङ्क्याह—

इग्वीसगुणसमेओ जोगो एयस्स जिणमए भणिओ । तदुवज्जणंमि पढमं ता जइयवं जओ भणियं ॥४॥

एकविंशतिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणैः समेतो युक्तः, वाचनान्तरेण समृद्धः संपूर्णः समिद्धो वा दीप्यमानो ‘योग्यः’ उचितः ।
‘एतः’ प्रस्तुतधर्मरत्नस्य ‘जिनमते’ अर्हच्छासने ‘भणितः’ प्रतिपादितस्तदभिज्ञैरिति गम्यते । ततः किम् ? इत्याह—‘त-

१ ‘पञ्चेन्द्रियाणा प्राणिनाम्’ इत्यसमस्त कचिन् । २ ‘जुगो’ इत्यपि ॥

दुवज्जणंमि’ इति तेषां गुणानामुपार्जने विदपने ‘प्रथमं’ आदौ ‘तस्मात्’ ततो हेतोः ‘यत्तितव्यं’ उद्यन्तव्यमिदमिहाकूतम्—
यथा प्रासादार्थिनः शल्योद्धारपीठवन्धादावाद्रियन्ते तदविनाभावित्वाद्द्विशिष्टप्रासादस्य । तथा धर्मार्थिभिरिते गुणाः सम्यगु-
पार्जनीयाः, तदधीनत्वाद्द्विशिष्टधर्मसिद्धिरिति । ‘यतो’ यस्मात् ‘भणितं’ अभिहितं पूर्वाचार्यैरित्यध्याहारः ॥ इति गाथार्थः ॥४॥

भणितमेवाह—

धम्मरयणस्स जोगो अक्खुहो रूववं पैयइसोमो । लोमंण्णिओ अकूरो भीरू अंसहो सुदक्खिन्नो ॥ ५ ॥

लज्जालुओ देयाल्लू मैज्जत्थोसोमदिट्ठि गुणंरागी । सैक्कह सुंपक्खजुतो सुंदीहदरिसी विसैसैन्न ॥ ६ ॥

बुद्धाणुगो विणीओ कंयन्नुओ परंहियत्थकारी य । तह चैव लद्धलक्खो इग्वीसगुणेहि संपन्नो ॥७॥

अस्य गाथात्रितयस्य पूर्वसूरिप्रणीतस्यार्थः—धर्माणां मध्ये यो रत्नमिव वर्त्तते स धर्मरत्नं जिनप्रणीतो देशविरतिसर्व-
विरतिरूपः समाचारः, तस्य ‘योग्य’ उचितो भवतीत्यध्याहारः । ‘एकविंशतिभिर्गुणैः संपन्नः’ इति, इत्युत्तरेण योगः ।
तानेव गुणान् गुणगुणिनोः कथञ्चिदभेद इति दर्शनाय गुणिप्रतिपादनद्वारेणाह—‘अधुद्रो’ भणिष्यमाणस्वरूपः ॥ १ ॥

तथा ‘रूपवान्’ प्रशस्तरूपोपेत । वतोः प्रशंसावाचित्वात् । रूपमात्राभिधाने इत्थेव दृश्यते । यथा ‘रूपिणः पुद्गलः
प्रोक्ताः’ इति ॥ २ ॥ तथा प्रकृत्या स्वभावेन मौम्यः सुन्दरस्वभावः, प्रशान्तचित्तत्वात् ॥ ३ ॥ ‘लोकप्रियः’ सदाचार-
चारित्वात् ॥ ४ ॥ ‘अकूरः’ परदोषेक्षणान्दिकूरत्वाभावात् ॥ ५ ॥ ‘भीरुः’ ऐहिकपारत्रिकापायेभ्यः, त्रसनशीलत्वात् ॥६॥

* ‘जोगो’ ‘जुगो’ इत्यपि । १ “प्रशस्तवाचित्वात्” इत्यपि ॥

‘अज्ञः’ सद्भावसारानुष्ठानत्वात् ॥ ७ ॥ ‘सुदाक्षिण्यः’ अभ्यर्थनासारत्वात् ॥ ८ ॥ ‘लज्जालुः’ प.पवृत्तौ शक्तित्वात् ॥ ९ ॥ ‘दयालुः’ कारुणिकचित्तत्वात् ॥ १० ॥ ‘मञ्जुत्वोसोमदिष्टि’ इति एकमेवेदं पदं, प्राकृत वाद्विभक्तेरलुक् । ततश्च मध्यस्था रागद्वेषविकला सौम्या वाऽकूरा दृष्टिर्दर्शनं यस्य स ‘मध्यस्थसौम्यदृष्टिः’ यथावस्थितवस्तुतत्त्वदर्शित्वात् ॥ ११ ॥ ‘गुणरागी’ गुणेषु बहुमानवान्, लघुकर्मत्वात् ॥ १२ ॥ ‘सत्कथः’ न दुश्चारिचर्याकर्णनकथनरुचिः, सदाचारचारित्वात् ॥ १३ ॥ सुपक्षः शोभनपरिजनः तेन युक्तोऽन्वितो धर्माविरोधिवन्धुपरिवारः, इति भावः ॥ १४ ॥ ‘सुदीर्घदर्शी’ सुपर्यालोचितपरिणामसुन्दरकार्यकारी, बुद्धिसंपन्नत्वात् ॥ १५ ॥ ‘विशेषज्ञः’ सारेतरादिवस्तुवेदी न रागद्वेषमूढत्वपूर्वव्युद्वाहितत्ववशात् प्रतिपन्नकुप्राहैकतानमानस इति ॥ १६ ॥ ‘वृद्धानुगः’ परिणतमतिपुरुषच्छन्दोऽनुवर्त्ती ॥ १७ ॥ ‘विनीतः’ गुरुजने गौरवकृत् ॥ १८ ॥ ‘कृतज्ञः’ स्तोत्रमप्युपकारमैहिकं पारत्रिकं वा न विस्मरति ॥ १९ ॥ तथा परेषामन्येषां हितानर्थान् प्रयोजनानि कर्तुं शीलं यस्य स ‘परहितार्थकारी’ प्रत्युपकारानपेक्ष इति भावः । सुदाक्षिण्यादस्य को विशेषः ? इति चेदुच्यते, सुदाक्षिण्योऽभ्यर्थित एव परोपकारं करोति, अयं पुनः स्वत एव परहितरतिरिति ॥ २० ॥ ‘तह चैव’ इति तथाशब्दः प्रकारार्थः । चः समुच्चये । एवोऽवधारणे । ततश्च यथैते विंशतिस्लथैव तेनैव प्रकारेण लब्धलक्ष्यश्च धर्माधिकारोति पदयोगः । पदार्थस्तु लब्ध इव प्राप्त इव लक्ष्यो लक्षणीयो धर्मानुष्ठानव्यवहारो येन स ‘लब्धलक्ष्यः’ सुशिक्षणीयत्वात् ॥ २१ ॥ एभिरेकविंशतिभिर्गुणैः संपन्नो धर्मरत्नयोग्य इति योजितमेव । इति द्वारगाथान्नितयाक्षरार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

१ “न कुकर्मत्वात्” इत्यपि । २ “धर्मोविवन्धक—” इत्यपि ॥

भावाथे पुन प्रकरणकारः स्वयमेवाह—

खुदोत्ति अगंभीरो उचाणमई न साहए धम्मं । सपरोवयारसत्तो अक्खुदो तेण इह जोग्गो ॥ ८ ॥

इह यद्यपि क्षुद्रशब्दोऽनेकार्थः । तद्यथा—“क्षुद्रस्तुच्छः, क्षुद्रः क्रूरः, क्षुद्रो द्ररिद्रः, क्षुद्रो लघुः” इत्यादि । तथाऽपीह क्षुद्र इत्यगंभीर उच्यते तुच्छ इति कृत्वा । स पुनः ‘उत्तानमतिः’ अनिपुणबुद्धिरिति हेतोः ‘न साधयति’ नाराधयति ‘धर्म’ प्रतीतं, तस्य सूक्ष्ममतिसाध्यत्वात् । उक्तं च—“सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्माधिभिर्नरैः । अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥ गृहित्वा ग्लानमैपज्यप्रदानाभिग्रहं यथा । तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥ गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो ग्लानो जातो न च क्वचित् । अहो ! मेऽधन्यता कष्टं न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत् समादानं ग्लानभावाभिसन्धिमत् । साधूनां तत्त्वतो यत्तद्दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥ ४ ॥” तद्विपरीतः पुनः स्वपरयोरुपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः । ‘अक्षुद्रः’ सूक्ष्मदर्शी सुपर्यालोचितकारी ‘तेन’ प्रकारेण ‘इह’ धर्मग्रहणे ‘योग्यः’ अधिकारी स्यात् । इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ एत्थ उदाहरणम्—

चेइविसयालकारभूयाए सोत्तिमइपुरीए पगईए पावभीरू सरलसच्छहियओ वेयवेउत्ततत्तकुसलो खीरकयंवेो नाम माहणो होत्था । तम्म य समीवे पवयओ नाम पुत्तो, नारयनामो द्वाणंतरागओ, धम्मपुत्तो रायसुयओ य वसू नाम, एए तिन्नि महामइणो अन्नेवि तहाविहाणेण भट्टचट्टाइणो पढंति । कयाइ तस्स गेहे गोयरमडंतो साहुसंधाडगो पविट्ठो । ते

१ “प्रकारणेन” इत्यपि । २ “वेयवेयन्त—” इत्यपि ॥

तिन्निवि च्छत्ते पेच्छिऊणमेगण साइसएण वीयसाहुस्स सिट्ठ । एएसिं तिण्हं दारयाणं दो अहोगामिणो एगो उहुगामी भविस्सइ । सुयमेयं कडंतरिएण खीरकयंवेण चित्तियं च—एए महाभागा वीयरामग्गाणुगामिणो नज्जाह जंपंति । संभवइ य रायपुत्तसाहोगामित्तं । इयरोसिं पुण कोहम्मकम्मकारी संभावियइ ता परिच्छामि ताव दोवि एए । तओ तहजुत्तमणुचिद्धिस्स । पठ्यते च स्मृत्तिपु—“भर्तुर्भार्याकृतं पाप शिष्यपापं गुरोर्भवेत् । राज्ञि राष्ट्रकृतं पापं राजपापं पुरोहिते ॥ १॥” एवं चित्तिऊण कसिणचउद्दमिनिसाए कित्तिमच्छगलगो लक्खारसपडिहत्थो समप्पिओ नारयस्स, भणियं च—एस मए मंतेहिं मूढचेयणो विहिओ तहावि जत्थ न कोइ पासइ तत्थ गंतूण एयं हणाहि, न य अन्नस्स साहियवं, जओ एत्थ एस कप्पोत्ति । नारओवि अलंवीययणो गुरत्ति भावितो पत्तो एगं सुन्नरच्छं । किमेत्थ कोइ पेच्छइत्ति निउणं निरुवियं तेण दिट्ठमुवरिं तारामंडल, अरे ! वीमामि एत्थत्ति मग्गो पविट्ठो जक्खमंदिंरं । एत्थवि जक्खो पासइत्ति गओ सुन्नगेहं । तत्थवि पंच लोगपाला दिवनाणिणो य निहालिति । नयि एए कत्थइ न पेच्छंति । ता नूण न हंतवो एसोत्ति गुरुआएसो कारणिओ य गुरु न एसिं करेइत्ति निच्छिऊण पढट्ठमुहपंकओ गओ गुरुसमीवं । निवेइयं नियचरियं । तओ उवज्झाएण चित्तियं । एस ताव सुहुमबुद्धी न दोगइं पंडणेइ । ता किं मम पुत्तो कुगइं गमिस्सइ ? अहवा तपि परिच्छामित्ति निच्छिऊण तेणेव विहिणा पेसिओ पवयओ । गओ सुन्नरच्छाए । एत्थ न कोइ पासइत्ति तं वावाइऊण समागओ गिहं । जणणि हत्थपायसोयं मग्गइ । उवज्झाएण वुत्तं किं रे ! एयंति ? । तेण पडिबुत्तं पउरो से रुहिरसंचओ

१ “राज्ञ पाप” इत्यपि । २ “पाउपेइ” इत्यपि । ३ “वुत्तो” इत्यपि ॥

आसि तेण मे अंगं विलिच्छन्ति । उवज्झाएण भणियं कहिं तुमे वावाइओ ? कहं वा न केण य दिट्ठोसि ? । तेण भणियं सुअरञ्जा-
ए अंधयारं बहुलयाए निस्सं चरंताओ लोगस्स न केण य दिट्ठोमिह । उवज्झाएण वुत्तं कहं न दिट्ठोसि उवरिं नखत्तेहिं, पंचहिं
लोगपालेहिं, दिव्वनाणीहिं, अप्पणो य पंचहिं इदिएहिं ? । तेण भणियं न अम्हे एत्तियं बुज्झामो, तो ख्वाइं कीस पेसि-
ओमिह ? । तओ उवज्झाओ अहो ! चिरणुक्कंपो एस न पावकम्मे पवत्तमाणो संकइ, ता नूणं नरयगामी भविस्सइ । अह
कहं पुणाहमेयाओ पावोवलेवाओ मुच्चिस्सन्ति चिंतावरो कह कह किच्छेणवि गमिज्जण रयणिं पहायसमए ते चैव मु-
णिणो गवेसंतो पत्तो उज्जाणं । तत्थ मुणिणो दट्ठूण वंदिज्जण पुच्छिउं पवत्तो । भयवं ! गिहकुडुंवे जइ किंपि माणुसं
दुन्नए पवत्तइ, ता घरसामी वज्झइ वा न वा ? । साहूहिं भन्नइ जइ कोइ तणपूलं जलणपलित्तं करेण धरेइ ता किं उ-
ज्झइ वा न वा ? । विप्पेण भणियं उज्झइ । एवं गिहनाहोवि वज्झइत्ति । एवं मुणिवयणमायन्निज्जण वुत्तं विप्पेण भयवं !
कहं पुण सो मुच्चइ ? । साहुणा भणियं उज्झमाणपूलगपरिच्चाइं पुरिसो जहा न उज्झइ, एवं पावगारिणं मणुसं सुयंतो
गिहनाहोवि मुच्चइ । एवमायन्निज्जण संवेगभाविओ तेसिमेव मुणीण समीचे पवइओ खीरकयंओ सुगइसाहगो य संबुत्तो ।
तओ भग्गा लेहसाला । गओ सट्ठाणं नारओ । गहियमुवज्झायपयं पवएण । पत्तो रायपयं वसू । पाविओ पसिद्धिं ।
नवरं पारद्विलंपडोत्ति दिणे दिणे पारद्विं करेइ । तेण कयाइ वणंतरे सुविसत्थं मयज्झमवलोइज्जण एगागिणा निहुयप-
यसंचारं मुक्को तं पइ सिलीमुहो । सोवि कहंवि पच्चप्फिडिज्जण गओ खंडाखंडिं । तओ सुविमिहएण पलोयंतेण करफासेण

१ “बहुलाए” इत्यपि । २ “भाखइ” इत्यपि । “एव” ३ कचिन्नास्ति । ४ “माणुस” इत्यपि । ५ “एय”- इत्यपि ॥

लक्खिया नहयलनिव्विसेसवन्ना फलिहसिला । तओ रयणीए पच्छन्नमाणिज्जण द्वाविया अत्थाणमंडवे । निवेसियं तदु-
वरिं सिंहासणं । जाओ जणप्पवाओ राइणो सच्चवाइत्तेण सिंहासणमागासे चिट्ठइत्ति विन्नायवुत्तंतो कोउगेण समा-
गओ नारओ । बहुमन्निओ पवएण जणणीए राइणा य । नेहवसेण तत्थेव सुहमच्छिउं पवत्तो । अन्यदा पर्वतकेन
छान्नेभ्यः—“अजैर्येष्टव्यम्” इति वेदवाक्यं व्याचक्षे । तद्यथा—अजैर्येष्टव्यं यागक्रिया विधातव्येति । ततो ना-
रदेनोचे—“आतः ! नैवं व्याख्यायते, यतो धर्माय यागक्रिया विधीयमाना न छगलकैर्विधातुमुचिता” इति । इतर उ-
वाच—“कथय तर्हि कथं व्याख्यायते ?” नारदोऽवोचत्—“उपाध्यायेनाजाः सप्तवार्षिका ब्रीहयोऽल्पवीजत्वाद्ब्रह्म व्याख्या-
तास्तदुक्तमेवास्माकं प्रमाणम्” इति । तओ पवओ उच्चाणमइत्तेण तमसंभरंतो छत्ताण मज्झे लहुगो भविस्सामित्ति महा-
भिमाणओ भणिउमादत्तो । अरे ! ममाओवि तुमं पंडिओसि ? उवज्झाएण तुह तत्तमाइक्खियं ? । किंच जो एत्थ अलि-
यवाइ तस्स जीहाच्छेओ दंडो । एत्थ सच्चवाइं राया पमाणं । नारएण भणियमेवं होउ । विन्नायवुत्तंताए भणिओ जण-
णीए पवओ य । पुत्त ! नेहवसेण नारओ तुह समीवमागओ ता तेण समं न कलहिज्जइ । सो भणइ अंव ! न कलहेमि
किं तु छत्तमंडलीए मज्झे एतो मम वक्खाणं दुसेइ । केरिसन्ति साहिओ संबन्धो । जणणीए भणियं वच्छ ! मम स-
मक्खं चैव तुह जणएणावि एवं वक्खायं ता को दोसो नारयस्स ? । इयरो आह अंव ! जइ एवं ता गया मे जीहा,
जओ रायाऽपि सच्चवाइत्ति एवं चैव भणिही । तओ सा पुत्तनेहमोहिया पुषपडिवन्नवरं पत्थिउं पत्ता रायसमीवं । तेणावि

१ “छत्तमंडलीमज्झे” इत्यपि ॥

अब्भुट्टिज्जण पणामपुवं पुच्छियमागमणपओयणं । तीएवि वुत्तमेगंते । पुत्त ! जइ सरसि पुषपडिवन्नं वरं जाएमि । तओ
सुद्धु सरामि अंव ! करेहिमे रिणमोक्खं, वरेहि जं भे रोयइत्ति निवेण वुत्ते साहिज्जण वइयरं जंपियमिमीए । सब्बा रक्खेहि
भाउणो जीहंति । तओ एवंति पवुत्ते राइणा गया एसा सट्ठाणं । धीरविओ पवयओ । दुइयदिणे सहरिसा चाऊवन्न-
पहाणपरिवुडा पत्ता रायसहं । कहिज्जण वइयरं भणिओ राया पहाणलोगेण । देव ! तुमं छट्ठो लोगपालो सच्चवाइत्त-
गुणेण गयणंगणगओ चिट्ठसि । गुरुभाया दोण्हंपि एएसि ता जमलजलणओ व तुलचित्तो ता जहद्वियमेयं पयं पन्नवेहि ।
किंच—“अग्निस्तम्भं विधत्ते तुलयति हि धृटे शुद्धिमेत्यम्बुपाने रक्षःसिहाहिभूतप्रवलरिपुकृतं साध्वसं संरुणज्जि । मान्यः
स्यात् सर्वलोके भवति सुगतिभाक् प्रेत्य सौभाग्ययुक्तः कल्याणं सत्यवादी किमिति न लभते ? तद्विभो ! ब्रूहि सत्यम् ॥ १॥”
एवं भणिएवि राइणा भवियवयवसेणं भणियं । जमेस ओज्झायपुत्तो कहेइ तं चैय सच्चन्ति भणियाणंतरमेव कुवियाए भ-
वणदेवयाए ओमंथिज्जण सत्तिलासीहासणोच्छूढो धरणीए वसू गओ य नरयपुढवीए । अहो ! कूडसक्खेज्जमणेण राया का-
रिओत्ति खिसिओ पवयओ लोएण निज्जाडिओ नयरीओ । सच्चवाइत्ति पूयओ नारओ । पत्तो नियट्ठाणं । कहाणगसेसं
गंथंतराओ नेयं । एत्थ नारएण सुहुमवुद्धिणा छगलो न वहिओ । इतरेण खुहुवुद्धिणा वहिओ । अओ चैव नारओ
सपरोवयारी संबुत्तो । इयरो पुण सपराणत्थहेउत्ति उवणओ ॥

अथ रूपवन्तं स्वरूपतः फलतश्च निरूपयन्नाह—

१ “सब्बाहारक्खेहि” “सब्बाहार रक्खेहि” इत्यपि ॥

संपुङ्गोवंगो पंचिदियसुंदरो सुसंघयणो । होइ पभावणहेज खमो य तह रूववं धम्मे ॥ ९ ॥

संपूर्णान्यन्यूनान्यङ्गानि शिरःप्रभृतीन्युपाङ्गानि चाङ्गुल्यादीनि यस्य स 'संपूर्णाङ्गोपाङ्गः' । उक्तं च—“सीसमुरो-
यरपिद्री दो बाइ ऊरुगा य अङ्गा । अङ्गुलिमाइउवंगा अङ्गोवंगाणि मेसाणि ॥ १ ॥” स पुनरव्यङ्गिताङ्ग इति हृदयम् ।
तथा 'पञ्चेन्द्रियसुन्दरः' प्राकृतत्वाद्विशेषणस्य परनिपातः । काणकेकरवधिरमूकत्वादिविकल इत्यर्थः । 'सुसंघयणो' इति
शोभनं संहननं शरीरसामर्थ्यं यस्य । न पुनराद्यमेव संहननान्तरेऽपि धर्मप्राप्तेः । “सर्वेषुवि संठाणेषु लहइ एमेव सव्वसं-
घयणे” इति वचनात् । स सुसंहननस्तपःसंयमानुष्ठानसामर्थ्योपेत इति भावः । एवंविधस्य धर्मप्रतिपत्तौ फलमाह—“भ-
वति' संपद्यते 'प्रभावनाहेतुः' तीर्थोन्नतिकारणं, वैरस्वामिवत् । तथा हि—“रूवाइसयसमगो वइररिसी जत्थ जत्थ संच-
रइ । पावइ तहिं तहिं चिच जिणधम्मो उन्नइ परमं ॥ १ ॥ जम्मंतरकयसुक्या रागेण मुणिंमि वइरसामिम्मि । पत्ता
गिहवइधूया चरणं हरणं दुहसयाणं ॥ २ ॥ ” आगमेऽप्युक्तम्—“धम्मोदएण रूवं करेति रूवंसिणोवि जइ धम्मं । गव्भ-
वओ य सुरूवो पसंसिमो तेण रूवंति ॥ १ ॥ ” ननु नन्दिपेणहरिकेशवलादीनां कुरूपाणामपि धर्मसिद्धिः श्रूयते, अतः
कथं रूपवानेव धर्मेऽधिक्रियते ? इति, सत्यम्, इह द्विधा रूपं सामान्यं अतिशायि च । सामान्यं संपूर्णाङ्गत्वादि, तन्न-
न्दिपेणादीनामासीदेवेति न विरोधः । प्रायिकं चैतच्छेषगुणसद्भावे कुरूपत्वस्य गुणान्तराभावस्य चादुष्टत्वादत एव व-
क्ष्यति—“पायद्धगुणविहीणा एएसिं मज्झिमा वरा नेया” इत्यादि । अतिशायिरूपं पुनर्यद्यपि तीर्थङ्करादीनामेव संभवति,
तथाऽपि येन प्राणी क्वचिद्देशे काले वयसि वा वर्त्तमानो रूपवानयमिति प्रत्ययं जनानां जनयति तदेवेहाधिकृतं मन्तव्य-
म् । तदन्वितो हि धार्मिकः सदाचारप्रवृत्त्या भव्यजन्तूनां धर्मे गौरवमुत्पादयन् प्रभावयति धर्ममिति कृत्वा भवति प्र-
भावनाहेतुरित्युक्तम् । तथा 'क्षमः' समर्पः, चकारो भवति क्रियानुकर्षणार्थः । तथाशब्दः सप्रुच्ये । न केवलप्रभावनाहेतुः,
क्षमश्च भवति रूपवान् 'धर्मे' धर्मविषये । सुसंहननत्वफलमिदम् । इति गार्थार्थः ॥ ९ ॥ अत्रोदाहरणम्—

विह्वावियसव्वजणा रूवाइगुणेहि चंदणा अज्जा । भेत्तूण कम्मगंठिं वीरस्स पवत्तिणी जाया ॥ १ ॥

सुप्रतीतं चैतदिति न लिख्यते ॥ अथ तृतीयं गुणमधिकृत्याह—

पयईरोमसहावो न पावकम्मे पवत्तई पायं । हवइ सुहसेवणिज्जो पसमनिमित्तं परेसिंपि ॥ १० ॥

'प्रकृत्या' अकृत्रिमभावेन, 'सौम्यस्वभावः' अभीषणाकृतिर्विश्वसनीयरूप इत्यर्थः । 'न' नैव, पापे कर्मण्याक्रोशवधादौ
हिंसाचौर्यादौ वा 'प्रवर्त्तते' व्याप्रियते 'प्रायः' बाहुल्येनानिर्वाहादिकारणभृते । अत एव भवति 'सुखसेवनीयः' अक्लेशा-
राध्यः, 'प्रशमनिमित्तम्' उपशमकारणं च । अपिशब्दस्य समुच्चयार्थस्येह योगात् 'परेपाम्' अन्येषामनीहशानामङ्गर्षिव-
दिति ॥ श्रूयते चागमे—

किल चम्पायां पुरि कौशिकार्यनाम्न उपाध्यायस्याङ्गर्षिरुद्रकाभिधानौ छात्रावभूताम् । तयोराद्यः सौम्यमूर्त्तिः, प्रियं-
वदः, सङ्घायचारी, विनीतविनयो न कस्यापि वञ्चको विशेषतः उपाध्यायस्य । द्वितीयः पुनः विपरीतशीलस्तमुपाध्याय-
येन श्लाघ्यमानमसहमानो मनस्तापमापन्नस्तच्छिद्रालोकनव्याकुलमनास्तस्यौ । तावन्यदोपाध्यायेन प्रातरेवेन्धनानयनाय
नियुक्तौ । ततोऽङ्गर्षिरुपाध्यायाज्ञा सवहुमानमादायारण्यमभ्यगात् । इतरस्तु दीर्घसूत्रितया द्यूतदेवकुलिकोत्पेक्षणेक्षण
क्षणिकमना मध्यंदिनं यावत् स्थित्वा स्मृताध्यापकनिदेशश्रलितोऽटवीं प्रति । ददर्श च गृहीतोरुदारुभारमायान्तमङ्ग-
र्षिम् । ततो भीतभीतस्वरितं गच्छन्नेकत्र विजने नद्यवतारे पन्थकाभिधानपुत्राय भक्तं दत्त्वा निवृत्तां वृहत्काष्ठभारावन-
स्रविग्रहां ज्योतिर्यशोऽभिधाना वृद्धयोषितमालोक्य विस्मृतधर्मसंज्ञस्तां निहत्य गृहीततत्काष्ठभारः प्रतिनिवृत्त्य द्रुततरगत्या
मार्गान्तरेणोपाध्यायमुपसृत्योक्तवान् । उपाध्यायोपाध्याय ! शृणु बल्लभतरच्छात्रस्य चेष्टितम् । स हि त्वदाज्ञां तृणाया-
प्यमन्यमानः क्वचित् क्रीडाव्याकुलः स्थित्वा चिराहं यावत् संप्रत्येवाटवीमट्टिटीपुरन्तरा वराकीं पन्थकवत्सपालमातरं दा-
रुभाराक्रान्तमालोक्य कृकाटिकामोटनेन मारयित्वा च गृहीततत्काष्ठभार एष आगच्छति । प्राप्तश्चात्रान्तरेऽङ्गर्षिः । ततो-
ऽतिकुपितेनोपाध्यायेन रे पाप ! तत्र गन्तव्यं यत्र मम दृष्टेरगोचर इत्यादिकठोरवचनमुच्चारयता निर्द्धादितः स्वमन्दि-
रात् । स च प्रकृतिसौम्यतयाऽध्यापकं प्रत्यमत्सरी निर्गत्य नगरान्नातिदूरवृक्षच्छायोपविष्टश्चिन्तयामास । अहो ! मृगा-
ङ्गमण्डलादङ्गारवर्षणमिवासंभावनीयमेतदजनि । यदयमुपाध्यायः प्रियंवदचूडामणिर्मा प्रत्येवं ज्वलज्वलनज्वालायमाना
वाचोऽमुचत् । ततो नूनं भवितव्यमत्र महता ममापराधेन, इत्यात्मानमालोचयति । न च किञ्चिदात्मदुष्कृतमुपलेभे,
तथाऽप्यहो ! धिग् मां गुरुजनोद्वेगकारिणमधन्यम् । धन्यास्ते ये सर्वसत्त्वानां प्रीतिमुत्पादयन्तीत्यादिविशुद्धविशुद्धतरा-
ध्यवसायहेतून् परिभावयन् समुत्पन्नजातिस्मरणः पूर्वभवाभ्यस्तभावनाभावनतः केवलज्ञानश्रियमाससाद् सोऽङ्गर्षिर्महा-
त्मेति । ततस्तन्माहात्म्यरञ्जितैः सन्निहितामरैर्विहितोऽस्य महामहिमा । महता शब्देन चोद्बुष्टं नगरे । भो भो लोकाः !

महापातकिना रुद्रकेणात्मना वत्सपालजननीं निपात्याङ्गर्षिमहर्षेरभ्याख्यानमदायि, ततो नासौ द्रष्टुमालापयितुं वा योग्यः । इत्यादि श्रुत्वा पश्चात्तापानलदन्दह्यमान उपाध्यायो नागरकलोकेन सहागत्य महर्षिं मर्षयाञ्चकार । श्रुत्वा च धर्मं प्रति- बुद्धश्च । रुद्रकोऽपि लोकेन निन्द्यमानोऽवाप्ततीव्रानुतापः परं संवेगमागत्य केवलश्रियमवापेति ॥

तदेवं प्रकृतिसौम्यः प्राणी प्रायेणात्मपरयोरुपकाराय संपद्यते, अतोऽङ्गर्षिवद्धर्माधिकारी स्यादिति ॥ १० ॥

अथ चतुर्थं गुणमधिकृत्याह—

इहपरलोयविरुद्धं न सेव्यं दाणविणयसीलह्यो । लोअपिओ जणाणं जणेइ धम्मंमि बहुमाणं ॥११॥

इहलोकविरुद्धं परलोकविरुद्धं च न सेवते लोकप्रिय इति योगः । तत्रेहलोकविरुद्धं परनिन्दादि । यतोऽवाचि—“स- धस्त चेव निंदा विसैसओ तह य गुणसमिद्धाणं । उजुधम्मकरणहसुणं रीहा जणपूयणिज्जाणं ॥ १ ॥ बहुजणविरुद्धसंगो देसादायारलघणं तह य । उवुणभोगो य तहा दाणाइविपयडमन्ने उ ॥ २ ॥ साहुवसणंमि तोसो सयसामत्थंमि अपडि- यारो य । एमाइयाणि एत्थं लोणविरुद्धाणि नेयाणि ॥ ३ ॥ ” परलोकविरुद्धं खरकर्मादि । तद्यथा—“खरकर्मात्वं राज्यं सीरपत्तित्वं च शुल्कपालत्वम् । विरतिं विनाऽपि सुकृती करोति नैवंप्रकारमयम् ॥ १ ॥ ” उभयलोकविरुद्धं द्यूतादि । तथा हि—“द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापञ्चिं चौर्यं परदारसेवा । एतानि सप्त व्यसनानि लोके पापाधिके पुंसि सदा भवन्ति ॥ १ ॥ इहैव निन्द्यते शिष्टैर्व्यसनासक्तमानसः । मृतस्तु दुर्गतिं याति गतत्राणो नराधमः ॥ २ ॥ ” अय- मभिप्रायः—एतानि कर्माणि लोकवैमुख्यकारणानि परिहरन्नेव शिष्टजनप्रियो भवति । धर्मस्यापि स एवाधिकारीति । तथा दानं त्यागो विनय उचितप्रतिपत्तिः, शीलं सदाचारपरता, एभिराह्वयः परिपूर्णो यः स लोकप्रियो भवति । उक्तं च—“दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् । परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम् ॥ १ ॥ जेण न किञ्चिद्वि कज्जं तस्सव्वि धरमागयस्स जे सुयणा । नूणं पहट्टवयणा नियसीसं आसणं दिंति ॥ २ ॥ परिसुद्धसमायारो पावइ किंत्ति जसं च इह लोए । सबजणवह्लहोवि य सुहगइभागी य परलोए ॥ ३ ॥ ” एतस्य धर्म- प्रतिपत्तौ फलमाह—एवविधो लोकप्रियो ‘जनानाम्’ असम्यग्दृशामपि ‘जनयति’ उत्पादयति ‘धर्मं’ यथावस्थितमुक्तिमार्गं ‘बहुमानम्’ आन्तरप्रीति धर्मप्रतिपत्तिहेतुं बोधिबीजभूतं वा । सुजातवत् । कोऽयं सुजातः ? इति चेदुच्यते—

चम्पायां पुरि मित्रप्रभे राजनि राज्यमनुपालयति सकलश्रेष्ठिश्रेष्ठो धनमित्रनामा श्रेष्ठी बभूव । भार्या चास्य समान- रूपगुणा धनश्रीः । तयोश्च जिनधर्मारानधनसारं त्रिवर्गसाधनसुखमनुभवतोर्वहोः कालात् जन्मान्तरोपार्जितसुकृतसम्बन्धः पुत्रः समुदपादि । तस्य च वर्द्धनकेऽनेकनागरकर्णार्थः शिरस्यक्षतनिक्षेपं कुर्वाणाः पुत्रकः । सुजातो भूया इत्याशिषं प्रददुः । ततः पित्रा ‘सुजातः’ इत्यभिधानमदायि । अथासौ सितपक्षे शशाङ्क इव कृतसकलकलासंग्रहो यौवनश्रियाऽध्यासितः, समानवयोभिरनेकनागरककुमारकैः परिवेष्टितो यथाभिमतं विजहार । कदाचिद्धीतरागमन्दिरेषु विचित्रस्त्रात्रसपर्यावर्य- वादित्रगीतनृत्यादिविनोदमचीकरत् । कदाचिदाचार्यादिसन्निधौ शुद्धतत्त्वावबोधकारिणीं धर्मकथामाकर्णयत् । कदाचि- ष्टेनूपपत्तिसारं सारधर्माचारे विचारमाचरत् । कदाचिन्मनोरथातीतदानानन्दितेन दीनानाथकदम्बकेन क्रियमाणं जिन-

१ “वशीभवन्ति” इत्यपि ॥

शासनवर्णवादमश्रुणोत् । ततश्च तेनैवकुर्वता भूरिभव्यलोको जिनमुनिशुश्रूषापरो व्यधीयत । अन्यदा धर्मघोषमन्त्रि- भार्यायाः पियङ्गुनामिकायाश्चेत्यस्तं मित्रमण्डलेन सह विलसन्तमालोकयन्त्यो हतहृदयाश्चिरं स्थित्वा गृहमागताः । तां वाढ- माक्रोशन्तीमेवमूचुः । स्वामिनि ! दृष्टमद्यास्माभिरपूर्वं किञ्चिदाश्चर्यं, तेन व्यामोहिताभिर्विस्मृतप्रयोजनाभिर्न लक्षितो वेलात्तिक्रमः, अतः क्षमस्वकमपराधमिति । ततश्च सविशेषं पृच्छन्त्यास्तस्यास्ताभिः कथितम् । अस्तीह धनमित्रश्रेष्ठिसुतः सुजातः । नञ् ललितानि वचनानामगोचराणि विलोकितान्येव सुखमुत्पादयन्ति । किं वा जीवितेन, यदि तस्य स्मितसुन्दरं वदनारविदं न विलोक्यते । ततः सा प्रियङ्गुस्तदर्शनकुतूहलिनी स ममाभ्यर्णमार्गं गच्छन् दर्शनीय इति ताः किंकरीरादिदेश । दृष्ट्वा चान्यदा तं वाढमावर्जितहृदया शेषान्तःपुरिकाणां पुरतः कृतसुजातनेपथ्या नेत्रवक्रकरचरणादिक्रियामनुकर्तुमा- रब्धा । दृष्ट्वा च शनैरागतेन कटकव्यवहितेन मन्त्रिणा सुजात सुजातेत्यालापश्रवणाच्च विचिन्तितमनेन । अहो ! विनष्ट- मन्तःपुरम् । महाधूर्त्तश्चार्यं सुजातो गृहमागतोऽवाप्यते । न चाप्राप्तस्य दण्डो विधीयमानः परिणतौ सुखयति, राजादि- जनवह्लभत्वादस्य । इत्यादि पर्यालोच्य कूटलेखं लिलेख । तद्वाहकं चाज्ञातपुरुषं शिक्षयित्वा राजान्तिकं निनाय, राज्ञश्च लेखं दर्शयाचकार । तत्र च किल लिखितमिदम्—‘भोः सुजात ! त्वयोक्तं दशरात्रमध्ये मित्रप्रभं बद्ध्वा तवार्पयिष्यामि तत्किमद्यापि प्रमाद्यसि ? किलानिवारितप्रचारो भवान् राजमन्दिरः’ । इत्यादि लेखार्थमवधार्य राजा कुपितोऽपि न सुजाते संभवतीदमित्याभिधात्र मन्त्रिणं विससर्ज चिन्तितत्रांश्च । यद्यप्ययमेवंविधस्तथाऽपि न प्रकटं दण्डयते । यतो न

१ ‘सा तेन गृहगमन’ इत्यपि ॥

कोऽप्यस्यापराधं श्रद्धते । विरज्यते च लोको मयीत्युपायान्तरमवधार्य राज्यकार्यचिन्तनव्याजेन देशपर्यन्तवर्तिनीमर-
धुरीं नगरीं सुजातं प्रेषयामास । तस्मात्कस्य चन्द्रध्वजसामन्तस्य लेखं च ददौ । 'किलायं वणिक् प्रच्छन्नं व्यापादनीयः'
इति । चन्द्रध्वजोऽपि सुजातरूपमालोक्य चिन्तितवान् नैवंविधमूर्त्तिनानेन विरुद्धमासेव्यते । तत्किमिदं राज्ञाऽऽदिष्ट-
मिति । भवतु वा किञ्चिन्नाहमेनं दुह्यामीत्येकान्ते गत्वा सुजातस्य लेखं दर्शयति स्म, अवादीच्च । यद्यप्येष राजादेशस्त-
थाऽपि नाहमेवं करोमि, किं तु त्वया मदनुकम्पया प्रच्छन्नमासितव्यमित्यभिधायि । परिणायितः चन्द्रयशोभिधानां
किञ्चित्त्वद्गोषरोभाजं निजभगिनीम् । सोऽपि संसारासारतां भावयंस्तथैव तस्थौ । साऽपि राजपुत्री तत्समीपप्रतिपन्न-
श्रावकधर्मा तेनैव रोगेणाभिभूता समाधिना विमुक्तकाया सुरलोकं जगाम । ततः सुजातं परमोपकारिणं प्रणिपत्यैवमवा-
दीत् । वद स्वामिन् ! किमिदानीं भवतः संपादयामि ? सुजातः प्राह—यद्यपेतकलङ्कः पितरौ पश्यामि ततः प्रव्रजामीति
मे मनोरथस्त्वमापूरयेति । ततो देवश्चम्पाया उपरि महती शिलामाधाय नभसि स्थितो राजानमुवाच—यद्भवता कुमन्त्रि-
लिखितकूटलेखविप्रलब्धेनाकृतापराधो धर्मपुरुषशिरोमणिः सुजातो विनाशितस्तस्य दुर्नयस्य फलमिदानीमनुभूयताम् ।
एष नयाम्यद्य भवन्तं सपुत्रकलत्रनगरनागरकं यममन्दिरमिति । ततो राजा पश्चात्तापानलदह्यमानमानसः स्वामिन् !
मा मैवमकारुणिको भूः, समादिश कालोचितमित्यभिधाय प्रणतिपूर्वं देवं प्रसादितवान् । सोऽवोचत्—इदानीमपि तं गुरु-
गौरवपूर्वकं यदि चम्पायां प्रवेशयामि ततोऽस्ति भवता मोक्षो नान्यथेति । राजा प्रत्याह—महाप्रसादो महाप्रसादः क
पुनरिदानीं स प्राप्यते ? देवेनोक्तम्—इहैवोद्याने मया नीतस्तिष्ठति । ततः प्रमोदभरनिर्भरेण राज्ञा महाविभूत्या प्रवे-
शितः । प्रमोदितौ पितरौ । जातो जनानां महानन्दः । प्रभाविता जिनधर्मः । सुजातोऽपि जातवैराग्यप्रकर्षो राजानमनु-
ज्ञाप्य सह पितृभ्यामन्यैश्च भविकलोकैः प्रव्रजितः । सुगतिं स प्राप्तवान् ॥

एवं लोकप्रियो जनानां धर्मबहुमानं जनयति । अन्यैरप्युक्तम्—“युक्तं जनप्रियत्वं शुद्धं तद्धर्मसिद्धिफलदमलम् । धर्मप्र-
शंसनादेर्वाजाधानादिभावेन ॥ १ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

अथ पञ्चमो गुणोऽक्रूरस्तं क्रूरस्वरूपप्रतिपादनद्वारेणाह—

क्रूरो किलिष्टभावो सम्मं धम्मं न साहिउं तरइ । इय सो न एत्थ जागो जोगो पुण होइ अक्रूरो ॥ १२ ॥

‘क्रूरः क्लिष्टभावः’ क्रोधादिदूषितपरिणामः ‘सम्मग्’ अकलङ्कं धर्मं ‘न’ नैव ‘साधयितुं’ आरिधयितुं ‘तरइ’ इति शक्तो-
ति । स हि परच्छिद्रावलोकनल्पटः कल्पमनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि न फलभाग् भवतीति । उक्तं च—“पत्तंपि धम्म-
रणं क्रूरो हारेइ कोहमोहंधो । जह कूलवालनामो समणाभासो गुरुपओसी ॥ १ ॥ तवसुत्तविणयपूया न सङ्किलिद्धस्स
हुंति ताणंति । खमगागमि विणयरया कुंतलदेवी उदाहरणा ॥ २ ॥ ” इति अस्माद्धेतोरसौ नैवात्र शुद्धधर्मयोग्य उचितः ।
पष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदादस्येति दृश्यम् । योग्यः ‘पुनः’ एवकारार्थः । ततो योग्योऽक्रूर एवेति योगः । यतः—“नो परलोगो
न जिणा न धम्ममो गंडपीलसीठं तु । नेत्थदृमियावि तहा एमाइ न मन्नई एसो ॥ १ ॥ ” लघुकर्मत्वात् इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

अथ षष्ठगुणस्वरूपमाह—

१ ‘धमो नो’ इत्यपि । २ ‘तत्थदृि—’ इत्यपि ॥

इहपरलोगावाए संभावेंतो न वट्टई पावे । वीहइ अयसकलंका तो खलु धम्ममारिहो भीरू ॥ १३ ॥

‘इहलोकापायान्’ राजनिग्रहादीन्, ‘परलोकापायान्’ नरकगतिगमनादीन्, ‘संभावयन्’ मनसा सङ्कल्पयन्, ‘न वर्त्तते’
न प्रवर्त्तते ‘पापे’ हिंसाऽनृतादौ । तथा ‘विभेति’ उन्नसति ‘अयसःकलंकात्’ कुलमालिन्यहेतोः, अतोऽपि कारणात् पापे
न प्रवर्त्तत इति योगः । ततः ‘खलुः’ अवधारणे धर्मार्हः एव पापभीरुर्भवतीति । अयमिह भावार्थः—यः पापकर्मचिकी-
र्षाभावे युक्तायुक्तमालोचयति, स धर्मोचित इति । उक्तं च—“अणुरायरहसपरिपिल्लियंमि चलियंमि इंदियग्गामे । ते धन्ना
जाणमई जुत्ताजुत्तं वियारेइ ॥ १ ॥ स हि किल—“वहमारणअब्भक्खाणदाणपरधणविलोयणाईणं । सव्वजहन्नो उदओ
दसगुणिओ एकसिकयाणं ॥ १ ॥ ” इत्यादिपापफलानि श्रुत्वा सुतरा दुर्गतिहेतून् परित्यजति सुलसवत् ॥ १३ ॥

तथा हि तच्चरितमिदम्—

रायगिहे नगरे कालसूयरिओ नाम सूणाजीवी अहेसि । सो य किर अभवो दिणे दिणे पंच पंच महिससए वावाइयवं ।
तओ सत्तमपुहवीओवि अब्भहिंयं पावमज्जियंति । गहिओ चरमकाले महारोगायंकेण । धाउविज्जया पंचवि इंदियत्थे
विवरीए वेएइ । सुरहिसिसिरं विलेवणमसुइउसिणं कद्धमंति मन्नइ । एवं भोयणपाणतूलिमाइसु विभासा । तस्स सुलसो
पुत्तो सवायरेण पडियारं करावेइ । जाहे सो रइ न लहइ, ताहे सुलसो अभयकुमारं भित्तं पुच्छइ । सो भणइ—भइ !
जीवपायाओ इमेण घोरं पावकम्ममुवज्जियं, तमिह लोए चेवोइन्नं । तो ठवेहि एयं कंटकसेजाए । विलिपेहि असुइणा ।

१ ‘पाप’ इति न क्वचित् । २ व्यापादितवान् ॥

पेज्जहि खारतोरविगंधिनीराइं, जेण रइं पाउणत्ति । सुलसेणावि तहाकएण पत्तपरिओसो कंचि कालं जीविऊण काल-
गओ गओ सत्तमपुढविं सोयरिओ । ठविओ सयणेहिं सुलसो तस्स पए भणियो य कुणसु जणयववसायं । सोवि जण-
याणुभूयं संभरमाणो न तरामि पावफलाणि सोढुंति जंपंतो नेच्छइ । इयरे भणंति—पावं विभागे काऊण गिण्हिस्सामो ।
तओ तेसिं वोहणत्थं सुलसेण ताडिओ तिण्हकुहाडेण निदयं नियपाओ । आरसंतेण य भणिया वंधवाः, भो भो विभायह
दुक्खं, गिण्हह थोवं थोवं, जेण मे सुहं भवइ । तेहिं भणियं—वच्छ । सुट्टु गिण्हामो जइ अम्हासु संकमइ, किं तु नत्थि
उवाओ जेणन्नसंतियं दुक्खमन्नम्मि संकमइ । तो कि भणह तुह पावं विभइस्सामोत्ति तेण बुत्ता लद्धनिच्छिया द्विया तुण्हिका
सयणा । इयरोवि अभयकुमारेण भगवओ समीवे सावगधम्मं गाहियो । पालिऊण य तं विहिणा पाविओ देवलोगंति ॥१३॥

अथ सप्तमगुणं स्वरूपतः फलतश्चाह—

असदो परं न वंचइ वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य । उज्जमइ भावसारं उचिओ धम्मस्स तेणेसो ॥१४॥

शठो मायावी, तद्विपरीतः 'अशठः' 'परं' अन्यं 'न वञ्चति' नाभिसन्धत्ते । अत एव 'विश्वसनीयः' प्रत्यवस्थानं भवति ।
इतरः पुनरवञ्चन्नपि न विश्वासकारणम् । यदुक्तम्—“मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम् । सर्प इवावि-
श्वस्यो भवति तथा ह्यात्मदोषहतः ॥ १ ॥ ” तथा 'प्रशंसनीयः' श्लाघनीयश्च स्यादशठः, इति प्रक्रमः । यतोऽवाचि—
“यथा चित्तं तथा वाचो यथा वाचस्तथा क्रिया । धन्यास्ते त्रितये येषां विसंवादो न विद्यते ॥ १ ॥ ” तथा 'उद्यच्छति'
प्रयतते धर्मानुष्ठान इति गम्यते । 'भावसारं' सद्भावसुन्दरम्, न पुनः पररञ्जनाय कूटक्षपकवत् । उक्तं च—“जोवि य
पाडेऊणं मायामोसेहिं खाइमुज्जणं । निग्गामज्झयासी सो सोयइ कवडखमउव ॥ १ ॥ ” 'उचितः' पात्रं 'धर्मस्य' उक्ता-
न्वर्थस्य 'तेन' हेतुना 'एषः' अशठः । स्वार्थप्रवृत्तित्वात्तथाविधश्चातिदुर्लभः । यतोऽवाचि—“भूयांसो भूरिलोकस्य चम-
त्कारकरा नराः । रञ्जयन्ति स्वचित्तं ये भूतले ते तु पञ्चपाः ॥ १ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

अथाष्टमगुणगणान् व्यावर्णयन्नाह—

उवयरइ सुदक्खिन्नो परेसिमुज्झिय लकज्जवावारो । तो होइ गवभवक्कोणुवत्तणीओ य सव्वस्स ॥१५॥

'उपकरोति' उपकाराय प्रवर्त्तते, अभ्यर्थितसारतया । 'सुदाक्षिण्यः' शोभनदाक्षिण्यवान् । कोऽर्थः ? यदिहपरलोकोपका-
रिप्रयोजनं तस्मिन्नेव दाक्षिण्यवान्, न पुनः पापहेताविति । सुशब्देन दाक्षिण्यं विशेषितम् । 'परेपां' अन्येषाम् । कथम् ?
इत्याह—'उज्झितस्वकार्यव्यापारः' परित्यक्तात्मप्रयोजनप्रवृत्तिः, 'ततः' कारणात् भवति 'ग्राह्यवाक्यः' अनुलङ्घनीया-
देशः । तथा 'अनुवर्त्तनीयश्च' अभीष्टचेष्टितश्च 'सर्वस्य' धार्मिकलोकस्येति हृदयम् । स हि दाक्षिण्यगुणेनाकामोऽपि धर्ममा-
सेवते । धुल्लककुमारवत्—

किर सागेए नयरे पुंडरीओ नाम राया । कंडरीओ से भाया जुवराया य । तस्म य रूवोहामिव सुरंगणा जसभद्दा
भारिया । सा कयाइ कयसिगारा निग्गाइदा नरनाहेण । कुसमसरवेयणाविहुरियहियएण पत्थिया य दो तिन्नि वाराओ नेच्छइ
भणइ य । कहं भाउणोवि न लज्जसि ? तओ न एयंमि जीवंते एसा ममं इच्छइत्ति छिडुं लहिऊण घाइओणेण कंडरीओ ।
तओ निन्नायपरमत्था नत्थि एयस्स अकरणिज्जंति सीलभंगभीया पलाणा जसभद्दा । कहाणयविसेसेण पत्ता सावत्थि । दट्टण
वियारभूमिनियंताओ साहुणीओ लग्गा पिट्ठओ पत्ता तदुवस्सयं । पडिया पाएसु कित्तिमइमयहरियाए । धम्मलाभपुव्व-
मासासिया तीए । एईएवि रुयंतीए नियवुत्तंतं निवेइऊण मग्गिया पव्वज्जा । उचियत्ति पवाविया विहिणा । पावालिया
पव्वज्जा । नवरं पच्छन्नो गवभो मं न पवावेहिति मयहरियाए पुवि न सिट्ठो सो पइदिणं पव्व्हिओ । पुच्छियाए य साहियो
सव्वभावो । मयहरियाएवि सिट्ठं सेज्जायरीए । तीएवि माइपिइभूयाए पच्छन्नं पडिजागरियाए जाओ से दारओ सलक्ख-
णोत्ति परिवालिओ अट्टवासो । तओ पवाविओ अजियसेणसुरिणा । कयं से नामं खुडुगकुमारोत्ति । परिवालियदुवाल-
सवाससामन्नपरियाओ कयाइ वसंतसमए दट्टूण तरुणवग्गं विविहकीलाहिं कीलंतं पडिभग्गो संजमाओ । तओ अट्टवसट्टेण
साहियो सव्वभावो संघाडइल्लस्स । तेणावि अणुसासिओ जाहे न बुज्झइ, ताहे निवेइयं जणणीए । तीएवि बहुविहमणु-
सासिऊण जाहे न बुज्झइ, तओ बुत्तो पुत्तं ? दुवालसवासाणि सइच्छाए तए सामन्नमणुचिन्नमियाणि महवयणेय तत्तियं
पालेसु । तओ दक्खिन्नसारयाए ठिओ तत्तियं कालं । तयंतं पुच्छिया जणणी भणइ—मम जणणिभूयं पवत्तिणिं पुच्छा-
हि । पुच्छियाए तीएवि असुहस्स कालहरणंति काऊण पडिच्छाविओ दुवालसवासाणि । एवं आयरिएण उवज्जाए-
णावि धारिओवि जाहे न चिडइ ताहे अहो ! दारुणो कम्मपरिणामोत्ति भावयंतेहिं तेहि सबेहिं उवेहिओ । नवरं पुत्तसिणे-
हमोहियाए जणणीए चिररक्खियं मुद्दारयणं कंवलरयणं च समप्पिऊण भंणिओ, सागेए तुह चुल्लपिया पुंडरीओ राया,
तस्स एयाइं दंसेज्जासि जेण परिन्नायमुद्दारयणो तुह रज्जभायं देइत्ति पडिवज्जिऊण गहियवेसो चेव पत्तो सागेय । आवा-

सिओ रायभवणेगदेसे । तक्कालं च रायभवणंगणे पवत्तं महापेच्छणयं । मिलिओ पहाणलोगो । अहंपि चिरकालाओ अज्ज पेच्छणयदंसणसुहमणुहवामित्ति काउं पत्तो खुड्डुगकुमारोवि । जायमारूढरंगभरं महापेच्छणयं जाव य किंचि सावसेसा जामिणी न य पारिओसियं पडइत्ति आलस्सेण निहाइया नट्टिया । तओ मा रंगभंगो होउत्ति तीए वोहणत्थ-मुग्गीयं मयहरिगाए—“सुट्टु गाइअं सुट्टु वाइअं सुट्टु नच्चियं सामसुंदरि । अणुपालियदीहराइयाओ सुमिणंते मा पमायए” । तं च सोऊण पडिबुद्धेण पत्तिखत्तं कंवलरयणं चेहणण, जुवराएण जसभद्देण कुंडलं, सिरिकंताए सत्थवाहीए हारो, जयसंधिमंतिणा कंकणं, कन्नपालमहामिंठेण रयणकुसो । पंचवि एयाणि लक्खमोलाणि निवडिएसु रायाइपसाएसु जाओ नट्टियाए महालाओ । पभाए पुट्टो रत्ता चेहणो कीस तुमं तुट्टोसि । तेणावि साहिओ स बुत्तंतो जाव रज्जत्थी समागओमिह । दंसियं मुहारयणं । रत्ता भणियं ता गिणहाहि हियइच्छियं मंडलं । चेहणण भणियं—अलं रज्जेण, सुविणयमेत्तंमि जीवि-यम्मि संजमंवाणुपालिस्सामित्ति । जसभद्देण सिट्ठं अहंपि, बुट्टो राया ता रज्जं गिणहामित्ति चिंतंतो एयाए विवोहिओमिह । सिरिकंताए बुत्तं अहं चिरपवसियस्स सत्थवायस्स ता पुरिसंतरमन्निसामित्ति वियप्पंतीएयाए विवोहियमिह । मंतिणावि निवेइयमहमन्नेण राइणा पलोभिओ कि नियसामियं घाएमि न वत्ति ? चिंताउलो एयाए संवोहिओमिह । कन्नपालेणावि कहियं—अहममुणेण वेरिनरिदिणं बहुदधं दाऊण पट्टहत्थिं मग्गिओ माराविओ वा किं कायघमूढो एयाए वेयाविओ-मिहत्ति । तओ राइणा अच्छलं तुम्हाणं सव्वेसिं करेह हियइच्छियाइत्ति बुत्तेहिं सुदेसणासवणपडिबुद्धेहिं गहिया सव्वेहिं खुड्डुगकुमारसमीवे पवज्जा । तेहिं सहिओ समागओ गुरुसमीवं खुड्डुगकुमारो । कुलाणुरूवमेयंति पसंसिओ गुरुहिं । जाओ सकज्जमाहगोत्ति । एवमेएण संजमो दक्खिणगुणेण चिरमणुपालिओ परिणामसुहावहो य संवुत्तोत्ति ॥ १५ ॥

अथ नवमं गुणमाश्रित्याह—

लज्जालुओ अकज्जं वज्जइ दूरेण जेण तणुयंपि । आयरइ सयायारं न मुयइ अंगीकयं कहन्नि ॥ १६ ॥

‘लज्जालुओ’ इति प्राकृतशैल्या लज्जावान् ‘अकार्य’ कुत्सितकृत्यं, नजः कुत्सार्थत्वात् ‘वर्जयति’ परिहरति ‘दूरेण’ विप्रकर्षणं ‘येन’ हेतुना तेन धर्माधिकारीति प्रकृतेन योगः । ‘तनुकमपि’ स्तोत्रकमपि । उक्तं च—“अवि गिरिवरगरुयदुरं-तदुक्क्यभारेण जंति पंचत्तं । न उणो कुणंति कम्मं सप्पुरिमा जं न कायधं ॥ १ ॥ ” ‘आचरति’ अनुतिष्ठति ‘सदाचारं’ शोभनव्यवहारं, तस्यालज्जाहेतुत्वात् । तथा ‘न’ नैव ‘मुञ्चति, उज्झति ‘अङ्गीकृतं’ आरब्धं धर्ममिति गम्यते । ‘कथमपि’ श्लेहवलाभियोगादिनापि प्रकारेणेति लज्जाहेतुत्वादारब्धपरित्यागस्य । तथा चाह—“दूरे ता अन्नजणो अंगे च्चिय जाइ पचभूयाइ । तेमिं चिय लज्जिज्जइ पारद्धं परिहरंतेहिं ॥ १ ॥ ” प्रायः सुकुलोत्पन्न एवंविधो भवति । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

इहोदाहरणम्—

एगंमि नयरे चंडरुहो नामायरिओ विहरइ । सो य किर संजलणसीलो पए पए साहूणं रुसइत्ति कोहोदयभीरु भिन्नोव-म्मण ज्ञाणकोट्टोवगओ चिट्ठइ । अन्नया एगो सेट्टिपुत्तो नवपरिणीयनेवच्छो केलिकिलवयंसपरिणओ तमुज्जाणमागओ । तओ परिहासवंदणेण वंदिऊण साहुणो बुत्ता तंमिचेहिं । भयवं ! एस अम्ह वयंसो कुरूवकन्नयालाभाओ वेरिगिओ तुम्ह समीवे पवइउमागओ । तओ केलिकिला एएत्ति न दिंति साहुणो तेसिसुत्तरं । जाहे दोच्चपि तच्चपि कोलाहलेन सज्जायविग्धं करिंति ताहे साहूहिं भणिया—जइ एवं गच्छह इह नाइदूरे अम्ह गुरू पवावेही । गंतूण गुरुसमीवे तहेव भणिउमारद्धा । तओ ज्ञाणवाघायकुविएण भणियं सूरिणा जइ सच्चमेयं ता भिग्घमागच्छ हसंतो समागओ दारओ । खेलमहयभूइए लुंचिउं पवत्ता सूरिणो । ताहे ते वयंसा ससज्जसा मा मा भयवं ! एवं करेहि, परिहासो एस अम्हेहिं कओत्ति जाव जंपंति ताव लहुहत्थयाए दरलुंचिओ एस चिंतिउं पवत्तो । लज्जिज्ज इदाणिं दैरदिक्खिएहिं परिभमंतेहिं ता संपयं पारद्धनिवाहणमेव सेयं । जओ—“अलसायंतेणावि सज्जेण जे अक्खरा समुल्लविया । ते पत्थरटंकुक्कीरिय ध न हु अन्नहा होंति ॥ १ ॥ ” एवं भाविऊण भणियं—भयवं ! मा एएसिं सुणेहि । अहं तुमं च एत्थ पमाणंति । परिवाणि-यपरिणामेन पवाविओ गुरुणा । उवालंभभीया पलाणा इयरे । चेहओवि पट्टमुहपंकओ वंदिऊण गुरुं भणिउमारद्धो । दमगभावं भोयाविऊण ट्ठाविओहं भदंतेहिं चक्कवट्टिंप । किं तु पभाए पभूयसयणा मं इओ वाविस्संति, ता करेह पसायं रयणीए देसंतरगमणेण । आयरिएहिं भणियं—अहं रत्तीए न पेच्छामि ता पेहेहि मग्गं जेण सुहेण वच्चामो । आगओ सोहिऊण खुड्डुगो । पत्थिया दोवि । अन्नायनिसाचरो गुरू पए पए पक्खलंतो, एरिसो मग्गो सोहिओत्ति भणंतो सीसं सीसे डंडेण ताडेइ । तेणावि एस महप्पा मए संतावे पाडिओत्ति संविग्गेणारोविओ पिट्ठीए । तहावि अंधयारदोसेण परि-क्खलंतं तमायरिया पुणो पुणो ताडेंति भणंति य । अरे दुट्ठसेह ! एरिसो मग्गो विसोहिओ । सोवि अहो ! मे अहन्नया जमेस महप्पा एरिसवसणमुवणीओ । पभाए विस्सामणाइणा तहाजइस्सं, जहा संतावविरहिओ सुहभायणं भविस्सइत्ति

भार्चितो सुज्जाणं पाविज्जाणापुवकरणखवगसेडिकमेण केवली संवुत्तो । सुहं सुष्टेण य गंतुं पवत्तो । ताए आयरिया विमिह-
या उवसंतकोवा य पुच्छंति । अज्जो ! कीस संपयं न खलसि ? । तेण भज्जह, जेण सुहु पेच्छामि वत्तिणीं । सूरीहिं भणियं,
चक्खुणा नाणेण वा ? । सो वेइ नाणेणं । केरिसेण छाउमत्थिएण केवलिएण वा ? । भयवं ! केवलिएणंति तवयणमाय-
न्निज्जाणाउज्जा सूरिणो केवली आसाइओत्ति अप्पाणं निदिउं पवत्ता । एत्थंतरे पहाया रयणी, दिट्ठा य केमुत्तुं चण्ण कोमले
तस्स मत्थए रुहिरारुणा दंडपहारवणा । आयरिपहिं विचितियं च । धिरत्थु मे पंडिघस्स, धिरत्थु मे ययपरिणामस्स,
धिरत्थु मे दीहरसमणभावस्स, जेण मए एस कोहपिसाओ न घसीकओ । पेच्छ एण्णाज्जदिणद्विद्विएण्णादि विद्वत्तपरमो-
वसमेण सकज्जमाराहियंति । एवं महावेरग्गमगलग्गा सूरिणोवि केवलमुप्पाडिज्जाण कमेण पात्रिया नेपुइपुरंति । एवं
लज्जालुणा चंडरुइसूरिसीसेण सामज्जमासाइयमाराहियं चेति ॥

अथ दशमं दयालुत्वगुणमाह—

मूलं धम्मस्स दया तयणुगयं सवमेवणुट्ठाणं । सिद्धं जिणिंदसमए मग्गिज्ज तेणिह दयालु ॥ १७ ॥

‘मूलं’ आद्यकारणं ‘धर्मस्य’ उक्तनिरुक्तस्य ‘दया’ प्राणिरक्षा । यतोऽस्या एव रक्षार्थं शोषप्रदानि । तथा चाऽत्रापि—
“अहिसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधिनी । अस्याः संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ १ ॥” तथा—“नर्त्तं मृदं
यथा कुम्भो नर्त्तं बीजं यथाद्भुरः । निर्मालिन्यस्तथा धर्मो नर्त्तं स्याज्जीवरक्षणम् ॥ १ ॥” “तदनुगतं” तत्तद्भावि ‘सर्व-
मेव’ विहाराहारतपोवैयावृत्त्यादिसदनुष्ठानं ‘सिद्धं’ प्रतीतं ‘जिनेन्द्रसमये’ पारगतागमे । उक्तं च—“न सा दीक्षा न सा
भिक्षा न तज्ज्ञानं न तत्तपः । न तद्दानं न तद्भयानं दया यत्र न विद्यते ॥ १ ॥” “मृग्यते” अन्विष्यते ‘तेन’ कारणेन
‘इह’ धर्माधिकारप्रस्तावे ‘दयालुः’ दयाशीलः । इदमत्र तात्पर्यम्—यः स्वत एव दयालुः स सुसेनेर्यासमितिप्रत्युपेक्षणादौ
प्रवर्त्तते, अतो धर्मयोग्यो भवति धर्मरुचिवत् । श्रूयते चागमे—

कश्चित् कुलपुत्रकः परलोकाभीरुर्गृहवासमारम्भवहलमवधार्य तापसानां मध्ये प्रव्रजितः । तानपि कन्दमूलोत्पाटनाधा-
रम्भप्रवृत्तानवलोक्य सविपादो जज्ञे । यतस्तेऽपि किल चतुर्दश्यादितिष्वनार्कुट्टिमाघोपयन्ति स्वकीयाश्रमे । ततो न
कोऽपि तस्मिन् दिने पुष्पफलकन्दानयनाय वनं प्रति गच्छति । सोऽपि धर्मरुचिस्तदेकं दिनं बहुमन्यमानोऽहो ! मुन्दरं
भवति, यदि सर्वदेयमनाकुट्टिरुदघुष्यतेति चिन्तयन्नासाश्रमे । कदाचिदासन्नमार्गं साधू व्रजन्तापालोक्य भद्रकतया
तावपृच्छत् भो तपोधनौ ! किमरण्य प्रति प्रस्थितौ युवाम् ? किं भवतां धर्मैऽद्यानाकुट्टिर्न विधीयते ? । तमृजुशीलमालोक्य
साधू प्रत्यूचतुः । तापसकुमार ! अस्माक धर्मं सर्वदाऽनाकुट्टिरेव । यतो वयं न कदाचनापि सचेतनां पृथ्वीमुपमर्दयामः ।
न सचेतनं वारि व्यापारयामः । नाप्यनेकसत्त्वव्यापत्तिहेतुवैश्वानरमुद्दीपयामः । न चापि तृणलताप्रवालपुष्पफलकन्दादि-
वनस्पतीन् संघट्टयामः, उत्पाटयामो, भुग्महे वा । अतोऽस्माकं धर्मं सर्वदाऽनाकुट्टिरेवेति । श्रुत्वेदं दयाशीलतया ताभ्या-
मेव सह गत्वा गुरोरात्मानं निवेद्य प्रव्रजितः सुप्रव्रजितश्च बभूव धर्मरुचिरिति ॥ १७ ॥

इदानीमेकादशं गुणमाह—

१ “कुट्य” इत्यपि ॥

मज्झत्थसोमदिट्ठी धम्मवियारं जहट्ठियं मुणइ । कुणइ गुणसंपओगं दोसे दूरं परिच्चयइ ॥ १८ ॥

मध्यस्था क्वचिद्दर्शने पक्षपातविकला सौम्या च प्रद्वेषाभावाद्दृष्टिर्दर्शनं यस्य स ‘मध्यस्थसौम्यदृष्टिः’ सर्वत्रारक्तद्विष्ट
इत्यर्थः । ‘धर्मविचारं’ नानापापण्डमण्डलीमण्डपोपनिहितधर्मपण्यस्वरूपं ‘यथावस्थितं’ सगुणनिर्गुणाल्पबहुगुणतया व्यव-
स्थितं कनकपरीक्षानिपुणविशिष्टकनकार्थिपुरुषवत् ‘मुणति’ बुद्ध्यते, अत एव ‘करोति’ विदधाति ‘गुणसंप्रयोगं’ गुणैः
ज्ञानादिभिः सह संबन्धं ‘दोपान्’ गुणप्रतिपक्षभूतान् ‘दूरं’ इति दूरेण ‘परित्यजति’ परिहरति सोमवसुब्राह्मणवत्—

तेण किर दुब्भिकखे कुडुवं निवाहिउं सुइपरिग्गहो गहिओ । न य तं जीवियंति वेरग्गओ सुडिनिमित्तं पत्थिओ
पाडलिपुत्तं । अंतरा य वंभणसुन्हमपं तप्पाइयं वंभणनिवारियग्गिदाहं दइण मरणंपि अविहिणा न सुंदरंति भावेतो
पत्तो एगं सन्निवेशं । पविट्ठो एगस्स अबत्तलिंणियो महियाए । सोवि चरियाकालो वइइ । अतिही य तुमंति चिट्ठ मढी-
याए वोत्तूण पविट्ठो गामं । खणंतरे विउलगहियभत्तो पत्तो य । भुत्तं पज्जत्तं दुवेहिंपि । पथावे पुच्छिओ सोमवसुणा
केरिसो तुम्ह धम्मो ? किं वा एत्थ तत्तंति ? । तेण भणियं, भइ ! एगस्स गुरुणो अम्हे दो सीसा आसि । अचिरदि-
क्खियाणमम्हाण परोक्खीभूओ गुरू । उवइट्ठं च तेण अम्हाणं ‘सुहं सोयवं, मिट्ठं भुंजेयवं, लोयप्पिओ अप्पा कायघो’ । न
य एयस्स अत्थो कहिओ । तओ अहं सबुद्धीए इह गामे चिद्धामि । मंतोसहाइहि लोगस्सुवगारं करेमि । अओ चेव
लोयप्पिओ भोयणं च मिट्ठं पावेमि । एसा य मज्झ सेज्जा तओहं सुहं सुवामि । एत्थियं तत्तं मए नायं । परमत्थं पुण
गुरूणो जाणंति । तओ चित्तियं सोमवसुणा सोहणो गुरूवपसो, न पुण एस परमत्थो । भणियं च कहिं पुण ते गुरू-

भाया । सिद्धमियरेण अमुगत्थगामे चिद्धति । दुइयदिवसे तत्थेव गओ सोमवसू, मिलिओ नस्स । तेणावि कयमुच्चियं भणियं च भोयणावसरे एहि मए सद्धिं चलिया दोवि । पविसंतो गामे भणिओ एगेण अच्चत्तलिंगीएहिं मम गेहे पालिं खेडसु । तेण भणिअं एस पाहुणगो । एही तओ एसोवि, तुमंपि एहत्ति भणंतेण तेण नीया दोवि गिहं । कयं चलणसोयाइयं । भुत्ता दोवि सबकामगुणियमाहारं । गया सद्धाणं । पुच्छिओ वंभणेण सो समायारं । तेणावि कहियपुव्वुत्तं । तेण भणियं महमेगंतरियं भुंजामि तओ मिद्धं होइ । ज्ञाणज्जयणपरिसंतो जत्थ व तत्थ व सुहं सुवामि । नीरीहचित्तोत्ति पिओ सच्च-
लोयस्स । एवं गुरुवयणमाराहेमि । तओ सोमवसू सोहणतरो एस, किं तु गंभीरो गुरुवएसो न नज्जइ सव्भावोत्ति भा-
वेंतो पत्तो पाडलिपुत्तं । तत्थ किर पसिद्धो तिलोयणनामो पंडिओत्ति गओ तस्स गेहं । पविसंतो अणवसरोत्ति पडिच्छा-
विओ दोवारिएण । ताव य गहियकुसुमदंतवणो समागओ पुष्पैवडुगो । सो पुण मग्गिजंतोवि दंतवणमदाऊण पविद्धो
अच्चंतरं । खणंतरे निग्गंतूण सबस्स दाउमारद्धो । किमेस पुष्पिमदितो ? किमियाणिं देइत्ति पुच्छिए सोमवसुणा सिद्धं
दोवारिएणं । पढमं पहुणो दिन्ने गोरवं होइ इयरहा अवन्ना । तदुव्वरियं सेसाणं सेसा चेव भवइ । एत्थंतरे तैदासन्नगिहे दो
पुरिसा आयमणं मग्गंति । हिन्नमेगस्स एगाए तरुणीए तं चैलुगाए, वीयस्स दीहदंडएण उल्लंकएण । तत्थवि पुट्टेण
कारणं सिद्धं दोवारिएण । पढमो एयाए भत्ता, बीओ परपुरिसो, अओ एयस्स एवं चेव दाउमुच्चियंति । अहो ! नीइ-
मत्तो परिवारोवि पंडियस्सत्ति चित्तिरैस्स भट्टस्स समागया गहिरतूररवा, पूरियदियंतरा, पढंतभूरिभट्टचट्टा, सिविया-

१ 'पुच्छिओ' इत्यपि । २ 'तदासन्नि' इत्यपि । ३ 'वालुगाए' इत्यपि । ४ "चित्तिरैस्स" इत्यपि ॥

रुद्धा, दुवारासन्नमेगा तरुणी । पुच्छियं सोमवसुणा, का एसा ? किमेवमागच्छइत्ति । तेण भणियं एसा पंडियधूया, राउले
पायपूरणेण पत्तसंमाणो सगिहमागच्छइ । कहंति सुण राइणा पाओलंविओ—“तेन शुद्धेन शुद्धयति” तओ इमीए
पूरिओ अ—“यत्सर्वव्यापकं चित्तं मलिनं दोपरेणुभिः । सद्धिवेकाम्बुसंपर्कात्तेन शुद्धेन शुद्धयति ॥ १ ॥” ताव य पविद्धा
गिहमेसा । समाइच्छिया जणएण, परियणेण य । अहो ! परियणोवि इमस्स पंडिओत्ति विग्गिहो लद्धावसरो गओ सभा-
गयस्स पंडियस्स पासं । कयाभिवायणो पत्तसंमाणो निविद्धो उच्चियासणे । एत्थंतरे गुरुजाया मए सुविणे भुत्ता ता
करेहि मे विसोहिंति विन्नत्तो केण य वडुएणं तिलोयणो । तत्तलोहनारिअवरुंडणाओ ते सुद्धित्ति वुत्ते अच्चुवगयं वडु-
गेण । कया अग्गिवन्ना लोहनारी । तमालिगतो सो गहिओ पुव्वनिउत्तपुरिसेहिं । सुद्धो सुद्धोत्ति पडिया ताला । ताव
सोमवसुणावि सवुत्तंनिवेयणपुव्वमग्गियं पच्छित्तं । परिभाविऊण गहियाणेण दोमट्टियागोलगा उल्लो सुक्को य । पक्खि-
त्ता कुडे उल्लो विलगो तत्थ न इयो । तओ भणिओ सोमवसू, भट्ट । सुक्कगोलगसमो तुममओ सुद्धो चेव । पुणो
भणियं सोमवसुणा वयगहणं काउमिच्छामि, केरिसस्स गुरुणो समीवे करेमि ? । भणियं पंडिएण, जो 'सुहं सोयवं, मिद्धं
भुंजियवं, लोयप्पिओ अप्पा कायवो' त्ति एएत्तिं तिणहं पयाणमत्थं बुज्जइ, पालेइ य, निप्पिहो य सबहा, तस्स समीवे
पव्वयाहि । सोमवसुणा भणियं, वो पुण एएसिं पयाणमत्थो ? । पंडिएण भणियं, जो रागदोसविरहिओ परिचत्तारंभपरि-
ग्गहो सुहज्जाणोवगओ सुयइ सो सुहं सुवइ । जो महुरविचीए अकयमकारियं मुहालद्धं सबपाणिपीडापरिहारेणारत्तदुद्धो

१ कचित् “अ” नास्ति ॥

भुंजइ सो परिणामसुंदरंति मिद्धं भुंजइ । जो भंतमूलोसहाइयउवयारमकरितो परलोयाणुट्टाणसारयाए सबलोयाण वल्लहो
होइ सो लोयप्पिओत्ति वुच्चइ । निरीहो जो भत्ताणुरत्तलोयाओ न धणधन्नहिरन्नसुवन्नाइ समीहइत्ति । एवमवहारियभा-
वत्थो चलिओ गुरुमन्निस्सिडं माहणो । मिलिओ एगत्य उज्जाणे सुघोसगुरुणं । वंदिऊण पुच्छिओ पुव्वभणियपयाणमत्थं ।
साहिओ जहुत्तो गुरुहिं । निरीहत्तजाणणत्थं चिट्ठिओ तत्थेव रत्ति । दिट्ठमावस्सयाइकिच्चं साहूणं । जाव सज्झायं काऊण
पसुत्ता साहुणो । आयरिया य वेसमणोववायमज्जयणं परियट्टिडं पवत्ता । तप्पभावेण य समागओ वेसमणसुरो । ट्ठिओ
निसुणंतो । परिसमत्ते तंमि अहो ! सुसज्झाइयं सुसज्झाइयं भणंतो पडिओ गुरुचलणेसु । विन्नविडं पवत्तो, भयवं ! तुट्ठोहं
तुट्ठाणं, वरेह वरं, हिरन्नं वा, सुवन्नं वा, दुपयं वा, चउपयं वा जं भे रोयइ तं सबं संपाएमि । आयरिएहि भणियं धम्म-
लाभो ते भवउ न केणावि किंचणे पओयणति । ताहं अहो ! भे सुलद्धं जम्म जीवियंति जंपंतो उज्जोइयदिसामंडलो वंदि-
ऊण गुरुं गओ सद्धाणं सुरवरो । सोमवसूवि अहो ! निरीहत्तंति परितुट्टमणो साहियसव्भावो पवाविओ गुरुहिं । जाओ
संजमाराहगो । एयारिसो मज्झत्थो धम्मरिहोत्ति ॥ १८ ॥

अथ द्वादशं गुणरागिणं स्वरूपफलोपदर्शनद्वारेणाह—

गुणरागी गुणवंते बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ । गुणसंगहे पवत्तइ संपत्तगुणं न मयलेइ ॥ १९ ॥

गुणेषु धार्मिकलोकभाविषु रज्यत्येवंशीलो 'गुणरागी' । 'गुणवन्तः' गुरुगुणभाजो यतिश्रावकादीन् 'बहु मन्यते' मनः
प्रीतिभाजनं करोति । अहो ! धन्या एते, सुलब्धमेतेषा नरजन्मेत्यादि । तर्हि निर्गुणास्त्रिन्दतीत्यापन्नम् । यथा देवदत्तो

दक्षिणेन चक्षुषा पश्यतीत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यवसीयते । तथा चाहुरेके—“शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरो-
रपि” इति चेन्नैतदेवं धार्मिकोचितमित्याह—“निर्गुणानुपेक्षते” असंक्लिष्टचित्ततया तेषामपि निन्दां न करोति । यतः स
एवमालोचयति—“सन्तोऽयसन्तोऽपि परस्य दोषा नोक्ताः श्रुता वा गुणमावहन्ति । वैराणि वक्तुः परिवर्जयन्ति श्रोतुश्च
तन्वन्ति परां कुबुद्धिम् ॥ १ ॥ ” तथा—“कालंमि अणाईए अणाइदोसेहि वासिए जीवे । जं पात्रियइ गुणोवि हु तं
मन्नेहं महच्छरियं ॥१॥ भूरिगुणा विरलं च्चिय एकगुणो बहुजणो न सवत्थ । निहोसाणवि भहं पसंसिमो धेधदोसेवि ॥२॥”
इत्यादि संसारस्वरूपमालोचयन्नसौ निर्गुणानपि न निन्दति, किं तूपेक्षते मध्यस्थभावेनास्त इत्यर्थः । तथा गुणानां संप्रहे
समुपादाने ‘प्रवर्त्तते’ यतते । संप्राप्तमङ्गीकृतं गुणं सम्यग्दर्शनविरत्यादिकं ‘न मलिनयति’ न सात्तिचारं करोति । गुण-
रागित्वस्य फलमेतत् । अन्यथा गुणरागित्वमेव न स्यात् । इति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उदाहरणे चान्न धनसार्थवाहवङ्कचूडौ । तथा हि—

घासातवसुसियंगे सज्जायञ्जाणवावडे मुणिणो । दडुं गुणाणुराया आउट्टो सत्थवाहो सो ॥ १ ॥

गुरुभत्तिनिचभरमणो दाणं दाऊण पत्तसंमत्तो । जाओ कमेण धन्नो कल्लाणपरंपराभागी ॥ २ ॥

तद्वा—

जाओ गुणाणुराओ पुधमसंतोवि वंक्कचूलस्त । पेच्छंतयस्स अणवरयमेव मुणिणो गुणाउसे ॥ १ ॥

१ “विरला च्चिय” इत्यपि ॥

तत्तो बहुमाणाओ नियमगहणं च पालणं थिरया । पडिवन्नगुणा न हि तेण खंडिया पाणचाएवि ॥ २ ॥

उदाहरणद्वयमपि प्रतीतमिति न लिख्यते ।

अथ त्रयोदशधर्माधिकारिगुणस्यावसरः, स च सत्कथ इति विपर्यये दोषदर्शनद्वारेण तमाह—

नासइ विवेगरयणं असुहकहासंगकलुसियमणस्स । धम्मो विवेगसारोत्ति सक्हो होज्ज धम्मत्थी ॥२०॥

‘नश्यति’ अपैति ‘विवेकरत्नं’ विवेकः सदमद्भस्तुपरिज्ञानं, स एव रत्नमज्ञानध्वान्तान्तकारित्वात् । अशुभकथाः
रुद्यादिकथाः सप्त । तथा चागमः—“सत्त विगहाओ पन्नत्ताओ तंजहा—इत्थिकहा, भत्तकहा, देसकहा, रायकहा,
मिउकालुणिया, दंसणभेयणी, चरित्तभेयणी” । तत्राद्याश्चतस्रः प्रसिद्धा एव, तथाऽपि किञ्चिदुद्दिश्यते । तत्र स्त्रीकथा—
“सा तन्वी सुभगा मनोहररुचिः कान्तेक्षणा भोगिनी, तस्या हारिनितम्बविम्बमथवा विप्रेक्षितं सुभ्रवः । धिक् तामुष्टूगतिं
मलीमसतनुं काकस्वरां दुर्भगामित्थं स्त्रीजनवर्णनिन्दनकथा दूरेऽस्तु धर्मार्थिनाम् ॥१॥” भक्तकथा—“अहो ! क्षीरस्यान्नं
मधुरमधुगावाज्यखण्डान्वितं चेद्रसः श्रेष्ठो दध्नो मुखसुखकरं व्यञ्जनेभ्यः किमन्यत् । न पक्वान्नादन्यद्रमयति मनः
स्वादुताबूलमेकं परित्याज्या प्राञ्जैरशनविषया सर्वदैवेति वार्त्ता ॥ २ ॥ ” देशकथा—“रम्यो मालवकः सुधान्यकनकः
कांच्यास्तु किं वर्णयता, दुर्गा गूर्जरभूमिरुद्भटभटा लाटाः किराटोपमाः । कश्मीरे वरमुष्यतां सुखनिधौ स्वर्गो-
पमाः कुन्तलाः, वर्ज्या दुर्जनसद्भवच्छुभधिया दैशी कथैवंविधा ॥ ३ ॥ ” राजकथा—“राजायं रिपुवारदारणसहः क्षेमं-
करश्चौरहा, युद्धं भीममभूत्तयोः प्रतिकृतं साध्वस्य तेनाधुना । द्रुष्टोऽयं धियतां करोतु सुचिरं राज्यं ममाप्याशुपा, भूयो
वन्धनिवन्धनं बुधजनै राज्ञां कथा हीयताम् ॥ ४ ॥ ” तथा ‘मिउकालुणिया’ इति श्रोतृहृदयमार्दवजननान्मृद्वी, सा
चासौ कारुणिकी च कारुण्यवती मृदुकारुणिकी । पुत्रादिवियोगदुःखदुःखितमात्रादिकृतकारुण्यरसगर्भा प्रलापप्रधाने-
त्यर्थः । तद्यथा—“हा पुत्त ! हा पुत्त ! हा वच्छ ! हा वच्छ ! मुक्कामि कहमणाहाहं । एवं कलुणपलावा जलंतजलणेज्ज
सा पडिया” ॥ ‘दर्शनभेदिनी’ ज्ञानाद्यतिशयतः कुतीर्थिकप्रशंसादिरूपा । तद्यथा—“सूक्ष्मयुक्तिशतोपेतं, सूक्ष्मबुद्धिकरं परम् ।
सूक्ष्मार्थदर्शिभिर्दृष्टं, श्रोतव्यं बौद्धशासनम् ॥ १ ॥ ” इत्यादि । एवं हि श्रोतृणां तदनुरागात् सम्यग्दर्शनभेदः स्यादिति ।
‘चारित्रभेदिनी’ न संभवन्तीदानीं महाव्रतानि, प्रमादबहुलत्वादतिचारप्रचुरत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकसाधुसाध्वी-
नामभावात् । ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं प्रवर्त्तत इति ज्ञानदर्शनकृत्येष्वेवादरो विधेय इति । भणितं च—“सोही न अत्थि नवि
दित्तकरिता नवि य केइ दीसंति । तित्थ च नाणदंस्सन्निज्जवणा धेव वोच्छिन्ना ॥ ११ ॥ ” इत्यादि । अनया हि प्रति-
पन्नचारित्रस्यापि तद्वैमुख्यमुपजायते, किं पुनस्तदभिमुखस्येति चारित्रभेदिनी । इत्येतासु सङ्कोऽत्याशक्तिः, तेन कलुषितं
मनोऽन्तःकरणं यस्य स तथा तस्येतीदमत्र तात्पर्यम्—विकथाप्रवृत्ते हि प्राणी प्रायो रागद्वेषवान् भवति, तद्वशाच्च न
युक्तायुक्तं विवेचयति स्वार्थहानिमपि न लक्षयतीति । ‘धर्मः’ पुनः ‘विवेकसारः’ एव हिताहितावबोधप्रधान एव भवति,
सावधारणत्वाद्वाक्यस्येति । धार्मिको ह्येवमालोचयति—“यावत्परगुणदोषपरिकीर्त्तने व्यावृत्तं मनो भवति । तावद्द्वरं विशुद्धे
ध्यानं व्यग्रं मनः कर्त्तुम् ॥ १ ॥ ” इति अस्माद्धेतोः सत्यशोभनास्तीर्थकरणधरमहाविचरितगोचराः कथा वचनव्यापारा
यस्य स ‘सत्कथो’ ‘भूयात्’ भवेत् ‘धर्मार्थी’ धर्मचरणाभिलाषुको येन धर्मरत्नार्हः स्यात् । इति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथ सुपक्षयुक्तश्चतुर्दशगुणवानुच्यते—

अणुकूल धम्मसीलो सुसमाचारो य परियणो जस्स । एस सुपक्खो धम्मं निरंतरायं तरइ काउं ॥२१॥

इह पक्षः परिग्रहः परिकर इत्यनर्थान्तरम् । 'पक्षः परिग्रहेऽप्युक्तः' इति वचनात् । शोभनः पक्षो यस्य स सुपक्षः । तमेव विशेषेणाह—'अनुकूलः' धर्माविघ्नकारी 'धर्मशीलः' धार्मिकः 'सुसमाचारः' सदाचारचारी 'परिजनः' प्रतीतो यस्य एष सुपक्षोऽभिधीयते, स च धर्म 'निरन्तरायं' निष्प्रत्यूहं 'तरइ' इति शक्नोति 'कर्तुं' अनुष्ठातुमिति । इह भावार्थः—अनुकूलो धर्मप्रयोजनानि कुर्वतः प्रोत्साहकः साहाय्यकर्ता च स्यात् । धर्मशीलो धर्मप्रयोजनेष्वभ्यर्थितो नाभियोगं मन्यते, अपि त्वनुग्रहमिति । सुसमाचारः राजविरुद्धादिकृत्यपरिहारी धर्मलाघवहेतुर्न भवेत् । अत एव विधः सुपक्षो धर्माधिकारी स्यादिति ॥

इहाणुकूलपरियणो उदाहरणं—

पुंडवद्वणे नयरे दिवायरो इब्भो अहेसि । तस्स य जोइमईकुच्छिसंभवो पभाकरो पुत्तो । बुद्धभत्ताणि सव्वाणि । अन्नया वाणिज्जकजेण गओ पभाकरो हत्थिणपुरं । तत्थ य जिणदासो सेट्ठी । तस्स भारिया पउमसिरी धूया य ओरालसरीरा जिणमई नाम । सुसावगाणि सव्वाणि । तेसिं भंडसालाए भंडं निक्खित्तं पभाकरेण । जिणमईरूवे वाढमज्झोववन्नेण जाइओ जिणदासो । सो भणइ सावगस्स दाहामि, न तुम्हारिसमिच्छादिद्धिस्स । नत्थि उवायंतरंति सो कवडेण सावगत्तं सिक्खेइ । धम्मं सुणेइ । चेइए वंदइ । साहुणो घयगुलवत्थाइएहिं पडिलाभेइ । सुणमाणस्स उ भावओ परिणओ धम्मो । मंदरागो य जाओ, दारिगाए उवरिं । साहूण सव्भावं कहिऊण गहियाणुवओ सावओ जाओ । विन्नायपरमत्थेण दिन्ना से जिणदासेण जिणमई । तं गहाय गओ पुंडवद्वणमेसो । तओ जिणमई सापूनणंदाओ भणंति । बुद्धस्स पाएसु पडाहि, भिक्खू वंदाहि, सा नेच्छइ । तओ ताहि खिसिज्जइ । ताहे पभागरो जुयगगेहे डाइ । इच्छाए साहुवग्गं पडिलाभेइ । अन्नया मायापिईहिं भणिओ पुत्त । भिक्खुणो निमंतेहि, सो नेच्छइ । तहा विग्गहं काऊण पट्टविओ । गयस्स भिच्छुएहिं विज्जाहि मंतिऊण फलं हत्थे दिन्नं । ताहे वाणमंतरीए अहिट्ठिओ घरं गओ भारियं भणइ । भिच्छूण भत्तं देमो । सा नेच्छइ । तो सयमेव काउमारद्धो । साविगा गंतूण सूरीणं कहेइ । तेहिं जोगपडिभेओ दिन्नो । तेण पीयमेत्तेण । वाणमंतरी नट्ठा । साभाविओ जाओ किमेस आरंभोत्ति पुच्छइ । तीए भणियं तुमए चेव भिक्खूणं भत्तमारद्धं । सो भणइ साहू मोत्तूणान्नस्स न देमि । कहमम्मापिउहिं मणा न वंचिओम्हि । तओ तं फासुयभत्तं साहूणं दिन्नंति ॥

एवमणुकूले परियणो अंतरायं संभवइ । तेण भन्नइ—अणुकूलधम्मसीलाइविसिद्धपरियणो धम्मरिहोत्ति ॥ २१ ॥

इदानीं पञ्चदशं दीर्घदशं (त्व) गुणमाह—

आढवइ दीहदंसी सयलं परिणामसुंदरं कज्जं । बहुलाभमप्पकेसं सलाहणिज्जं बहुजणाणं ॥ २२ ॥

'आरभते' प्रतिजानीते दीर्घपरिणामसुन्दरं, कार्यमिति गम्यते, क्रियाविशेषणं वा । द्रष्टुमवलोकयितुं शीलमस्येति 'दीर्घदशो' 'सकलं' समस्तं 'परिणामसुन्दरं' आयतिसुखावहं 'कार्यं' कृत्यम् । तथा 'बहुलाभं' प्रचुराभीष्टसिद्धिकं 'अवपक्केशं' स्तोकायासं 'श्लाघनीयं' प्रशंसनीयं 'बहुजनानां' स्वजनपरिजनानां, शिष्टानामिति भावः । स किल पारिणामिक्या

१ "आरभइ" इत्यपि ॥

बुद्ध्या सुन्दरपरिणाममैहिकमपि कार्यं करोति । धनश्रेष्ठिवत्ततो धर्मस्यापि स एवाधिकारीति । यत् उक्तम्—“बुद्धिजुओ आलोचइ धम्मद्वयाणं उवाहि परिसुद्धं । जोगत्तमप्पणो च्चिय अणुवंधं चेव जत्तेण ॥ १ ॥ ” को पुणो धणसेट्ठित्ति—

रायगिहे नयरे महाधणो धणो सेट्ठी होत्था । तस्स य पयइभदाए सुभदाए गेहणीए चउरो पुत्ता । धणपालो, धणदेवो, धणगोवो, धणरक्खिओ य । सवेवि ते सुंदेरमंदिरं कलाकुसला सोजन्नपुत्ता य । धरिणीओ तेसिं पहाणकुलुब्भवाओ कमेणं सिरी, लच्छी, धणा, धन्ना य । ते जणयपसाएण निच्चं सुहिया विहरंति । अन्नया सेट्ठी परिणयवओ परलो-गहियं काउकामो चिंतेइ—एए पुत्ता मए एत्थियं कालं सुहिणो कया, संपयं पुण जइ सुन्हा काइ गिहकज्जाइं चिंतेइ, तो मइ पवइएवि सुत्थिया हवंति । का पुण एयासिं गिहचिंताए उच्चियत्ति हुं नाय, जा पुत्ताहिया । सा कहं नायवा ? बुद्धीए । जओ लोयवाओ—'बुद्धी कम्माणुसारिणी होइ' एमाइ चिंतिऊण सेट्ठिणा धारद्धा तेसिं बुद्धीए परिच्छा । पवत्तिओ गिहे ऊसवो । निमंतिओ तासिमप्पणो सयणवग्गो, भोयाविओ सगोरवं । भुत्तुत्तरे य सुहनिविट्ठो चित्तसालिगाए । संमाणो कुसुमविलेवणतंचोलाइणा । तस्समक्खं च धणेणाहूया सुण्हाओ, पच पंच सालिकणे दाऊण भणि-याओ य । एए सम्मं पालेयवा । जया य मग्गामि तया मम समप्पियवत्ति । तओ विसज्जिओ सयणवग्गो । किमेत्थ तत्तंति ? सवियक्को गओ सट्ठणं । तत्थ जेट्ठसुण्हाए एते पंचवि उज्झिया, जया जाइस्सइ तया जओ तओ अप्पिसा-मिन्ति कट्टु । वीयाए एयं चेव चिंतियं । नवरं छोल्लिऊण मुहे पक्खित्ता । तइयाए सुद्धवत्थे वंधिऊणाभरणकरंडिगाए ठविया, तिसंज्जं पडियारिया य । चउत्थीए पुण समप्पिया कुलहरे, पत्ते पाउसे वविया, उक्खया य, पडिउक्खया य

कया । तेसिं पहमवरिसे जाओ कुलओ । वीए वरसे आहगं । तइयवरिसे खारी । चउरथे कुंभा । पंचमए कुंभसहस्ताणि । पुणोवि सयणसमवायपुवं मग्गिया जेइसुणहा । तीएवि किच्छेण सरिऊण समप्पिआ कुओवि पंच कणा । सवहसावियाए अन्ने एएत्ति, साहिओ सव्भावो । वीयाएवि एवं चेव । नवरं ते मए छोल्लिऊण भुत्तत्ति । तइयाए गंठिवद्धा चेव सम-
प्पिया, किर मए एवं चेव रक्खियत्ति । चउरथीए कुंचियाओ समप्पिऊण भणियं, मम जणयगिहेसु चिइंति, सगडाइपे-
सणेण आणावेउ ताओत्ति । सेट्ठिणा भणियं, पुत्ति । कीस तए एवं कयं ? । तीए भणियं ताएण समाइइं पालेयवा एए,
ते एवं चेव सम्मं पालिया भवंति । तओ सेट्ठिणा नियाहिप्पायं साहिऊण भणिया तवंधुणो, किमेत्थ उचियत्ति ? । तेहिं
भणियं तुब्भे चेव बुद्धिनिउणा पमाणं । सेट्ठिणा वुत्तं जेइ उज्झणसीला, ता जं किंचि मज्झगिहे छारछगणकयवराइ
उज्झियवं तत्थ एयाए अहिगारो । जं किंचि रंधणकंडणसीहणाइ, तंमि वीयाए निओगो । तइया भंडागारसामिणी ।
चउरथी सवाहिगारिणी । एयाए आएसेण सेसाहिं हिंडियवं । एवं चेव एयाओ सुहभाइणीओ भविस्संतित्ति जायमणुमय-
मेयं सव्वेसिं । तप्पभिइ तासिं नामपसिद्धी जाया; उज्झया, भोगवई, रक्खिया, रोहिणीति । जायं च सेट्ठिघरं सुत्थं ।
तओ सलाहिओ सेट्ठी लोएण । तेणावि कयं हियइच्छियं परलोगहियंति । एरिसो दीहदंसी धम्मरिहोत्ति ॥ २२ ॥

इदानीं विशेषज्ञमभिधातुमाह—

वत्थूणं गुणदोसे लक्खेइ अपक्खवायभावेण । पाएण विसैसन्नू उत्तमधम्मरिहो तेण ॥ २३ ॥

‘वस्तूनां’ द्रव्याणां सचेतनाचेतनानां धर्माधर्महेतूनां वा गुणान् दोषांश्च ‘लक्षयति’ जानाति ‘अपक्षपातभावेन’

माध्यस्थसुस्थचेतस्तया पक्षपातयुक्तो हि दोषानपि गुणान्, गुणानपि दोषान् व्यवस्यति समर्थयति चेति । उक्तं च—
“आग्रही वत निनीपति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥ १ ॥”
अतः ‘प्रायेण’ बाहुल्येन ‘विशेषज्ञः’ सारेतरवेदी ‘उत्तमधर्मार्हः’ प्रधानधर्मोचितो भवतीति शेषः । ‘तेन’ कारणेन सुन्द-
रीनन्दवत् । उक्तं च—“एयाउ इमं लहं इमाओ एयंति जो विसैसन्नू । सो पावइ सामन्नं सुंदरिन्देण एत्थुवमा ॥ १ ॥”
इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

साम्प्रतं सप्तदशगुणमाह—

बुद्धो परिणयबुद्धी पावायारे पवत्तई नेय । बुद्धाणुगोवि एवं संसग्गिकया गुणा जेण ॥ २४ ॥

‘बुद्धः’ प्रवयाः ‘परिणतबुद्धिः’ परिपक्वमतिः परिणामसुन्दरमतिरित्यर्थः । ‘पापाचारे’ अशुभकर्मणि प्रवर्तते नैव, स
हि किल यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमवबुध्यते । अत्रोदारणम्—एगस्स रत्तो बुविहा मंतिणो तरुणा, बुद्धा य । तरुणा भणंति
एए बुद्धा मइभंसपत्ता न सम्मं मंतित्ति । ता अलमेएहिं अम्हे चेव पहाणा । अन्नया तेसिं परिच्छानिमित्तं राया भणइ,
भो सचिवा ! जो मम सीसे पणिहपहारं दलयइ, तस्स को दंडो कीरइ ? । तरुणेहिं भणियं, किमेत्थ जाणियवं । तस्स सरीरं
तिलं तिलं कप्पिज्जइ, सुहुयहुयासणे वा लुब्भइ । तओ रत्ता बुद्धा पुच्छिया । तेहिं एगंते गंतूण मंतियं आसंधयप्पहाणा
महादेवी चेव एवं करेइ, ता तीए पूया चेव कीरइ । एयमेयत्थं वत्तवंति निच्छिऊण भणियं, जं माणुसमेरिसं महासाहस-

१ “असंधयए प्पहाणा” इत्यपि ॥

मायरइ, तस्स सरीरं ससीसवायं कंचणरयणालंकारेहिं अलंकिज्जइ । तुट्टेण भणियं रत्ता, साहु विज्ञायंति, सच्चदंसिणोत्ति
रत्ता ते चेव पमाणं कयत्ति ॥ यतो वृद्धा नाहितहेतुषु प्रवर्तन्ते । ततो वृद्धाननुगच्छति यस्तन्मतानुवृत्तिपरतया स ‘वृद्धानुगः’
सोऽप्येवमेव पापे न प्रवर्तते इति भावः । केन हेतुना ? इत्याह—‘संसर्गकृताः’ साङ्गत्यजनिता गुणाः ‘येन’ कारणेन
प्राणिनां स्युः । अत एवोक्तम्—“उत्तमजणसंसग्गी सीलदरिदंपि कुणइ सीलहं । जह मेरुगिरिविलगं तणंपि कणयत्तण-
मुवेइ ॥ १ ॥” इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथाष्टदशं विनयगुणमधिकृत्याह—

विणओ सव्वगुणाणं मूलं सन्नाणदंसणाईणं । मोक्खस्स य ते मूलं तेण विणीओ इह पसत्थो ॥ २५ ॥

विनीयते अपनीयते विलीयते वाष्टप्रकारं कर्म येन, स ‘विनयः’ इति सामयिकी निरुक्तिः । उक्तं च—“जम्हा विण-
यइ कम्मं अट्टविहं चाउरंतमोक्खाए । तम्हा उवयंति विज्ज विणओत्ति विलीणसंसारा ॥ १ ॥” स विनयः सर्वगुणानां
मूलं वर्तते । यतः सूत्रम्—“विणओ सासणे मूलं विणीओ संजओ भवे । विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ
तवो ॥ १ ॥” कतमानाम् ? इत्याह—सज्ज्ञानदर्शनादीनाम् । उक्तं च—“विणया नाणं नाणा उ दंसणं दसणाहि चरणं
तु । चरणाहिंते मोक्खो मोक्खे सोक्खं अणावाहं ॥ १ ॥” ततः किम् ? इत्याह—‘चकारस्य’ पुनःशब्दार्थस्यैव योगः ।
‘ते’ पुनर्गुणा मोक्षस्य मूलं ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ (त ० १ । १ ।) इति वचनात् । ‘तेन’ हेतुना विनीतः

इह धर्माधिकारे 'प्रशस्तः' श्लाघितः । किञ्च यः प्रकृत्यैव विनीतः स तद्गुणादेव धर्ममवाप्नोत्याराधयति च । पुष्पसालसु-
तफलसालवत् । इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

तथाहि—

मगहनंडलमंडणभूओ धणधन्नसमिद्धो सालिगामो नाम गामो । तत्थ पुष्पसालगाहावइस्स फलसालो नाम पुत्तो
अहेमि । पयइभइओ पयइविणीओ परलोगभीरू य । तेण धम्मसत्थपाढयाओ सुयं । जो उत्तमेसु विणयं पडंजइ सो
जम्मंतरे उत्तमुत्तमो होइ । तओ सो ममेस जणओ उत्तमोत्ति सङ्घायरेण तस्स विणए पवत्तो । अन्नया दिट्ठो जणओ
गामसामिस्स विणयं पडंजंतो । तओ एत्तोवि इमो उत्तमोत्ति जणयमापुच्छिऊण पवत्तो गामसामिमोलगिगंडं । कयाइ
तेण सद्धि गओ रायगिहं । तत्थ गामाहिवं महंतयस्स पणामाइकुणमाणमालोइऊण इमाओवि एस पहाणोत्ति पओल-
गिगओ महंतयं । तंपि सेणियस्स विणयपरायणमवल्लोइऊण सेणियमोलगिगउमारद्धो । अन्नया तत्थ भगवं वहुमाणसामी
समोसद्धो । सेणिओ सबलवाहणो वंदिउं निग्गओ । तओ फलसालो भगवंतं समोसरणलच्छीए समाइच्छियं नियच्छंतो
पविन्निहओ ! नूणमेस सवुत्तमो जो एवं नरिंदविंददाणविंदेहिं वंदिजइ ता अलमन्नेहिं । एयस्स चैव विणयं करेमि ।
तओ अवमरं पाविऊण खग्गखेडगकरो चरणेसु निवडिऊण विन्नविउं पवत्तो । भयवं ! अणुजाणह, अहं भे ओलग्गामि ।
भगवया भणियं, भइ ! नाहं खग्गफलगहत्थेहिं ओलगिज्जामि, किं तु रओहरणमुहपोत्तियापाणीहिं, जहा एए अन्ने

१ 'वद्धमाण—' इत्यपि ॥

ओलग्गति । तेण भणियं, जहा तुब्भे आणवेह तहेवोलग्गामि । तओ जोगोत्ति भगवया पवाविओ, सुगइं च णविओत्ति ।
एवं विणीओ धम्मरिहो होइत्ति ॥

अथैकोनविंशस्य कृतज्ञतागुणस्यावसरस्तत्र परेण कृतमुपकारमविस्मृत्या जानातीति कृतज्ञः प्रतीत एव । अतस्तं
फलद्वारेणाह—

बहु मद्भइधम्मं गुरुं परमुचयारिस्सि तत्तबुद्धीए । तत्तो गुणाण बुद्धी गुणारिहो तेणिह कयन्नू ॥ २६ ॥

'बहु मन्यते' सगौरवं पश्यति 'धर्मगुरुं' धर्मदातारमाचार्यादिकम्, 'परमोपकारी' ममायम्, उद्धृतोऽहमनेनाकारणव-
त्सलेन भगवताऽतिघोरसंसारकूपकुहरे निपतन्, 'इति' एवंप्रकारतया 'तत्त्वबुद्ध्या' परमार्थसारमत्या स हि भावयत्ये-
धमागमवाक्यम्—“तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो । तं जहा—अम्माप्पिउणं भट्टिस्स धम्मरियस्स ।” इत्यादि । 'ततः'
तस्मात् कृतज्ञताभावजनितगुरुवहुमानाद् 'गुणाना' क्षान्त्यादीनां ज्ञानादीनां वा 'वृद्धिः' भवतीति गम्यते । तथा हि—
स गुरोरुपकारितां परिभावयन्निर्भस्मितो न कुप्यति, नापि मानमालम्बते, नापि विनयहानिं विधत्ते, नापि वञ्चनापरि-
णामभास्कन्दति । अत एव सुप्रसन्नाद्गुरोः सकाशात् ज्ञानादिगुणानाम्प्रोति । क्रमेण गुरुरुपदमपि लभते । 'गुणार्हः' धर्म
प्रतिपत्तियोग्यः । 'तेन' हेतुना 'इह' धर्माधिकारिविचारे 'कृतज्ञः' उक्तस्वरूप इत्यत्र भीमो दृष्टान्तः ॥

स चायम्—

तगराए नयरीए रइसारो राया समणोवासओ । तस्स य पुत्तो भीमो नामा । सो संगहियकलाकलावो नाणाकीलाहि
कीलंतो भणिओ रत्ता, पुत्त ! कहमद्धसिक्खिओवि रमिउमिच्छसि ? । तेण भणियं, ताय ! कहमहमद्धसिक्खिओऽग्निह ।
ताहे पडियं रत्ता, वावत्तरीकलापंडियावि पुरिसा अपंडिया चैव, सबकलाण पहाणं जे धम्मकलं न याणंति । भीमेण
चिंतियं ताओ सच्चमुल्लवइ, जमद्धसिक्खिओहं । जओ नामंपि न मे सुअपुवं धम्मकलाए ता तायं चैव पुच्छामि । तओ
पुच्छिओ, ताय ! कहिं सा लब्भइ ? रत्ता भणियं, साहूणं समीवे । तो खाइं नेहि मं तत्थत्ति बुत्ते नीओ सो राइणा साहु-
समीवे । तेहिं धम्मो कहिओ । अभिरुइओ कुमारस्स । तप्पभिइं च सिक्खिओ चिइवंदणाइं । गहियाइं अणुबयाइं ।
जाओ परमसावओ । चक्कवट्टिरज्जलाभाओवि अन्नमहियं परितुट्ठो जिणधम्मसंपत्तीए । चिंतियं पवत्तो, अहो ! पुत्तव-
च्छलया तायस्स समुद्धरिओहं जेण रुद्दाओ भवसमुद्दाओ । पडिवोहिओमिह पलित्तगिहपसुत्तो । सबहा परमोवयारिणो
इमस्स न विप्पियलेसोवि मए कायवो । जइयव च पियं संपाइउंति गहियाभिग्गहो सावगधम्ममणुपालिउं पवत्तो ।
अन्नया रत्ता रायवाडियं वच्चंतेण दिट्ठा पासाओवरि कीलमाणी एगा सेट्टिकन्नया । रूवाइसयरंजिएण मग्गाविया । न
य दिट्ठा सेट्टिणा भणियं च । जइ इमीए सुओ होही, न सो रज्जं पाविही । जओ अत्थि रत्तो भीमकुमारो रज्जारिहोत्ति ।
तओ तमलभमाणो राया वाढमरइमणुपविट्ठो । सुयमिणं भीमेणं । तओ मए धरमाणे तायस्स इच्छाभंगोत्ति ससंभमेण
गंतूण भणिओ सेट्ठी, देहि धूयं देवस्स । नियमो मे रज्जकरणे । सेट्टिणा भणियं, तुह पुत्ता होहिंति, ते मम नचुयं परिभ-
विस्संति । जइ एवं न परिणिस्सामि चैवाहं । कुणसु विसत्थो रायसासणंति कुमारेण बुत्ते तुट्ठेण दिट्ठा सेट्टिणा दारिगा ।
परिणाविओ राया । जाया सा चैव महादेवी । क्रमेण पसूया सबलक्खणोववेवं दारयं । सोवि परिवट्ठिओ कालेण । राया

जाओ । भीमोवि बंधचेरधारी सम्मं समणोवासगधम्ममणुपालेइ । कयाइ दद्वओत्ति पसंसिओ सक्केण । तयणु असह-
हंतो एगो देवो गणियाखुवं काऊण तज्जणणीखुवेण य गंतूण भणिओ । भो कुमार ! उत्तमकुलसंभूओत्ति, धम्मिओत्ति,
दयालुओत्ति, अब्भत्थियसारोत्ति तं एसा वराई मम धूया तुह ख्वालयणसमुच्छलियमयणानलज्जालिपलित्तगत्ता
कालधम्ममुवगच्छइ । जीवइ य तुह ससिणेहदिट्ठिदाणेण । ता करेहि तीए जीवावणेण महंतं पुत्तसंचयंति । कुमारेण
वुत्तं भवे ! न कयाइ विसं भुत्तं जीवावेइ । न सन्निवायस्स दुद्धं पच्छं । ता तीए धम्मोसहं देहि । नाहं वयभंगमंगीक-
रेमि । एयं च्चैव कारुणं जं परो पावे न पवत्तिजइ । एमाइकोमलालावेहिं पडिसिद्धा कुट्टणी । ताहे निप्पकपोत्ति पसं-
सिओ भीमो देवेण । कमेण जाओ परलोगाराहगोत्ति । एरिसो कयञ्चु सुत्तभणियगुणभायणं भवइत्ति ॥ २६ ॥

अथ विंशतितमगुणी परहितार्थकारी, तत्स्वरूपं नामत एव सुगमम् । अतस्तस्य धर्मप्राप्तौ फलमाह—

परहियनिरओ धन्नो सम्मं विन्नायधम्मसवभावो । अन्नेवि ठवइ मग्गे निरीहचित्तो महासत्तो ॥२७॥

यो हि प्रकृत्यैव परेषां हितकरणे निरन्तरं रतो भवति स 'धन्यो' धर्मधनार्हत्वात् 'सम्यग्विज्ञातधर्मसद्भावः' यथावद्बु-
द्धधर्मतत्त्वो गीतार्थीभूत इति यावत् । अनेनागीतार्थस्य परहितमपि चिकीर्षतस्तदसंभवमाह । तथा चागमः—“किं
एत्तो कट्ठयरं जं सम्ममनायसमयसवभावो । अन्नं कुदेसणाए कट्ठतरागंमि पाडेइ ॥ १ ॥ ” ‘अन्यानपि’ मन्दमतीन्
'स्थापयति' स्थिरीकरोति 'मार्गं' शुद्धधर्मं किंविशिष्टः सन् ? इत्याह—‘निरीहचित्तो’ निःस्पृहमनाः सस्पृहः शुद्धमार्गोप-
देष्टापि न प्रशस्यः । उक्तं च—“परं लोकाधिकं धाम तपः श्रुतमिति द्वयम् । तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥ १ ॥”
किमित्येवंविधः ? इत्याह—‘महासत्त्वः’ इति कृत्वा, यतः सत्त्ववतामेवामी गुणाः संभवन्ति—“परोपकारैकरतिर्निरीहता
विनीतता सत्यमनुच्छचित्तता । विद्याविनोदोऽनुदिनं न दीनता गुणा इमे सत्त्ववतां भवन्ति । १ ।” इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

इहोदाहरणम्—

विजयवद्धणे नयरे विसालसिद्धिपुत्तो विजओ नाम होत्था । तेण उवज्झायसमीवे निसुयं, पुरिसेण खमापहाणेण पर-
हियरण य होयवं । जमेत्तो इहलोयपरलोएसु कल्लाणमासाइज्जइ । गहियं तेण तत्तवुद्धीए । अन्नया नवपरिणीयभज्जा-
णयणकज्जेण गओ ससुरकुलं । आगच्छंतस्स य भज्जाए च्चितियं हद्धी निग्घिणाहं जा जणणिजणए मोत्तूण परगिहं
वच्चामि । को पुण उवाओ ? जेण एत्तोवि छुट्टेज्जामि । तओ अंतरालपत्ताए नाइदूरे जुन्नकूवं दद्वूण भणिओ भत्ता ।
दढं तन्हा इयण्ह मरामि, जइ मे उदगं न देसि । तओ विजओ एहि इओ कूवाओ जलं पाएमित्ति भणंतो चलिओ
कूवाभिमुहं । गया पिट्ठओ इयरीवि । विसत्थं कूवालयणपरं पेळ्ळिऊण तं झत्ति पलाणा गया गामं । सउणकारणाउ न
तेण नीयम्हत्ति साहियं जणयाणं । इयरोवि पडंतो झत्ति विलग्गो कूवतडुवभवतरुखंधे । तथाधारेण य ओइत्तो कूवा-
ओ । कीस तीए वराईए पेळ्ळिओम्हत्ति च्चिततेण नायं नियगिहे दु (उ) कंठियाए । भणियं च उवज्झाएण खमापहाणेण
होयवं ता अलं तं पइ कोवेणंति अप्पाणं संठाविऊण गओ गेहं । पुच्छिओ जणणीए किन्नागया सुण्हा ? तेण भणियं,
आगच्छंती अवसउणकारणाओ मए मुक्का । तप्पभिइं च पेसिजंतोवि सो तत्थ न वच्चइ च्चितइ य, किं तीए वराईए
दुक्खुप्पायणेण । अन्नया मित्तेहिं वाढमुवहसिओ गओ तत्थ । सगोरवं च केइ दिणे अच्छिऊण गहिऊण य तं समागओ
गेहं । कालेण य जाओ परोपरं सिणेहो । उवरएसु जणएसु ताणि च्चैव घरसामित्तं पत्ताणि । अन्नया च्चितियं विज-
एण, अहो ! अवितहमुवज्झाएण मुवइट्ठं । दिट्ठो खमागुणो । इयाणिं परहियरओ भवामि । तओ दीणाईण दाणे पवत्तो ।
दद्वूण य केइ विवयमाणे पियवयणेहिं उवसामेइ भणइ य । सयणन्स सत्तियं विप्पियं दिट्ठपि हियए धारियवं । जओ
'जं-पियाओ अजंपियं वरं, परस्सवि पुच्छियाओ अपुच्छियं वरं, सुयाओ असुअं वरं' । एवं सयणभावो सुहावहो होइ ।
अन्नया जिट्ठपुत्तेण पुच्छियं, ताय ! किमेवं सबलोयस्स उवइसिज्जइ ? विजएण भणियं वच्छ ! अणुहवसिद्धं ममेयं, तेण
सबलोयस्स उवएसं देमि । पुणो पुत्तेण पुट्ठं, कहं भवओ अणुहवसिद्धमेयंति कहेहि, कोउगं मे वट्टइ । विजएण वुत्तं
सिट्ठमेव मए । 'पुच्छियाओ अपुच्छियं वरं, सुयाओ असुयं वरं' तो अलं निबंधेण । तओ पुत्तो दद्वयरवहियकोउहलो
पुणो पुणो झिखइ । अइणिच्छएण भणिय पिउणा । किलाहं तुह जणणीए पुरा जुन्नागडे खित्तो, न य मए तरसावि तं
सिट्ठं, तं च परिणामसुदरं जायं । तएवि न एयमन्नस्स साहियवंति । अन्नया सुएण हसिऊण पुच्छिया जणणी, अम्मो !
किं सच्चमेयं ? तुमए ताओ जुन्नकूवे पेळ्ळिओ । पुत्त ! कहं जाणासित्ति मायाए वुत्ते तेण भणियं ! मम ताएण च्चैव
सिट्ठ । तओ नायं भत्तुणा मइयं पेळ्ळणंति लज्जिया धसत्ति हिययफुट्टणेण गया पंचत्तमेसा । सोऊण हाहारवं समागओ
सेट्ठी । विन्नायवुत्तंतो विसन्नो वाढं । ममेस दोसोत्ति झूरिऊण सुइरं सुद्धिमिच्छंतेण दिट्ठा कहिंवि साहुणो, मग्गिया
सुद्धिं । तेहि भणिओ पवयाहि । सो भणइ, कहं निद्धणेहिं परहियमायरिज्जइ ? कहं वा परहियविहाणाओ अन्नं कल्लाण-

कारणं ? साहृहिं भणियं, भद् ! धम्मोवएसाओ अभयदाणाओ वा अन्नं परहियमेव नत्थि । यत उक्तम्—“नोपकारो जगत्यत्र तादृशः कोऽपि विद्यते । यादृशी दुःखविच्छेदादेहिनां धर्मदेशना ॥ १ ॥” तथा—“जीवितार्थे नरेन्द्रोऽपि पूर्णा यच्छति मेदिनीम् । प्राणिरक्षासमं दानमतो लोके न विद्यते ॥ १ ॥” “जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए । तओवि संजमो सेओ अदितस्सवि किंचणं ॥ १ ॥” एवं सोऊण पडिबुद्धो पण्डओ विजओ । जाओ सपरोवयारसा-हगोत्ति । एवं परहियत्थकारी धम्मारिहोत्ति ॥

इदानीमेकविंशतितमो लब्धलक्ष्यगुणः फलतोऽभिधीयते—

लक्खेइ लद्धलक्खो सुहेण सयलंपि धम्मकरणिज्जादक्खो सुसासणिज्जो लुरियं च सुसिक्खिओ होइ ॥२८॥

‘लक्षयति’ जानाति प्रतनुज्ञानावरणत्वाल्लब्धमिव लब्धं लक्ष्यं शिक्षणीयानुष्ठानं येन स ‘लब्धलक्ष्यः’ ‘सुखेन’ अल्ले-शेनात्मनः शिक्षयितुश्च निर्वेदमनुत्पादयन्नित्यर्थः । ‘सकलं’ समस्तमपि ‘धर्मकरणीयं’ वन्दनप्रत्युपेक्षणादिकम् । अयम-भिप्रायः—पूर्वभवाभ्यस्तमिव सकलं इदित्येवाऽधिगच्छति । तथा चाह—“प्रतिजन्म यदभ्यस्तं जीवैः कर्म शुभाशुभम् । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते सुखम् ॥ १ ॥” अत एव ‘दक्षो’ द्राक्कारी ‘सुशासनीयः’ सुखशिक्षणीयः ‘त्वरितं’ स्तोककालेन चकारस्योपरियोगात् ‘सुशिक्षितः’ शिक्षापारगामी च (‘भवति’) स्यात् । आर्यरक्षितवत्—

स हि दशपुरनगरे सोमदेवद्विजन्मनो रुद्रसोमायाश्च पुत्रः । कुतोऽपि पाटलिपुत्रादेश्चतुर्दशविद्यास्थानपारगो भूत्वा स्वं

१ ‘प्राण-’ इत्यपि ॥

पुरमाजगाम । कृताभिगमो राज्ञा नागरकैश्च स्वगृहं चाविशत् । स्थितो वहिः शालायाम् सर्वस्वजनैरभिनन्दितो, न तु मात्रा । ततश्चोत्कण्ठितो मातुरभिवन्दनाय गृहान्तरविशत् । कृतवान् मातुः पादवन्दनम् । तथाऽपि दत्ताशिपा संभा-पितो मध्यस्थवृत्त्या नात्युत्कटप्रमोदया । ततोऽसौ विज्ञाततदाकूतस्तां पप्रच्छ, मातः ! नदागमनेन जनः परजनोऽपि परं प्रमोदमाससाद, न पुनर्भवती, किमत्र कारणम् ? । साऽवोचत्, पुत्र ! कथमिव मम प्रमोदो भवति ? दुर्गतिगमननि-वन्धनानि कुशास्त्राणि पठित्वाऽऽगते । यदि परं दृष्टिवादमधीत्य मां प्रमोदयसि । ततः किमन्यजनेनानन्दितेन, यज्ज-नन्यै रोचते तदेवाध्येतुमुचितमित्यवधार्य मातरमपृच्छत्, क पुनरम्भ ! दृष्टिवादः संपद्यते ? । तयोच्चे, पुत्र ! तवैवेक्षुय-त्रागारे तोशल्लिपुत्राचार्याणां पार्श्वे लभ्यते । यद्येवं तुष्यतुतरामम्बा, प्रातरेव पूरयामि मनोरथान्, इत्यभिधाय दृष्टिवाद-पदस्यार्थमनुस्मरन्नतिक्रान्तप्रायायां रजण्यां जननीमापृच्छ च प्रस्थितोऽसौ सूरीन् प्रति । प्रणतश्चान्तरा पूर्वदिवसाप्राप्ते-नेक्षुयष्टिकलापसमर्पणपूर्वकस्वमित्रेण । प्रधानशकुनोऽयमित्यानन्दितेन गणिता इक्षुयष्टयः । नवपरिपूर्णा दशम्याश्चार्द्ध-मालोक्य चिन्तितमनेन । तत्र दृष्टिवादे कियन्तोऽप्यधिकारा न ज्ञायते, मया नव पूर्णा अध्येतव्याः, दशमश्चार्द्धमिति संचिन्त्य मातुर्भृतिसंपादनाय भणितो वयस्यः । एता मम मातुः समर्पणीया वक्तव्यं च यत्र प्रयोजने तव पुत्रः प्रस्थि-तस्तत्राहमेव प्रथममभिमुखोऽभवमिति । गत्वा च कथिते तेन मात्राऽपि तदेव फलमवोधि । रक्षितोऽपि प्राप्तः स्राधू-पाश्रयसमीपमज्ञाततद्द्वन्दनादिव्यवहारो ग्राभ्य इव कथं प्रविशामि ? इत्यालोचयन् श्रावकमेकं प्रविशन्तं ददर्श, प्रविष्टश्च तदनुमार्गेण । नैपिधिकीर्याप्रतिक्रमणवन्दनप्रत्याख्यानसाधुवन्दनादि सर्वमक्षुण्णं तेन सह विधायोपविष्टो गुरुसमीपे । ज्येष्ठश्रावकावन्दनालक्षितो गुरुभिरभिनवश्रावकोऽयमिति . पृष्टश्च देवानुप्रिय ! कुतस्ते धर्मप्राप्तिरभूत् ? । रक्षितः प्राह, इतो वृद्धश्रावकात् । कदा ? संप्रत्येव । अत्रान्तरे साधुभिरुक्ते, भगवन् ! शय्यातरीसुतोऽयं रक्षितकुमारः, यस्यातीतवासरे राज्ञा प्रवेशोत्सवो व्यधीयत । ततोऽहो ! लब्धलक्षितास्येति विस्मितैः क्लिग्धमधुरया दृशा विलोक्य भणितोऽसौ सूरिभिः । सौम्य ! सर्वजनवल्लभस्य भवतः किमस्माभिरातिथ्यं विधीयताम् ? । ततः प्राञ्जलिपुटः प्रत्याह वडुः, भगवन् ! दृष्टिवा-दप्रदानेन प्रसादः क्रियताम् । सूरिराह, साधु साधु शोभनो मनोरथो भवतो योग्यश्चासि वाढं दृष्टिवादस्य । किं तु नासौ गृहस्थेभ्यो वितीर्यते । यतयोऽप्यधीताद्यैकादशाङ्गास्तपाठाधिकारिणो भवन्ति । स प्राह, यथा चारु भवति तथैव पठामि, प्रदीयतां दीक्षाऽपि । गुरुराह, यद्येवमापृच्छेता राजस्वजनवर्गौ । तेनोच्चे, न मम राजादिभिः कार्यम्, मातृमनो-रथसंपादनमेव चिकीर्षामीति निवेदितजननीजल्पोऽनल्पमतिविभवः संग्रहीतुमुचितोऽयमिति परिभाव्य प्रव्राजितोऽसौ सूरिणा । स्वजनादिभयाच्च विहृताः सर्वेऽप्यन्यत्र । कथानकशेषमावश्यकादवगच्छेत् ॥

इह पुनर्दृष्टमात्रानुष्ठानग्राही लब्धलक्ष्यो रक्षितवद्धर्माधिकारी स्यादित्यावेदितम् । इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

अथ प्रस्तुतोपसंहारद्वारेण प्रकरणार्थनिगमनायाह—

एए इगवीसधुणा सुयाणुसारेण किचि वक्खाया । अरिहंति धम्मरयणं धेत्तुं एएहि संपन्ना ॥ २९ ॥

‘एते’ पूर्वोक्तस्वरूपाः, एकविंशतिसंख्यागुणाः ‘श्रुतानुसारेण’ प्रकरणान्तरोपलम्भद्वारेण ‘किञ्चित्’ असामस्त्येन, तेषा प्रकरणान्तरेषु विचित्रव्याख्याश्रवणात्सामस्त्येन कथयितुमशक्यत्वात् ‘व्याख्याताः’ स्वरूपतः फलतश्च प्ररूपिताः । कि-

विनयोऽभ्युत्थानादिः । उक्तं च—“अब्जुद्घाणंजलीकरणं तद्देवासणढायणं । गुरुभक्तिभावसुस्सुमा विणओ सो विया-
होओ ॥ १ ॥” बहुमानो मानसः प्रीतिविशेषः । तदुक्तम्—“भावेण अणुदिनं चिय एस गुरु पंडिओ महप्पा य । इय
माणसपरिणामो बहुमाणो माणणिज्जेसु ॥ १ ॥” ताभ्यां सारं प्रशस्तं यथा भवत्येवं व्रतश्रवणं करोतीति योगः । इह
चत्वारो भङ्गाः—कश्चिद्भूतो विनयसारं वन्दनादिदानतः शृणोति परिज्ञानार्थी, न पुनर्व्याख्यातरि बहुमानवान् भवति,
कर्मगुरुत्वात् १। अन्यस्तु बहुमानवान् भवति न विनयं प्रयुङ्क्ते, शक्तिविकलत्वात्, स च ग्लानादिः २। अन्यस्तु प्रत्यास-
न्नकल्याणो द्वाभ्यां समेतः शृणोति ३। कश्चिद्गुरुतरकर्मा द्वितयमपि परिहरति शृणोति च, न च तस्मै गुणोप्यागमा-
नुसारिप्रवृत्तेः कथयितुं युक्तम् ४। यत एवमागमः—“चत्तारि अवायणिज्जा पन्नत्ता । तंजहा—अविणीए १, विगयपडि-
द्वे २, अविओसियपाहुडे ३, पवलकोवमाई ४ ।” तथा—“ओहेणवि उवएसो आएसेणं विभागसो देओ । नाणाइवु-
ह्विजणओ महुरगिराए विणीयस्स ॥ १ ॥” जओ—“अविणीयमाणवैतो किलिस्सई भासई मुसं तह य । घंटाओहं नावं
को कडकरणे पवत्तेज्जा ॥ १ ॥” अतो विनयबहुमानमारं व्रतश्रवणं करोतीति प्रकृतम् । कुतः सकाशात् ? इत्याह—
गीतार्थात् । तत्र—“गीयं भन्नइ सुत्तं अर्थो तस्मेव होइ वक्खणं । गीएण य अर्थेण य संजुत्तो होइ गीयर्थो ॥ १ ॥”
तस्मादन्यस्यान्यथाऽपि प्ररूपणासंभवेन विपरीतवोधेतुत्वादिकं व्रतकर्म १ । भङ्गकभेदातिचारान् ‘व्रतानाम्’ अनुव्रता-
दीना सम्यग् विजानाति । तत्र भङ्गकाः—“दुविहं तिविहेण पढमो दुविहं दुविहेण वीयओ होइ । दुविहं एगविहेणं एग-

१ अन्यत्र “मालवतो” इत्यस्ति ॥

विहं चैव तिविहेणं ॥ १ ॥ एगविहं दुविहेणं एकेकविहेण छट्टओ होइ । उत्तरगुणसत्तमओ अत्रिरओ चैव अट्टमओ ॥ २ ॥
एते प्रत्येकं पट्ट पट्ट भवन्ति । द्विकसंयोगादिप्रकारेण चानेकधा । यत्त आह—“पंचणहणुत्रयाणं एक्कगदुगतिगचउक्क-
पणएहिं । पंचग दस दस पण एक्कगो य संजोगनायव ॥ १ ॥ तत्थेक्कगसंजोगे पंचणहवयाण तीमइं भंगा । वुगमंजोगाण
दसण्ह त्तिज्जि सट्टा सया होंति ॥ २ ॥ तिगजोगाण दसण्हं भंगसया एगवीसई सट्टा । पणचउसंजोगाणं चउसट्टिसयाणि
असिआणि ॥ ३ ॥ सत्तत्तरीसयाइं छसत्तराइं च पंचसंजोगे । उत्तरगुणअविरयमेलियाण जाणाहि सघमं ॥ ४ ॥
सोलस चैव सहस्सा अट्टसया चैव होंति अट्टहिया । एसो उ सावगाणं वयगहणविही समासेण ॥ ५ ॥” एवमेकैकव्रतस्य
नवभङ्गकल्पनया तथैकविंशतिकल्पनयैकोनपञ्चाशत्कल्पनया च विचार्यमाणा अनेकधा श्रावकव्रतभङ्गका भवन्ति । ते
चावहितैरक्षादिसंचारणयाऽवगन्तव्याः । तन्मात्रिका चैयम्—“त्तिज्जि तिया त्तिज्जि वुया त्तिज्जेक्केक्का य हुंति जोगेसु ।
तिदुएगं तिदुएगं तिदुएगं चैव करणाइं ॥ १ ॥” स्थापनाङ्ककाः—

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ |
| ३ | २ | १ | ३ | २ | १ | ३ | २ | १ |

एते तावन्नव भङ्गाः । उक्तं
च—“न कुणइ न कारवेई करंतमन्नपि नाणुजाणाइ । मणवइका

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३ | २ | १ | ३ | २ | १ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|

एणेक्को एवं सेसेवि जा-
णेज्जा ॥ १ ॥” एते एवानुमतिप्रत्याख्यानवदादित्रिकविकलाः पूर्वोक्ताः पट्ट भवन्ति । एतेषामेवानुमतिपरिहारैर्णैकविं-
शतिः—“तत्थ पढमपए एक्को भंगो, वीए त्तिज्जि, तइए त्तिज्जि, चउत्थे दो, पंचमछट्टेसु छ छ भंगा ल्ळंति सत्तेवि
एक्कविंसा ।” तथैकोनपञ्चाशदेवं भवन्ति—“पढमेगो त्तिज्जि तिया दो नवगा त्तिज्जि तह य दो नवगा । अउणापन्नं भंगा
सत्ते ते हुंति नायवा ॥ १ ॥” एवमेकधा व्रतभङ्गान् जानाति । तथा भेदान् सूक्ष्मवादरसंकल्पजारम्भजसापराधनिरपराधा-
दिरूपान् जानाति । तथाऽतिचारान् वधवन्धछविच्छेदादीन् जानाति । व्रतानामनुव्रतादीनां सम्यक् सुविचारितान् विशेषेण
जानातीति द्वितीयव्रतकर्म २ ॥ ३५ ॥

अथ तृतीयमाह—

गिणहइ गुरुण मूले इत्तरमियरं व कालमह ताई । आसेवइ थिरभावो आयंकुवसंगसंगेवि ॥ ३६ ॥

‘गृह्णाति, प्रतिपद्यते ‘गुरुणां’ आचार्यादीनां ‘मूले’ समीपे । यतोऽभाणि—“उवउत्तो गुरुमूले संविग्गो इत्तरं व इयरं
वा । अणुदिहयमणुसरतो पालेइ विसुद्धपरिणामो ॥ १ ॥” आह स श्रावको देशविरतिपरिणामे सति व्रतानि प्रति-
पद्यतेऽसति वा ? किं चातो यद्याधः पक्षः किं गुरुसमीपगमनेन ? साध्यस्य सिद्धत्वात् प्रतिपद्यापि व्रतानि देशविरति-
परिणाम एव साध्यः, स चास्य स्वत एव सिद्ध इति गुरोरप्येवं परिश्रमयोगान्तरायदोषपरिहारादिति । द्वितीयश्चेत्, तर्हि
द्वयोरपि मृपावादप्रसङ्गात् परिणामाभावे पालनस्याप्यसंभवात् । तदेतत्सकलं परोपन्यस्तमचारु, उभयथाऽपि गुणोप-
लब्धेः । तथा हि—मत्यपि देशविरतिपरिणामे गुरुसमीपप्रतिपत्तौ तन्माहात्म्यान्मया सद्गुणस्य गुरोराज्ञाऽऽराधनीयेति
प्रतिज्ञानिश्रयाद्गतेषु दृढता जायते, जिनाज्ञा चाराधिता भवतीति । उक्तं च—“गुरुसक्खिओ हु धम्मो संपुज्जविही-
कया इय विसेसो । तित्थयराणं आणा साहुसमीवंमि वोसिरओ ॥ १ ॥” गुरुदेशनाश्रवणोद्भूतकुशलतराध्यवसायात्कर्म-
णामधिकतरः क्षयोपशमः स्यात् । तस्माच्चाल्पं व्रतं प्रतिपित्सोरपि बहुतमव्रतप्रतिपत्तिरूपजायते । इत्यादयोऽनेके गुणा
गुरोरन्तिके व्रतानि गृह्णन् संभवन्ति । तथाऽसन्नपि विरतिभावो गुरुपदेशश्रवणाश्रयसारपालनातो वाऽवश्यंभावी

धर्मरत्नप्रसवृत्तिकम्

सरलहृदयस्येति द्वयोरपि गुरुशिष्ययोर्मृषावादाभाव एव गुणलाभात् । शठाय पुनर्न देयान्येव गुरुणा व्रतानि । छद्म-
स्यतया पुनरलक्षितसाध्यस्य शठस्यापि दाने गुरोः शुद्धपरिणामत्वाददोष एव । न चैतत् स्वमनीषिकयोच्यते । यत्
आह—“संतम्मिवि परिणामे गुरुमूलपत्रज्जणमि एस गुणो । दढया आणाकरणं कम्मक्खओवसमवुद्धी अ ॥ १ ॥ इय
अहिए फलभावे न होइ उभयपल्लिमंधदोसोवि । तयभावग्मिवि दोण्हवि न मुसावाओवि गुणभावा ॥ २ ॥ तग्गहणओ
च्चिय तओ जायइ कालेण असदभावस्स । इयरस्स न देयं चिय सुद्धो छल्लिओवि जइ असदो ॥ ३ ॥” कृतं विस्तरेण ।
अत्र पुनरपि कश्चिदाह—विस्तरभीरुमपि भदन्तं किञ्चित् प्रस्तावादायातं पृच्छामि । संप्रति दुष्पमादोषाद्गुणवन्तो गुरवो
नोपलभ्यन्ते, ततः स्थापनाचार्यसमीपे श्रावको व्रतं प्रतिपद्यतां वा मा वा ? गुरुराह—सौम्य ! कथं नाम गुरवो नोप-
लभ्यन्ते ? दूरदेशवर्तित्वाद्यन्तासंभवाद्वा ? यदि दूरदेशवर्तित्वात्तदा तदर्थिनस्त्रैव गन्तुमुचितं धर्मार्थत्वस्यान्यधा-
नुपपत्तेः । अथात्यन्तासंभवोऽनुपलम्भहेतुः । सोऽतितरामनुचितो वक्तुं सूत्रविरोधात् । उक्तं च—“न विणा तित्थं नियंठेहिं
नातित्था य नियंठया । छक्कायसंजंमो जाव ताव अणुसज्जणं दोण्हं ॥ १ ॥” द्वयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोर्व-
कुशकुशीलयोर्वा । अथागमविरोधभयान्नो अत्यन्ताभावमभ्युपगच्छन्ति भवन्तः । किं तु सन्तोऽपि कापि वयं नोपलभामह
इति भवतां मतमित्यपि महाधृष्टवष्टोत्तरम् (?) यतः शतशः पञ्चमहाव्रतधारिणः, पञ्चसमितिप्रधानाः, त्रिगुप्तिपाल-
नपराः, कालोचितयतनावन्तः, सततं सिद्धान्तामृतपानलालसाः, कुप्राहाग्रहविनिर्मुक्तमानसाः समुपलभ्यन्त एव महा-

१ ‘सज्जो’ इत्यपि । २ ‘अणुसज्जणा’ इत्यपि ॥

मुनयः । तत्कथं नोपलभ्यन्त मध्यस्थधार्मिकैः ? इति सतोऽप्यनुपलम्भो महत् दृष्टेदूषणम् । सति च तस्मिन् किं व्रत-
ग्रहणेन ? इति । तथा गुरुमूले प्रतिपन्नमूलगुणस्य साधोरिव श्रावकस्यापि तद्विरहे स्थापनागुरुरुपदिष्टः । तथा चाह—“गुरु-
विरहम्मि य ठवणा भणिया समयंमि पुव्वमूरीहिं । आज्जिदप्पविरओ अपमाओ चैव कप्पम्मि ॥ १ ॥” न चैकान्ते-
नासंयुक्तस्यासतो वा विरहसंभव इति, तस्माद् व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते, कालोचितक्रियावतो गीतार्थस्य निःस्पृहमतेः
सर्वसत्त्ववत्सलस्य गुरोरन्तिके गृही महाव्रतानामिवाणुव्रतानां ग्रहणं करोति न स्थापनागुरोरिति स्थितम् । तत्पुनः ‘इत्वरं’
चातुर्मासादिप्रमितं ‘इतरं’ यावत्कथिकं वा कालं यावत् ‘अथ’ परिज्ञानादनन्तरं ‘तानि’ इति प्रस्तुतव्रतानि, इति तृतीयं
व्रतकर्म ३ । ‘आसेवते’ सम्यक् परिपालयति ‘स्थिरभावः’ निष्प्रकम्पमनाः । आतङ्को रोगः, उपसर्गो दिव्याद्युपद्रवः, तयोः
सङ्गेऽपि संपर्केऽपि सति । तत्रातङ्कसङ्गे आरोग्यद्विजवत्, उपसर्गसङ्गे कामदेवश्रावकवत् । इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

आरोग्यद्विजचरितमिदम्—

उज्जेणीए नयरीए देवगुत्तस्स माहणस्स नंदाए भारियाए पुत्तो अहेसि । सो पुण कुओवि पुव्वदुक्कयाओ रोगेहिं न
मुचइत्ति अकयनामो रोगो चैव जणे पसिद्धो । अन्नया ईसरनामोऽणगारो भिक्खंतो तेसिं गिहमणुपत्तो । तओ माहणेण
दारयं पाएसु पाडिऊण विन्नत्तो । भययं ! तुम्हे सबं जाणह ता कारुन्नमवलंबिय कहेहि एयस्स रोगोवसमोवायं । सा-
हुणा भणियं, न सैमुयाणंतेहिं कहा कीरइ । तओ तेहिं मज्झण्हसमए उज्जाणं गंतूण वंदिओ पुच्छिओ य । साहुणा भ-

१ दृष्टिदूषणे । २ भिक्षाश्रमद्वि ॥

ण्णइ—“पावाउ होइ दुक्खं तं पुण धम्मेण नासई नियमा । जलणपलित्तं गेहं विज्जाइ जओ जलोहेण ॥ १ ॥ धम्मेण
सुचिन्नेणं सिग्घं नासंति सयलदुक्खाइं । एयारिसाइं नियमा न य हुंति पुणो परभवेवि ॥ २ ॥” एवं पवंधदेसणाए
पडिबुद्धा दोवि समणोषासगा जाया । विसेसओ वडुगो दढधम्मयाए भावणासारं रोगमहियासेइ, सावज्जं तिगिच्छंपि
न कारवेइ । अन्नया दढधम्मोत्ति पसंसिओ देविदेण । तमसइहंता वेज्जरूवेण समागया दुवे देवा भणिउं पवत्ता । अम्हे
एयं वडुयं पन्नवेमो, जइ अम्हेहिं भणियं किरियं करेइ । सयणेहि भणियं, केरिसी सा किरिया ? पुव्वणेहे महुअवलेहो, पच्छिमणे
जुआसवपाणं, भोयणं निसाए, समक्खण कूरं, जलयराइतिविहमंसमोसहेहिं सद्धिं भोत्तवन्ति । पडिभणियं वडुएण,
एएसिमेगंवि न करेमि, वयभंगभयाओ । विज्जेहिं भणियं, ‘सरीरं धम्मसाहणं’ जेण वा तेण वा पओगेण तं पवणिज्जइ,
वयभंगोवि पच्छित्ताणुचरणेण सुज्झइ चैव, इच्चाइविचित्तजुत्तीहिं भणिओ सयणेहिं रत्तावि । जाहे न पडिवज्जइ ताहे
तुडेहिं पयडीहोऊण पसंसिओ देवेहिं, नीरोगसरीरो कओ । आणांदिओ मयणवग्गो, ससलोगो य । अहो ! धम्ममाहपंति
पडिबुद्धाणेगे पाणिणो । तप्पभिडं च आरोगदिओ से नामं जायं । संखेवओ भणियमारोगदियचरियं । विशेषतः
पृथ्वीचन्द्रचरितादवसेयम् ॥

एवमातङ्कसङ्गेऽपि स्थिरचित्तः श्रावकः स्यादिति ४ । तथा कामदेवचरितं प्रसिद्धमेवेति न भण्यते ॥

उक्तः कृतव्रतकर्म १ । अथ शीलवन्तमभिधित्सुराह—

आययणं खु निसेवइ वज्जइ परगेहपविसैणमकजे । निच्चमणुव्वभडवेसो न भणइ सत्रियारवयणाइं ॥३७॥

मर्थम् ? इत्याह—यतः 'अर्हन्ति' योग्यतासारं धर्मरत्नं ब्रहीतुं न पुनर्वसन्तनृपवद्राजलीलामिति भावः । कः ? इत्याह—
'एभिः' अनन्तरोक्तैर्गुणैः 'संपन्नाः' संगताः संपूर्णा वा । इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

आह किमेकान्तेनैतावद्गुणसंपन्ना एव धर्माधिकारिणः, उतापवादोऽप्यस्ति ? इत्युच्यते—

पायद्गुणविहीणा एएसिं मज्झिमा वरा नेया । एत्तो परेण हीणा दरिद्रपाया मुणेयत्वा ॥ ३० ॥

इहाधिकारिणस्त्रिधा विचिंत्या उत्तममध्यमजघन्यभावेन । तत्रोत्तमाः संपूर्णगुणा एव । पादश्चतुर्थांशोऽर्द्धं प्रतीतमेव ।
गुणशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् । पादप्रमाणैरर्द्धप्रमाणैश्च गुणैर्ये हीनाः, 'एतेषाम्' उक्तगुणानां मध्यात्ते यथाक्रमं म-
ध्यमा वरा ज्ञेयाः । चतुर्थांशहीना मध्यमाः, अर्द्धेन हीना जघन्या इति भावः । तेभ्योऽपि हीनतरेषु का वार्त्ता ? इ-
त्याह—'एत्तो परेण' इति एभ्योऽपि परेणार्द्धाद्यधिकैः 'हीनाः' रहिताः 'दरिद्रपायाः' अकिंचनजनकल्पाः 'मुणि-
तव्याः' वेदितव्याः । यथा हि दरिद्रा उदरभरणचिन्ताग्याकुलतया न रत्नक्रयमनोरथमपि कुर्वन्ति । तथैतेऽपि न धर्मा-
भिलाषमपि विदधति । इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

एवं च स्थिते यद्विधेयं तदाह—

धर्मरयणत्थिणा तो पढमं एयज्जणमि जइयवं । जं सुद्धभूमिगाए रेहइ चित्तं पवित्तंपि ॥ ३१ ॥

धर्मरत्नमुक्तस्वरूपं, तदर्थिना तल्लिप्सुना, 'तत्त.' तस्मात्कारणात् 'प्रथमं' आदौ एषां गुणानां अर्जने विदपने 'यति-
तव्यं' तदुपार्जनं प्रति यत्नो विधेयः, तदविनाभावित्वाद्धर्मप्राप्तेः । अत्रैव हेतुमाह—'यस्मात्' कारणात् 'शुद्धभूमिकायां'
अकलङ्काधारे 'रेहइ' इति शोभते 'चित्तं' चित्रकर्म 'पवित्रमपि' प्रशस्तमपि लिखितं सत् । इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

इहाप्यबुधजनवित्रोधनायागमप्रसिद्धमुदाहरणं वर्णयन्त्याचार्याः—

सागेयपुरे महावलो नाम राया दूयमापुच्छइ । किं मम रायंतरभावि रायलीलोचियं वत्थु नत्थि ? । दूएण भणियं, स-
वमत्थि देवस्स एगं चित्तमहं मोत्तुं । तीएवि किर नयणमणोहारिविचित्तचित्तावलोयणेण रायाणो चंकमणलीलमायरंति ।
एयमायन्निद्रण रत्ता संजायकोउगेण समाइट्ठो मती । तेण य कारिया तुरियमेव दीहरविसाला महासहा । समाहूया न-
यरपहाणा विमलपहासनामाणो दुवे य चित्तयरा । समप्पिया तेसिमद्धद्धभाएण अंतरा चिलिमिलं दाऊण भणिया य ।
न तुब्भेहिं अन्नोद्धं कम्मं अवलोयणीयं, नियनियवुद्धीए चित्तियवं, न य वेठी मंनियत्वा, जहाविज्जाणं भे पसाओ कंज्जि-
हिति (?) । तओ ते अहमहमिगाए कम्मं पकया जाव वइकंता छमासा ताव य ऊसुगेण पुच्छियं रत्ता । विमलेण
भणियं, निम्माओ मदीयभागो । विरुविओ रत्ता अइसयसुंदरोत्ति कओ से महापसाओ । तओ पुच्छिओ पभासो, सो
भणइ, नाहमज्जवि चित्तरंभ करेमि, जओ भूमिगाकम्ममेव मम निम्मायंति । केरिसं पुण तं भूमिकम्मंति विग्धिएण
राउणावणीया परियच्छी, जाव दिट्ठं तत्थ विसेसरम्मं चित्तकम्मं । तओ सकोवमिव भणिओ पभासो, भो ! किमम्हेवि
विप्पयारेमि ? । तेण भणियं, न सामी विप्पयारीयइ, पडिर्विसंक्रमो एसोत्ति भणंतेण दाविया जवणिगा । विग्धिएण
भणियं रत्ता, किमेरिसी भूमी कीरइ ? । पभासेण वुत्तं, देव ! इमीए चित्तं थिरयरं भवइ, वन्नयाण कंती विउणा वित्थइ,

१ "कज्जिओहिति" "कज्जिन्दिहि" इत्यपि पाठौ दृश्येते ॥

स्वयाणं च भावुत्तासो होइ । तओ तुट्ठेण राइणा कओ से विउणो पसाओ । भणियं च एयमेवं चैव चिद्धउ । संचारि-
मचित्ताचित्तसहत्ति अउवा मे पसिद्धी होउत्ति । एस एत्थ उवणओ—जहा चित्तं काऊण कमेण तेण भूमी सुद्ध परि-
कम्मिया । एवं धम्मचित्तत्थिणावि एएहिं गुणेहि आया परिकम्मियवोत्ति ॥

आह धर्मो द्विधा, श्रावकधर्मो यतिधर्मश्च । श्रावकोऽप्यविरतो विरतश्च । तत्राद्यस्यान्यत्र—“तत्थिगारी अत्थी स-
मत्थओ जो न सुत्तपडिक्कुट्ठो । अत्थी उ जो विणीओ समुवठिओ पुच्छमाणो य ॥ १ ॥” इत्यादिनाधिकारी निरूपितः ।
द्वितीयस्यापि—“संपत्तदंसणार्डं पइदियहं जइजणा सुणेइत्ति । सामायारिं परमं जो खलु तं सावयं विति ॥ १ ॥” तथा—
“परलोगहिंयं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो । अइत्तिवकम्मविगमा सुक्कोसो सावगो एत्थ ॥ १ ॥” इत्यादिभि-
रसाधारणैः श्रावकशब्दप्रवृत्तिहेतुभिः सूत्रैरर्थत एवंविधाः श्रावकधर्माधिकारिण उक्ताः । तथा यतिधर्माधिकारिणोऽप्य-
न्यत्रान्यथैवोक्ता । तद्यथा—“पद्यजाए अरिहा आरियदेसंमि जे समुप्पन्ना । जाइकुले हि विसिद्धा तह खीणप्पाय-
कम्ममला ॥ १ ॥ तत्तो य विमलवुद्धी दुलह मणुयत्तणं भवसमुहे । जम्मो मरणनिमित्तं चवलाओ संपयाओ अ ॥ २ ॥
विसया य दुक्खहेकं संजोगे नियमओ विओगोत्ति । पइसमयमेव मरणं एत्थ विवागो य अइरोहो ॥ ३ ॥ एवं पयईए
च्चिय अवगयसंसारनिगुणसहावा । तत्तो य तविरत्ता पयणुकसायऽप्पहासा य ॥ ४ ॥ सुकयन्नया विणीया रायाईणम-
विरुद्धकारी य । कहाणंगा सद्धा थिरा नहा समुवसंपन्ना ॥ ५ ॥” तदेभिरेकविंशतिभिर्गुणैः कतमस्य धर्मस्याधिकारित्व-

१ विरतश्रावकस्य तु । २ 'अहविवागो हवउ र्हो' इत्यपि ॥

मुक्तम् ? इत्यत्रोच्यते—एतानि सर्वाण्यपि शास्त्रान्तरीयाणि लक्षणानि प्रायेण तत्तद्गुणस्थानकस्याङ्गभूतानि वर्तन्ते, चित्रस्य वर्णकशुद्धिविचित्रवर्णतारेखाशुद्धिनानाभावप्रतीतवत् । प्रकृतगुणाः पुनः सर्वधर्मस्थानानां साधारणभूमिकेव चित्रप्रकाराणामिति सूक्ष्मबुद्ध्या परिभावेनीयम् । वक्ष्यति च—“दुविहंपि धम्मरयणं तरइ नरो घेत्तुमविगलं सो उ । जस्सेगवीसगुणरयणसंपया सुत्थिया अत्थि ॥ १ ॥” अत एवाह—

सइ एयंमि गुणोहे संजायइ भावसावयत्तंपि । तस्स पुण लक्खणाइं एयाइं भणंति सुहगुरुणो ॥३२॥

‘सति’ विद्यमाने ‘एतस्मिन्’ अन्तरोक्ते ‘गुणौघे’ जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपे ‘संजायते’ संभवति ‘भावश्रावकत्वमपि’ दूरे तावद्भावयतित्वमित्यपेक्षः । आह किमन्यदपि श्रावकत्वमस्ति ? येनैवमुच्यते भावश्रावकत्वमिति, सत्यम्, इह जिनागमे सर्वेऽपि भावाश्रतुर्विधा एव, ‘नामस्थापनाद्रव्यभावेस्तस्यासः’ (त० १ । ५ ।) इति वचनात् । तथा हि— नामश्रावकः सचेतनाचेतनस्य पदार्थस्य यच्छ्रावक इति नाम क्रियते । स्थापनाश्रावकश्चित्रपुस्तकमादिगतः । द्रव्यश्रावको ज्ञशरीरभ्यशरीरव्यतिरिक्तो देवगुरुतत्त्वादिश्रद्धानविकलः, तथाविधजीविकाहेतोः श्रावककारधारकः । भावश्रावकस्तु—“श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनं दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम् । कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥ १ ॥” इत्यादिश्रावकशब्दार्थधारी यथाविधिश्रावकोचित्तव्यापारपरायणो वक्ष्यमाणः, स चेहाधिकृतः । शेषत्रयस्य यथाकथंचिदेव भावादिति । नन्वागमेऽन्यथा श्रावकभेदाः श्रूयन्ते । यदाह स्थानाङ्गम्—“चउच्चिहा सावगा

१ “सर्वधर्माणाम्” इत्यपि ॥ २ अन्यत्र “धनम्” इति । २ ‘समणोवासागा’ इत्यपि ॥

पन्नत्ता । तं जहा— अम्मापिइसमाणे १, भाइसमाणे २, मित्तसमाणे ३, सवत्तिसमाणे ४ । अहवा चउच्चिहा सावगा पन्नत्ता । तं जहा—आयंसमाणे १, पडागसमाणे २, खाणुसमाणे ३, खरंटसमाणे ४ । एते च साधूनाश्रित्य द्रष्टव्याः । ते चामीषां चतुर्णां मध्ये कस्मिन्नवतरन्ति ? इति उच्यते,—व्यवहारनयमतेन भावश्रावका एवैते, तथाव्यवहियमाणत्वात् । निश्चयतस्तु खरण्टसपत्नीसमानौ मिथ्यादृष्टिप्रायौ द्रव्यश्रावकौ । शेषास्तु भावश्रावकाः । तथा हि तेषां स्वरूपमेवमागमे व्याख्यायते—“चित्तइ जइकजाइं न दिट्ठखलिओवि होइ निन्नेहो । एगंतवच्छलो जइजणस्स जणणीसमो सट्ठो ॥ १ ॥ हियए सगिणेहो च्चिय मुणीण मंदायरो विणयकम्मे । भाइसमो साहूणं पराभवे होइ सुसहाओ ॥ २ ॥ मित्तसमाणो माणा ईसि रुसइ अपुच्छिओ कज्जे । मन्नंतो अप्पाणं मुणीण सयणाउ अब्भहियं ॥ ३ ॥ थद्धो छिहप्येही पमायखलियाणि निच्चमुच्चरइ । सट्ठो सवत्तिकण्पो साहुजणं तणसमं गणइ ॥ ४ ॥” तथा द्वितीयचतुष्के—“गुरुभणिओ सुत्तथो विविज्जइ अवितहो मणे जस्स । सो आयंससमाणो सुसावओ वत्तिओ समए ॥ १ ॥ पवणेण पडागा इव भामिज्जइ जो जणेण मूढेण । अविणिच्छियगुरुवयणो सो होइ पडाइयातुल्लो ॥ २ ॥ पडिवन्नमसग्गाहं न मुयइ गीयत्थसमणुसिट्ठोवि । थाणुसमाणो एसो अपओसी मुणिजणे णवरं ॥ ३ ॥ उम्मग्गदेसओ निन्हवोसि मूढोसि मंदधम्मोसि । इय संमंपि कहंतं खरंटए सो खरंटसमो ॥ ४ ॥ जह सिढिलमसुइदवं लुप्यंतं पिहु नरं खरंटेइ । एवमणुसासगं पिहु दूसिंतो भन्नइ खरंटो ॥ ५ ॥ निच्छयओ मिच्छती खरंटतुल्लो सवत्तितुल्लोऽवि । व्यवहारओ उ सट्ठा जयंति जं जिणगिहाईसु ॥ ६ ॥” इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ‘तस्य’ पुनर्भावश्रावकस्य ‘लक्षणानि’ चिह्नानि ‘एतानि’ वक्ष्यमाणानि ‘भणंति’ अभिदधति ‘शुभगुरवः’ संविग्रसूरयः । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

तान्येव लिङ्गान्याह—

कयवयकम्मो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुव्वहारी । गुरुसुसुंसो पवयणकुसलो खलु सावगो भावे ॥३३॥

कृतमनुष्ठितं व्रतविषयं कर्म कृत्यं भणिष्यमाणं येन स ‘कृतव्रतकर्मा’ १। ‘तथा शीलवान्’ अपि व्याख्यास्यमानस्वरूपः २। ‘गुणवान्’ विवक्षितगुणोपेतः ३। चकारः समुच्चये भिन्नक्रमश्च । ततः ‘ऋजुव्यवहारी च’ शरलमनाश्च ४। ‘गुरुश्रूषः’ गुरुसेवाकारी ५। ‘प्रवचनकुशलः’ जिनमततत्त्ववित् ६। ‘खलुः’ अवधारणे । एवंविध एव श्रावको भवति । ‘भावे’ भावविषये भावश्रावकः । इति गाथाक्षरार्थः ॥ ३३ ॥

भावार्थं स्वत एव विभणिषुः ‘यथोद्देशं निर्देशः, इति न्यायात् कृतव्रतकर्माणमादावाह—

तत्थायन्नणजाणणैगिणहणैपडिसेवणैसुं उज्जुत्तो । कयवयकम्मो चउहा भावत्थो तस्सिमो होइ ॥ ३४ ॥

‘तत्र’ तेषु पदसु लिङ्गेषु मध्ये कृतव्रतकर्मा चतुर्धा भवतीति संबन्धः । आकर्षणं श्रवणं १, ज्ञानमवबोधो २, ग्रहणं प्रतिपत्तिः ३, प्रतिसेवनं सम्यक्पालनम् ४। सर्वेषामपि ब्रह्मः, तेषु व्रतानामिति प्रक्रमात् गम्यते । ‘उद्युक्तः’ उद्यमवान् ‘भावार्थः’ ऐदपर्यन्तस्य चतुर्विधस्याप्ययमासन्नभणिष्यमाणो ‘भवति’ इति व्यक्तम् । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

भावार्थमेवाह—

विणयवहुमाणसारं गीयत्थाओ करेइ वयंसवणं । भंगयैभेयइयारे वयाण सम्मं वियाणाइ ॥ ३५ ॥

परिहरइ बालेकीलं साहइ कजाइँ महुँरनीईए । इय छविहसीलजुओ विज्ञेओ सीलवंतोत्थ ॥ ३८ ॥

‘आयतनं’ धार्मिकजनमूलनस्थानम् । उक्तं च—“जत्थ साहम्मिया बहवे सीलवंता बहुसुया । चरित्तायारसंपत्ता आययणं तं त्रियाणाहि ॥ १ ॥” ‘खुः’ अवधारणे, प्रतिपक्षप्रतिषेधार्थः । ततश्चायतनमेव निषेवते भावश्रावको, नाना-यतनमिति योगः । “न भिल्लपल्लीपु न चौरसंश्रये न पार्वतीयेषु जनेषु संवमेत् । न हिंस्रदुष्टाशयलोफसञ्जिधौ कुसङ्गतिः साधुजनस्य निन्दिता ॥ १ ॥” तथा—“दंसणनिवभेयणिया चरित्तनिवभेयणी य अणवरयं । जत्थ पयट्टइ विगहा तम-णाययणं महापावं ॥ १ ॥” प्रथमशीलम् १ । तथा वर्जयति ‘परगृहप्रवेशनं’ अन्येषां मन्दिरेषु गमनं ‘अकार्ये’ कार्या-भावे सति, नष्टविनष्टादावाशङ्कासंभवात् । एत्थ सामायारी—“सावगो जइवि चियत्तंतेउरपरघरपवेसो वञ्जिजइ तहावि तेण एणागिणा पुरिसरहिए परगिहे न पविसियवं । कज्जेवि परिणयवओ सहाओ घेतवो” इति द्वितीयं शीलम् २ । तथा ‘नित्यं’ सदा ‘अनुद्धटवेषः’ अनुत्थणनेपथ्यो भवति भावश्रावको न पिङ्गप्रायनेपथ्यः । तथा हि—“लंखस्त व परिहाणं गसइ व अंगं तहंगिया गाढा । सिरवेढो ढमरेणं वेसो एसो सिडंगाणं ॥ १ ॥ सिहिणाण मग्गदेसो उग्घाडो नाहिमंडलं तह य । पासा य अद्धपिहिया कंचुयओ एस वेसाणं ॥ २ ॥” इहैव तदाकृतम्—पुरुषाणां स्त्रीणां च नानादेशेषु नानारूपाणि ने-पथ्यानि भवन्ति, ततो यद्यत्रानिन्दितं शिष्टाभीष्टं च, तच्छ्रावकश्राविकाभिर्नेपथ्यं विधेयमिति । अत्रे भणंति—“कुल-देसाण विरुद्धो वेसो रञ्जोवि कुणइ नो सोहं । वणियाण विसेसेणं विसेसओ ताण इत्थीणं ॥ १ ॥ संतलयं परिहाणं झलं व चोलाइयं च मज्झिमयं । सुसिलिद्धमुत्तरीयं धम्मं लच्छि जसं कुणइ ॥ २ ॥ परिहाणमणुब्भडचलणकोडिमज्जायमणु-सरंतं तु परिहाणमकमंतो कंचुयओ होइ सुसिलिद्धो ॥ ३ ॥” इत्याद्येतदपि सङ्गतमेव, किं तु क्वचिदेव देशे कुले वा घ-टते । श्रावकास्तु नानादेशेषु कुलेषु च संभवन्ति, तस्माद्देशकुलाविरुद्धो वेपोऽनुद्धट इति व्याख्यानं व्यापकमिह सङ्-गतम् । इति तृतीयं शीलम् ३ । तथा ‘न भणति’ न व्रूते सविकाराणि रागद्वेषत्रिकारोत्पत्तिहेतुभूतानि वचनानि, वाच-स्तत्परीहास्यादिभिः परिवादशीलतया, मुखरतया वा । तत्र रागोत्पादकानि शृङ्गारसाराणि । यथा—“राज्ये सारं वसुधा वसुंधराया पुरं पुरे सौधं । सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनामङ्गसर्वस्वम् ॥ १ ॥ दधिशीताम्बुतामूलपुण्यपण्याङ्गनाजैः । असा-रोऽप्येव संसार सारवानिव लक्ष्यते ॥ २ ॥” तथा—“प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः । प्राप्यते यत्र निर्वाणं स-रागेणापि चेतसा ॥ १ ॥” द्वेषोदयकारणानि—“रे दासीसुय ! माईय माया ते छिंछई जणपसिद्धा । खरफरुसवयणतविओ मरेज्ज मारेज्ज वा कोइ ॥ १ ॥ एसो चोरो जारो निही य लद्धो इमेण निवभंतो । एसो रायविरोही मंसक्खाई इमो अहवा ॥ २ ॥ पाविट्ठा रायाणो ढसवेससमत्ति जं सुई भणियं । रायगुरु सुरपाई दासीए पई गुरु कहणु ॥ ३ ॥ एसा-ईवयणाई फरुसाइ परस्स अप्पणो चैव । उवघायकुलक्खयकारणाई चिगियाई सघाई ॥ ४ ॥” तथा धर्मविरुद्धान्यपि न व्रूते भावश्रावकः । तद्यथा—“हत्थागया इमे कामा कालिया जे अणागया । को जाणइ परे ? लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥ १ ॥ चतुर्थं शीलम् ४ ॥ ३७ ॥ तथा ‘परिहरति’ नासेवते ‘वालक्रीडां’ वालिशजनविनोदव्यापाराम् । उक्तं च—“चउरंगमारिपट्टियघट्टाई लावयाइजुद्धाई । पम्होत्तरजमगाई पहेलियाईई नो रमइ ॥ १ ॥” इति पञ्चमशीलम् ५ । तथा ‘साधयति’ निष्पादयति ‘कार्याणि’ प्रयोजनानि ‘मधुरनीत्या’ सामपूर्वकम् । सौम्य ! सुन्दर ! एवं कुरु, एवं क्रियते, इत्थं कृतं सुकृतं स्यात्, इति शिक्षादानेन परिजनं कर्मकरादिलोकं मधुरगिरा प्रवर्त्तयति । यतः—“प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः । तस्मात्तदेव वक्तव्यं किं वचनेऽपि दरिद्रता ॥ १ ॥ अशिक्षितात्मवर्गेण म्लानिं याति यतः प्रभुः । अतः शिक्षाः प्रदातव्या प्रत्यह मृदुभाषया ॥ २ ॥” तथा—“स्वाधीने माधुर्ये मधुराक्षरसंभवेषु वाक्येषु । किं नामसत्त्ववन्तः पुरुषाः परुषाणि भाषन्ते ॥ १ ॥” अन्यैरप्युक्तम्—“क्षमी यत्कुरुते कार्यं न तत्कोपवसंगतः । कार्यस्य साधिनी प्रज्ञा सा च कुलस्य नश्यति ॥ १ ॥” इति । मतान्तरे दुराराध्यताभिधानमेतत् पठं शीलम् ६ । भावश्रावकस्य शीलान्तरव्युदा-सेन शीलवन्तमुपसंहरन्ति । इत्युपदर्शितपङ्क्तिशीलयुक्तो विज्ञेयः, शीलवान् ‘अत्र’ श्रावकविचारे । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३८ ॥

एतदेव शीलं गुणदोषोपदर्शनद्वारेण भावयन्नाह—

आययणसेवणाओ दोत्ता जिज्जंति वड्डइ गुणोहो । परगिहगमणांपि कलंकपंकमूलं सुसीलाणं ॥ ३९ ॥ सहइ परसंतो धम्मी उव्भडवेसो न सुंदरो तस्स । सवियारजंपियाई नूणमुईरंति रागग्गि ॥ ४० ॥ वालिसजणकीलावि हु लिंगं मोहस्सणत्थदंडाओ । फरुसवयणाभिओगो न संगओ सुद्धधम्माणं ॥ ४१ ॥

आयतनमुक्तस्वरूपं, तस्य सेवनादुपासनात् ‘दोषाः’ मिथ्यात्वादयो ‘हीयन्ते’ हानिमुपयान्ति । ‘वर्धते’ वृद्धिमुपैति ‘गुणौघः’ ज्ञानादिगुणकलापः । तथा हि—“सन्तप्तेऽयसि संस्थितस्य पयसो नामापि नो दृश्यते मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं व्यज्यते । स्वाती सागरशुक्तिमध्यपतितं तज्जायते मौक्तिकं प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जा-

यते ॥ १ ॥” ‘परगृहगमनं’ पूर्वोक्तं, अपिशब्द उपरि योक्ष्यते । ‘कलङ्कपङ्कमूलं’ अभ्याख्यानप्राप्तिहेतुः ‘सुशीलानामपि’ साधूनामपीति भावः । तथा ह्यागमे भिक्षार्थमपि गतस्य साधोरुपवेशनं निषिद्धम् । यतोऽवाचि—“गोयरगपविद्धस्त निस्सेजा जस्त कप्पइ । इमेरिसमणायारं आवज्जइ अवोहियं ॥ १ विचत्ती बंभचेरस्स पाणाणं च वहे वहो । वणीमगप-
डिग्घाओ पडिकोहो अगारिणं ॥ २ ॥ अगुत्ती बंभचेरस्स इत्थिओ वावि संकणा । कुसीलवह्वणं द्वाणं दूरओ परिवज्जए ॥ ३ ॥” श्रावकस्तु सुतरां शङ्कास्थानं स्यात् । अवश्येन्द्रियत्वाद्व्रतहानिं चामुयात् । उक्तं च—“सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां तावहृजां विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । श्रुचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथयुपो नीलपक्षमाण एते यावह्रीलावतीनां न हृदि धृतिमुपो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥ १ ॥” तथा ‘सहइ’ इति शोभते ‘प्रशान्तः’ प्रशान्तवेपो ‘धर्मी’ इति धर्मवान् धार्मिकः श्रावको यतिर्वा, अतः कारणात् ‘उद्भटवेपः’ रागान्धजघन्यजननेपथ्यो ‘न सुन्दरो’ नैव शोभाकारी ‘तस्य’ धार्मिकस्य स हि तेन सुतरामुपहासस्थानं स्यात् । ‘नाकामी मण्डनप्रियः’ इति लोकोक्तेर्विशेषतो यो-
षिद्धिधवा च । भणितं च केनापि—“लन्होच्छी सद्दालं जुत्तं मायावित्तहं करइ न वुत्तउ । पसरह जाइवियालह आवइ एह नारि महुमणह न भावइ ॥ १ ॥” तथा ‘सविकारजल्पितानि’ सश्रृङ्गारभणितानि ‘नूनं’ निश्चितं ‘उदीरयन्ति’ उद्दीपयन्ति रागाग्निम् । अत एवोक्तम्—“जं सुणमाणस्स कहं सुट्ठयरं जलइ माणसे मयणो । समणेण सावएणवि न सा कहा होइ कायघा ॥ १ ॥” उपलक्षणं चैतत्—द्वेषानलम‘युदीरयन्ति कानिचित् । यदाह—“मम्मं कम्मं जम्मं तिन्निवि एयाइं मा हु पयडेजा । मा मम्मकम्मविद्धो मरेज्ज मारेज्ज वा कोइ ॥ १ ॥” तथा ‘वाल्लिशजनक्रीडाऽपि’ वर्णितस्वरूपा ‘हुः’ अलङ्कारे । ‘लिङ्गं’ चिह्नं ‘मोहस्य’ अज्ञानस्य ‘अनर्थदण्डत्वात्’ निष्फलपापारम्भप्रवृत्तेः । तथा परुषवचनेन ‘रे दरिद्र ! दासीपुत्र !’ इत्यादिनाऽभियोग आज्ञादानं ‘न सङ्गतो’ नोचितः ‘शुद्धधर्माणां’ प्रतिपन्नजिनपतिमतानां धर्महानिर्धर्मलाघवहेतुत्वात् । तत्र धर्महानिः—“फरुसत्रयणेण दिणतवं अहिक्खिवंतोवि हणइ मासतवं । वरिसतवं सवमाणो हणइ हणंतोऽवि सामन्नं ॥ १ ॥” इत्याद्यासवचनात् । धर्मलाघवं पुनरहो ! महाधार्मिकाः, परपीडापरिहारिणः, सविवेकाश्च श्रावका यदेवं ज्वलदङ्गारोत्कराकारगिरो निगिरन्तीत्यादिलोकोपहासात् । तथा—“अप्रियमुक्ताः पुरुषाः प्रवदन्ते द्विगुणमप्रियं यस्मात् । तस्मान्न वाच्यमप्रियमप्रियं वा श्रोतुकामेन ॥ १ ॥” तथा—“विरज्यते परीवारो नित्यं कर्कशभाषिणः । परिग्रहे विरक्ते च प्रभुत्वं हीयते नृणाम् ॥ १ ॥” इत्याद्यैहिकानर्थाश्च परुषभाषिणां संभवन्ति । सर्वथा न शोभते जैनानां कपायानलोद्दी-
पनम् । उक्तं च—“जइ जलइ जलउ लोए कुसत्थपवणाहओ कसायग्गी । तं चोज्जं जं जिणवयणसल्लिसित्तोवि पज्ज-
लइ ॥१॥” अत एव भगवता महावीरेण महाशतकमहाश्रावकः सत्येऽपि परुषे जल्पिते प्रायश्चित्तं ग्राहितः ॥३९॥४०॥४१॥

तत्संविधानकं चेदम्—

रायगिहे नयरे महासयगो गाहावई होत्था । तस्स अट्ट हिरन्नकोडीओ निहीपउत्ताओ, अट्ट बुद्धिपउत्ताओ, अट्ट वि-
त्थरपउत्ताओ, अट्ट वया दसगोसाहस्सिया । रेवइपमुहाओ तेरस भज्जाओ । रेवईए कोलघरियाओ अट्ट हिरन्नकोडीओ
निहाणपउत्ताओ, अट्ट बुद्धिपउत्ताओ, वित्थरपउत्ताओवि अट्ट, दस दस गोसाहस्सिया अट्ट वया । सेसियाणं तिसुवि द्वा-
णेसु एगेगा हिरन्नकोडी, एगेगो वओ दसगोसाहस्सिओ । एवं से अट्टे दित्ते अपरिभूए वहूणं सेट्टिसत्थवाहपमुहाणं सय-
णपरियणस्स मेट्टिभूए विहरइ । अन्नया भयवं महावीरे गामाणुगामं विहरमाणे तत्थ समणुपत्ते गुणसिलए उज्जाणे समोसठे
रइयं देवेहि समोसरणं । निग्गओ वंदणवडियाए सेणिओ राया नागरजणो महासयगो य । वंदिऊणोवविट्ठाण सवेसिं
पारद्धा भगवया धम्मकहा।तंजहा—असारो संसारो जम्मजरामरणरोगसोगाइमहासत्तुसंतावपउरो। दुल्लहो जाइकुलरूवारोग-
संगओ मणुयभावो । अणिच्चं जीवियं पवइइ । अविज्ञायागमणो मच्चुमहारक्खसो । सबहा समत्थाणत्थसत्थवारणनिवारणमहा-
मइं दे धम्मे चैव ओज्जमो काउमुच्चिओ सयन्नविज्जाणाणत्ति । एवमाइअमयनिस्संदसुदरं जिणिंददेसणं सोऊण पडिवुद्धा
वहवे पाणिणो, गहिओचिओच्चियधम्मा य गया नियनियट्ठाणेसु । महासयगोवि समत्तपवित्तचित्तो पंचाणुवयमूलं
सत्तसिक्खावयसोहियं सावयधम्ममुवसंपज्जिऊण महानिहाणलाभाओवि अम्भहियपरिओसो पणमिऊण परमेसरं पत्तो
नियमंदिरं । पइदिणवह्माणपरिणामो पालिउं पवत्तो सावगधम्मं । इओ य सा रेवई गुरुकम्मयाए तस्संसग्गीए न नाम
पडिवुद्धा । अवि य अहियवरं विसयलोला मज्जमंसरसगिद्धा य जाया । तओ अन्नया उग्घोसिए अमाघाए तीए मंस-
मलभमाणीए भणियाऽभियोगपुरिसा । मम गोउलाओ दुवे कल्लोडगे वहिऊण मंसमाणेह । तेहिवि तहेव कए पइदिणं दो
दो कल्लोडगे विणासाविउमारद्धा । अन्नया विसयगिद्धिविद्धिओ ताओ दुवालसवि सवत्तिओ विसप्पओगेण सत्थपओगणे य
केणावि अविज्ञाया विणिवाएइ । तासि संतियं हिरण्णसुवज्जाइ पडिगाहित्ता तुट्टचित्ता विहरइ । सोवि महासयगो चोह-
सण्हं वासाणं पज्जंते जेद्धसुयं कुडुंवे ट्ठित्ता पोसहसालमणुपविसइ, उवासगपडिमाओ पडिवज्जइ । तमन्नया सा रेवई मज्ज-

मंसरसमत्ता उवसगिउं पवत्ता । भणइ पाणवहह ! किमेइणा कट्टाणुट्टाणेण, एयं तुह सरीरं सोमालं सुहलालियं च, ता भुंजाहि ताव पुद्यजियधम्मफलं । मा अवहीरेहि भावाणुरत्तं किंकरीभावपत्तं ममं वराइणिसि । तहवि अहियामिया तेण निच्चलचित्तेण उवसग्गा । फासियाओ एगारसवि उवासगपडिमाओ । पत्थावं जाणिऊण पडिविअमणसणं । तओ सुहभावणाभावनपरस्स कम्मखओवसमेण समुप्पण्णमोहिनाणं महासयगरस । तेण य सो पुद्यओ उवणममुद्दे जोयणसट्ठम्मं जाणइ पासइ । एवं दाहिणेण पच्छिमेण य । उत्तरेण चुल्लहिमवंतं वासहरपद्यं । अहे रयणप्पहाए लोलुयं नरयं जाणइ पासइ । अन्नया सा मज्जणुपाणमत्ता पावा रेवईवि पुणो उवसगिउं पवत्ता । तओ किमेसा एरिसिच्चि सवियकेण पउत्तो महामयगेण ओही । नाय च तीए निसेसं चरियं । लव्विखयं च नरयगइगामित्तं । तओ भणिया रेवई, पावे । केत्तियमज्जवि पावमुवज्जेसि । गच्छसि तुमं सत्तरत्तं अलसयवाहिपीडिया मरिऊण लोलुयनरयंमिसि । तं च सोऊणावगयमया मरणभयाभिभूया कुत्रिओ वाढमज्ज महामयगोत्ति अट्ठवसट्ठा गया एसा समंदिंरं । तंमि दिणे भगवं महावीरो तत्त्येव विहरइ । तओ गोयमसामिं समाइम्मइ, गच्छ गोयमा । महासयगं सावगं भणाहि । न खलु कप्पइ समणोवासगणं सच्चंपि परपीडाकरं भासं भासिच्चए, विसेसओ ते उत्तमगुणट्टाणद्वियस्स कयभत्तपच्चक्खाणस्स । तातुमं तस्स दुब्भासियस्स पायच्छित्तं पडियज्जाहिसि । तहत्ति पडिवज्जिऊण गोयमसामिणा भणिओ भगवंताएसं महासयगो । सोवि संवेगभरनिब्भरमणो भगवंतं वंदिऊण सम्ममालोएइ निंदइ गरहइ, भगवओ गोयमस्स समीवे पायच्छित्तं पडिवज्जिऊण कयसरीरपरिच्चाओ सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे चउपलिओवमट्ठिईओ देवो समुप्पन्नो । संखेवओ भणियं महासयगचरियं । विसेसओ उवासगदमंगाओ नायवंति ॥

उक्तं द्वितीयं भावश्रानकलक्षणम् २ । अधुना तृतीयमभिधित्सुः संबन्धगाधामाह—

जइवि गुणा बहुरूवा तहवि हु पंचहि गुणेहि गुणवंतो । इह मुणिवरेहि भणिओ सरूवमेसिं निसामेहि ॥

‘यदि’ इत्यभ्युपगमे । अभ्युपगतं मयेदम् । गुणाः ‘बहुरूपाः’ बहुप्रकारा अक्षुद्रत्वादय आदार्यादयोऽन्येऽपि प्रियंवदत्तादयः । तथाऽपि पञ्चभिर्गुणैर्गुणवान् ‘इह’ श्रावकविचारे ‘मुनिवरैः’ गीतार्थगुरुभिः ‘भणितः’ उक्तः । ‘स्वरूपं’ स्वतत्त्वं ‘एषां’ गुणानां ‘निशामय’ आकर्णय, इति शिष्यप्रोत्साहनाय क्रियापदम् । प्रमादी शिष्यः प्रोत्साह्य श्रावणीय इति ज्ञापनार्थम् । इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

स्वरूपमेवाह—

संज्ञाए कैरणमि य विणयम्मि य निच्चमेव उज्जुत्तो । सबत्थणंभिनिवेशो वहइ रुइं सुट्टुजिणवयणे ॥४३॥

शोभनमध्ययनं स्वेनात्मना वाऽध्यायः स्वध्यायः स्वाध्यायो वा, तस्मिन्नित्यमुद्युक्त इति योगः १ । तथा ‘करणे’ अनुष्ठाने २, ‘विनये’ गुर्वाद्यभ्युत्थानादिरूपे ‘नित्यं’ सदैव ‘उद्युक्तः’ प्रयत्नवान् भवतीति प्रत्येकमभिमवन्धात् । इति गुणत्रयम् ३ । तथा ‘सर्वत्र’ सर्वप्रयोजनेष्वैहिकामुष्मिकेषु, न विद्यतेऽभिनिवेशः कदाग्रहो यस्य सः ‘अनभिनिवेशः’ प्रज्ञापनीयो भवतीति चतुर्थो गुणः ४ । तथा ‘वहति’ धारयति ‘रुचिं’ इच्छा श्रद्धानं वा ‘सुट्टु’ वाढं ‘जिनवचने’ पारगतगदिते ५ । इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इत्थं गणनयोपदर्श्य गुणान् भावार्थकथनतः प्रदर्शयन्नाह—

पढणाईसज्झायं वेरगनिबंधणं कुणइ विहिणा । तवनियमवंदणाईकरणांमि य निच्चमुज्जमइ ॥ ४४ ॥

अच्चुट्टाणाईयं विणयं नियमा पउंजइ गुणीणं । अणभिनिवेशो गीयत्थभासिय नन्नहा मुणइ ॥ ४५ ॥

सवणकरणेसु इच्छा होइ रुई सइहाणसंजुत्ता । एईए विणा कत्तो सुद्धी सम्मत्तरयणस्स ॥ ४६ ॥

पठनमपूर्वश्रुतग्रहणम्, आदेशब्दात् प्रच्छनापरावर्त्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मकथा गृह्यन्ते, पञ्चप्रकारमपि स्वाध्यायं करोति । किंविशिष्टम् ? ‘वैराग्यनिवन्धनं’ विरागताकारणम्, ‘विधिना’ विनयबहुमानप्रधानम् । तत्र पठनविनयः—“पर्यस्तिका-मवष्टम्भं तथा पादप्रसारणम् । विकथां प्रवलं हास्यं वर्जयेद्गुरुसन्निधौ ॥ १ ॥” पठन्निति भावः । पृच्छाविनयः—“आसणगओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जागओवि य । आगम्मक्कुडुओ संतो पुच्छेज्जा पंजलिपुडो ॥ १ ॥” परावर्त्तनविधिरयम्—“फासुयथंडिलइरियं पडिकंतो अहव गहियसामइओ । चेलंचलपिहियमुहो सपयच्छेयं गुणइ सट्ठो ॥ १ ॥” अनुप्रेक्षा भावना तद्विधि—“चारित्तसंपउत्तो सुकयसुयपरिग्गहो निरावाहं । भवविलया य पसत्थ भावेज्जा भावणाजालं ॥१॥” धर्मकथाविधिः—“सुद्धं धम्मवएसं गुरुप्पसाएण सम्ममववुद्धं । सपरोवयारजणगं जोगस्स कहेज्ज धम्मत्थी ॥ १ ॥” तपोनियमवन्दनादीना करणे समाचरणे, चकारात्कारणानुमोदनयोश्च, ‘नित्यं’ प्रतिदिनं ‘उद्यच्छति’ प्रयतते । तत्र तपोनशनादि द्वादशधा । तदुक्तम्—“अनशनमूनोदरता वृत्ते. संक्षेपणं रसत्यागः । कायक्लेशः संलीनतेति वाह्यं तपः षोढा ॥ १ ॥ प्रायश्चित्तध्याने वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः । स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमाभ्यन्तरं भवति ॥ २ ॥” नियमा यतिविश्रामणोत्तरपारणककृतलोचनाधुघृतदानादिविषयाः । उक्तं च—“प्रहसंतगिलाणस्स य आगमगहणे य लोयकडसाह । उत्तर-

पारणगम्भि य दाणं सुबहुष्फलं होइ ॥ १ ॥” वन्दना चैत्यगुरुविषया, आदिशब्दात्पूजनादिपरिग्रहः, तेषां करणे नित्य-
मुद्यच्छति गुणद्वयस्य भावने । इत्याद्यगाथार्थः ॥ ४४ ॥ तथा अभिमुखमुत्थानमभ्युत्थानं, तदादिर्यस्य सोऽभ्युत्थानादिः,
आदिशब्दः स्वागतानेकभेदसंग्रहार्थः । ते च विनयसमाध्ययनादवर्गन्तव्याः । तमित्थंभूतं विनयं ‘नियमात्’ निश्चयेन
‘प्रयुक्ते’ विदधाति ‘गुणिनां’ आचार्यादीनां, विनयमूलत्वाद्गुणपरंपरायाः । आह च—“विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषा-
फलं श्रुतज्ञानम् । ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥ १ ॥ संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ २ ॥ योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः । तस्मात्कल्याणानां
सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ३ ॥” इति तृतीयगुणफलम् । ‘अनभिनिवेशः’ अभिनिवेशरहितो ‘गीतार्थभाषितं’ श्रुताधिको-
पदिष्टं ‘नान्यथा’ असद्भावरूपतया ‘मुणति’ प्रतिपद्यते, मोहोद्रेकाभावेन कदाग्रहाभावात् । उक्तं च—“न मोहोद्रेकता-
भावे स्वाग्रहो जायते क्वचित् । गुणवत्पारतन्त्र्यं हि तदनुत्कर्षसाधनम् ॥ १ ॥” इति चतुर्थगुणैदंपर्यम् । इति द्वितीय-
गाथार्थः ॥ ४५ ॥ तथा श्रवणमाकर्णनं, करणमनुष्ठानं, तयोः ‘इच्छा’ तीव्राभिलापो भवति रुचिः ‘श्रद्धानसंयुक्ता’ प्रती-
तिसंगतेति पञ्चमो गुणः । अस्या एव प्राधान्यख्यापनायाह—‘अनया’ द्विस्वरूपया रुच्या ‘विना’ अभावेन ‘कुतः शुद्धिः’
न कुतोऽपीत्याकूतम् । ‘सम्यक्त्वरत्नस्य’ प्रतीतस्य शुश्रूषाधर्मरागरूपत्वात् । तयोश्च सम्यक्त्वसहभाविलिङ्गतया प्रसिद्ध-
त्वात् । उक्तं च—“सुस्तुस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए । वेयावच्चे नियमो सम्महिट्टिस्स लिंगाई ॥ १ ॥” इति

१ “तु बहुष्फलं” इत्यपि । २ “—वमन्तव्या.” इत्यपि । ३ “मोहोद्रेकता” इत्यपि ॥

पञ्चमगुणभावना । अन्ये तु पञ्चगुणानित्थमभिदधति—“सुत्तरुई अत्थरुई करणरुई चेषणभिनिवेशरुई । गुणवंते पञ्च-
मिया अणिट्टिओच्छाहया होइ ॥ १ ॥” अत्रापि सूत्ररुचिः पठनादिस्वाध्यायप्रवृत्तिः । अर्थरुचिश्चाभ्युत्थानादिविनयं
गुणिनां प्रयुक्ते । करणानभिनिवेशौ तुल्यावेव । अनिष्ठितोत्साहता पुनरिच्छावृद्धिरेवेति न विरोधः शङ्कनीय इति ॥ ४६ ॥

ननु किमिच्छामात्रेणापि फलप्राप्तिरिष्यते सद्भावसारेणेष्यत एव ? इति ब्रूमः । तथा हि—

एगंमि सन्नियेसे एगस्स कुलपुत्तस्स य दो पुत्ता, जसो सुजसो य । दोवि जोवणत्था कयाइ धम्मदेवसूरिसमीवे धम्मं
सोऊण पडिबुद्धा पवइउमुवट्टिया पियरो आपुच्छंति । नेहमोहियाणि ताणि न य विसज्जंति । बहुं च भन्नमाणेहिं तेहिं
भणियं एगो पवयउ, एगो पुणमहं बुद्धभावे परिवाल्लो भवतु । तओ जेट्ठेण भणिओ कणिट्ठो, तुमं चिट्ठ, अहं पवयामि ।
तेओ सो भणइ, अहं चेष पवयामि । तओ जसेण वरमेसोवि ताव नित्थरउ । अहं पुण दुप्पडियाराणि जणयाणि कहम-
वमन्नेमिच्छिं चिंतियं विसज्जिओ सुजसो पवइओ विहिणा । विसुद्धपरिणामो नाणचरित्ताराहणसारो विहरइ । इयरोवि
जणएहिं अणिच्छंतोवि कारिओ तहवि य (ह) कुलकन्नयाए पाणिग्गहणं । पवत्तो किसिकम्माइववसाए । गिहवावारपवत्तोवि
वयगहणेक्कचित्तो कालं गमेइ । उवरएसुवि जणएसु दक्खिन्नसारयाए पइदिणं भज्जमापुच्छइ । सावि दीणाणणा रुयइ
चेव न उण विसज्जइ । तओ सो तीए पडिबोहणोवायमलहंतो दुक्खं चिट्ठइ । इओ य सुजससाहू विविहतवोक्कम्मत्तणु-
इयसरीरो ओहिणोवल्लज्जेट्ठभाइपडिबोहावसरो समागओ तस्स गिहं । पच्चभिन्नाओ भाउज्जायाए, सवहुमाणं वंदिओ य ।

१ ‘शुद्धवये’ इत्यपि । २ “तओ” इति क्वचित् नास्ति ॥

ठिओ तीए दंसिए उच्चिओवस्सए । कहिं घरसामिओत्ति पुट्ठाए सिट्ठं तीए, कम्मं काउं छेतं गओत्ति । भोयणावसरे पडि-
लाभिओ तीए साहू उच्चिएण भत्तपाणेण । भुत्तो विहिणा । नागओ जसोत्ति भत्तं गहाय पत्थिया पडिनियत्ता य
रुयंती । पुच्छिया एसा सुजसेण, किमद्धिइं करेसि ? । सा भणइ, स ते भाया एगभत्तेहिं चिट्ठइ, छुहिओ वट्ठइ, अंतरा य
अपारा गिरिनई वहइ, तेण भत्तं नेउं न तरामिच्छिं अद्धिइकारणं महंतं ममंति । साहुणा भणियं, गच्छ नइं भणाहि; मम
देवरस्स वारसवरिसाणि पवइयस्स जइ तेण दिवसंपि न भुत्तं ता मे मगं देहि महानइत्ति बुत्ते सा नईं ते मगं दाहित्ति ।
एवं बुत्ताए तीए चिंतियं मम पच्चक्खमेव भुत्तं अणेण, कहं न भुत्तं नाम ? । अहवा न जुत्तं गुरुवयणविकोवणं, जमेस
भणइ तं चेष करेमिच्छिं संपहारिऊण गया एसा । तहेव भणिए दिन्नो मग्गो नईए । कहमागयासि ? पुच्छिया भत्तुणा ।
तीएवि साहिओ सुजसागमणाइवुत्तंतो । भुत्तुत्तरे विसज्जिया जसेण भणइ कहं वच्चांमि ?, अज्जवि अपारा चेष नईं । जसेण
बुत्तं संपयमेवं भणिज्जासि ‘जइ भत्तुणाहमेकासिंपि न भुत्तमिह ता महानइ ! मे मगं पयच्छाहि’ सुट्ठुरं विम्हया तहेव
भणिए लद्धमग्गा सुहेण पत्ता सगिहं । वंदिऊण पुच्छिओ साहू, भयवं ! को एत्थ परमत्थोत्ति । मुणी भणइ, भइ ! जइ
रसगिद्धीए भुज्जइ तओ भुत्तं भवइ । जं पुण संजमजत्ताहेउं फासुयमेसणिज्जं तं भुत्तं न गणिज्जइ । अओ चेवागमे
भणियं—“अणवज्जाहाराणं साहूणं निच्चमेव उववासोत्ति ।” एवं तुह पइणोवि वंभचेरमणोरहसहियस्स तुहाणुरोहेण
कयभोगस्स अभोगो चेष । एयमायन्निऊण संविग्गाए चिंतियं तीए, अहो ! एस जसओ महाणुभावदक्खिन्नमहोयही
संसारविरत्तमणोवि चिरं मए धम्मचरणाओ खालिओ । समज्जियं महंतं धम्मंतराइयं । ता संपयं जुत्तमेण चेष सत्तं

समणत्तमणुचरिउं । एयं चेत्र नेहस्स फलंति भाविंतीए संपत्तो जसोवि, साहुं वंदिऊण निसन्नो नाइदूरे । कया साहुणा दोण्हं पि सुद्धदेसणा । पडिबुद्धाणि पघइयाणि । कालेण पत्ताणि सुरलोगंति । एयमेस जसो इच्छामंत्तेणावि चरणवि-
सएण पावारंभेण न लिच्छोत्ति ॥

उक्तं तृतीयं भावश्रावकलक्षणम् । अधुना चतुर्थमाह—

उज्जुववहारो चउहा जहत्थभरणं अवंचिर्गो किरिया । हुंतावायपगासण मेत्तीभोवो य सबभावा ॥ ४७ ॥

ऋजु प्रगुणं व्यवहरणं 'ऋजुव्यवहारः' भावश्रावकगुणः 'चतुर्धा' चतुष्प्रकारो भवति । तद्यथा—'यथार्थभणनं' अवि-
संवादिचचनं धर्मव्यवहारे क्रयविक्रयव्यवहारे साक्षिव्यवहारे राजव्यवहारादौ वा । अस्य भावार्थः—'प्रचित्तणुवत्तीए
धम्ममधम्मं अधम्ममवि धम्मं । न भणंति भावसद्धा भणंति सच्चं च महुरं च ॥ १ ॥ कयविकयसट्टीसुवि ऊणवभहियं
कहिति न हु अघं । सक्खित्तेवि निउत्ता न अन्नहा वाइणो हुंति ॥ २ ॥ रायसभावगयावि हु जणं न दूसंति अलिय-
भणिएहि । धम्मोवहासजणगं वयणं वज्जंति धम्मरया ॥ ३ ॥' तथा 'अवच्छिका' पराव्यसनहेतुः 'क्रिया' शरीरव्यापारो
द्वितीयमृजुव्यवहारलक्षणम् । उक्तं च—'तप्पडिरूवगविहिणा तुलापलाईहि ऊणमहियं वा । दिंतो लिंतोवि परं न वंचए
सुद्धधम्मत्थी ॥ १ ॥' तथा 'हुंति' इति प्राकृतशैल्या । भाविनो येऽपायास्तेषां प्रकाशनं ज्ञापनं करोति, भद्र ! मा कृथाः
पापानि चौर्यादीनि, इह परत्र चानर्थकारिणीत्याश्रितं शिक्षयति । न पुनरन्यायप्रवृत्तमप्युपेक्षत इति भावः । अन्ये

१ अन्यत्र "रायसमाहगयावि" इत्यस्ति ॥

तु—'हुंतावायपगासण' इति पठन्ति । तत्र 'हुतो' इति सद्भूत उपायो यो धर्मार्थविषये तस्य प्रकाशनं पृष्टोऽपृष्टो वा
करोतीति तृतीयमृजुव्यवहारस्वरूपम् । तत्र धर्मोपायो दानशीलतपोभावनारूपः । अर्थोपायो नीतिचारितोद्धारकाव्यव-
हरणादिरूपः । कामोपायः पुनरनर्थफलत्वात् प्रकाशयत्येव । मोक्षस्तु फलभूत इत्येतदपि पाठान्तरं मार्गानुपातित्वात्सङ्ग-
तमेवेति । तथा मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री, तस्या भावो भवनं सत्ता सद्भावास्त्रिष्वप्यतया कृत्रिममैत्री न करोतीति
भावः । कपटमैत्र्योः छायातपयोरिव विरोधात् । उक्तं च—'शाठ्येन मित्रं कलुपेण धर्मं परोपतापेन समुद्धिभावम् ।
सुखेन विद्यां परुपेण नारी वान्छगित्ति ये व्यक्तमपण्डितास्ते ॥ १ ॥' इति चतुर्थमृजुव्यवहारस्वरूपम् ॥ ४७ ॥

अस्यैव विपर्यये दोषदर्शनपूर्वकं विधेयतामाह—

अन्नहभणणाइसुं अवोहिवीयं परस्स नियमेण । तत्तो भवपरिवुद्धी ता होज्जा उज्जुववहारी ॥ ४८ ॥

अन्यथाभणनमयथार्थजल्पनम्, आदिशब्दाद्भ्रमकक्रियादोषोपेक्षणासद्भावमैत्रीपरिग्रहस्तेषु सत्सु श्रावकस्येति भावः ।
अवोधेर्धर्माप्ताप्तेर्वाजं मूलकारणं 'परस्य' मिथ्यादृष्टेः 'नियमेन' निश्चयेन भवतीति शेषः । तथा हि—श्रावकमेतेषु प्रवर्त्त-
मानमालोक्य वक्तारः संभवन्ति—'धिगस्तु जैनं शासनम्, यत्र श्रावकस्य शिष्टजननिन्दितेऽलीकभाषणादौ कुकर्मणि
निवृत्तिर्नोपदिश्यते' इति निन्दाकरणादमी प्राणिनो जन्मशतेष्वपि बोधिं न प्राप्नुवन्तीति 'अवोधिवीजं' इदमुच्यते,
'ततः' चात्रोधिवीजाद् 'भवपरिवृद्धिः' भवति, तस्मिन्दाकारिणं तस्मिन्निवृत्तभूतस्य श्रावकस्यापि । यतोऽवाचि—'यः शासन-
स्योपघातेऽनाभोगेनापि वर्त्तते । स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वादन्येषां प्राणिनामिति ॥ १ ॥ वध्नात्यपि तदेवालं परं संसारकार-
णम् । विपाकदारुणं घोरं सर्वानर्थविवर्द्धनम् ॥ २ ॥' 'ततः' तस्मात्कारणाद् 'भूयात्' भवेत् 'ऋजुव्यवहारी' प्रगुणव्य-
वहारवान् प्रकृतो भावश्रावक इति ॥ ४८ ॥

दृष्टान्तश्चेह धर्मनन्दः । तत्रायं संप्रदायः—

नासिके नयरे नदाभिहाणा दुवे वणिगया परिवसिसु । तेसिमेगो सावगो सुद्धववहारी, तस्स लोणे धम्मनंदोत्ति नामं
पसिद्धं । इयरो पुण लोभदोसेण कूडतुलाईहि ववहरइ, तेण लोभनंदोत्ति पसिद्धो । अन्नया तत्थ रायतलायं खणंतेहिं
ओद्धेहि निहाणं पावियं । तत्थ य केवला सुवन्नकुसा चिद्धंति । ते य सबओ कद्दमेण लिच्छत्ति, तेहिं लोहकुसा चैव
कप्पिया। नीया दो धम्मनंदहट्टे भणियं च, सेट्ठि ! एयोणं लोहकुसाणं तेल्लाइयं देहि । अइभाराओ सुद्धन्नमेयंति विन्नायं
सेट्ठिणा । अहिगरणभयाओ न साहियं, तेसि भणियं च न मम एएहिं पओयणंति । तओ ते गया लोभनंदावणे । तं
चैव भणिऊण ममप्पिया कुसा लोहनंदस्स । तेणावि परिज्जाया चिंतियं च । सुदरमेयं जं सुवन्नं लोहमोलेण लब्भइ, ता
देमि एएहि दुगुणं मोलं जेण अन्नेवि आणिति । तं चैव काऊण भणिया ते । मम लोहेण पओयणत्ति जइ संति अन्नेवि
एयमोलेण आनेयवा । तओ ते दिणे दिणे दो दो आणिति । जाय गहिया सेट्ठिणाणेगे । नवरमइगुहचित्तयाए पुत्ताणंपि पर-
मत्थं न साहेइ । तओ ते अहिए दिज्जमाणे ल्हत्थोसित्ति खिसंति, तहावि सबभावं नाइक्खइ, हट्टं च खणमवि न मुंचइ ।
अन्नया पच्चासन्नगामे मित्तेण विवाहे निमंतिओ अणिच्छंतोवि वला निज्जंतो पुत्तं भणइ, ते कुसे मा पडिसेहेज्जासि । न
य सबभावं कहेइ । गए नम्मि समागयाणमोड्डाण पुत्तो लोहमोलं देइ । तेवि सेट्ठिभणियं देहित्ति पुणो पुणो जिंखंति ।

ताहे ववहारवावडयाए सकोवेण तेण पक्खित्ता ते तेसिं संमुहं । पासाणपडिघाएण पणद्धो तेसिं गोषरो । पयडीभूयं सुवन्नं । दिट्ठं दंडवासिएहिं । नीया ओड्ढा रायसमीवं । पुच्छिएहिं कहिओ रत्तो सव्भावो । भणिया रत्ता, कस्स कस्स दिन्नत्ति । तेहिं बुत्तं धम्मनंदस्स दरिमिया न तेण गहिया । अओ एयस्स चेव एत्तियमित्ता दिन्नत्ति । तओ महाचोरोत्ति कुविएण गइणा समाणत्तेहिं दंडवासिएहिं गहियाणि सयलमाणुसाणि । उक्कहियं घरसारं । एत्थंतरे पुत्तो कुसे न गिण्हिस्सइत्ति अवसेरीए मित्तमपुच्छिय तुरियमागओ लोहनंदो । दिट्ठगिहवइयरो महापच्छायावानलसंततो रुद्धो नियपायाणं, किर एएहिं अहं गामंतरं पाविओत्ति । तओ कुहाडेण दोवि पाए ताडिऊण पाविओ पंचत्तमेसो । धम्मनंदोवि पुच्छिओ पत्थिवेण, कीस तए कुसा न गहिया १ । सो भणइ, जओ गहिएहिं दोणहं वयाणं भंगो भवड, चोरिक्कविरईए परिग्गहपरिमाणस्स य । नय एएसिं सव्भावो सिद्धो अहिगरणभयाओत्ति । अहो ! सच्चं धम्मनंदोसित्ति भणंतेण पूइऊण विसज्जिओ रत्ता । एरिसो उजुववहारी भावसावओ इहपरलोए कळाणभायणं होइत्ति ॥

उक्तं चतुर्थं भावश्रावकलक्षणम् । अधुना पञ्चममाह—

सेवाए कारणेण य संपायणभावो गुरुजणस्स । सुस्सूसणं कुणंतो गुरुसुस्सूसो हवइ चउहा ॥ ४९ ॥

‘सेवया’ पर्युपासनेन १ ‘कारणेन’ अन्यजनप्रवर्त्तनेन २ ‘संपादनं’ गुरोरौषधादीनां प्रदानं ३ ‘भावः’ चेतोबहुमानः ४ तावाश्रित्य संपादनभावतः ‘गुरुजनस्य’ आराध्यवर्गस्य । इह यद्यपि गुरवो मातापित्रादयोऽपि भवन्ति, तथाऽपि धर्मप्रस्तावादिहाचार्यादय एव प्रस्तुता इति तान्येवोद्दिश्य गुरुश्रूपो व्याख्येयः । गुरुलक्षणं चेदम्—“धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च सदा धर्मप्रवर्त्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्राणां देशको गुरुरुच्यते ॥ १ ॥” तथा—“पडिक्खो तेयस्सी जुगप्पहाणागमो महुरवक्को । गंभीरो धीमंतो उवएस्सपरो य आयरिओ ॥ १ ॥ अपरिस्सावी सोमो संगहसीलो अभिग्गहमईओ । अविक्कथणो अचवलो पसन्नहियओ गुरु होइ ॥ २ ॥” तथा—“संविग्गो १ मज्झत्थो २ संतो ३ मउओ ४ रिऊ ५ सुसंतुट्ठो ६ । गीयत्थो ७ कडजोगी ८ भावञ्च ९ लद्धिसंपन्नो १० ॥ १ ॥ देसणिओ ११ आदेओ १२ मइमं १३ विज्जाणिओ १४ निरुय १५ वाई १६ । नेमिती १७ ओयंसी १८ उवयारी १९ धारणावलिओ २० ॥ २ ॥ बहुदिट्ठो २१ नयनिउणो २२ पियंवओ २३ सुस्सरो २४ तवे निरओ २५ । सुसरीरो २६ सुप्पइभो २७ चाई २८ आणंदओ २९ चोक्खो ३० ॥ ३ ॥ गंभीरो ३१ अणुयत्ती ३२ पडिवन्नयपालगो ३३ धिरो ३४ धीरो ३५ । उच्चियञ्चू ३६ सूरीणं छत्तीसगुणा सुयक्खाया ॥ ४ ॥” इत्याद्यागमवर्णितगुणो गुरुजनग्रहणं बहुत्वप्रतिपत्त्यर्थम् । ये केचिदेवंविधास्ते सर्वेऽपि गुरुजन इति भावः । तस्य ‘श्रुश्रूषणं’ पर्युपासनं कुर्वन् गुरुश्रूपो भवति, स च ‘चतुर्धा’ चतुष्प्रकारः । इति गाथाक्षरार्थः ॥ ४९ ॥

भावार्थ सूत्रकार एवाह—

सेवति कालंमि गुरुं अकुणंतो ज्ञाणजोगवाघायं । सय वन्नवायकरणा अन्नेत्रि पवत्तई तत्थ ॥ ५० ॥

‘सेवते’ पर्युपास्ते, ‘काले’ प्रतिक्रमश्रवणादिहेतौ ‘गुरुं’ उक्तस्वरूपम् । कथम् ? ‘अकुर्वन्’ ध्यानं धर्मध्यानादि, योगाः प्रत्युपेक्षणाभोजनादयः, तेषां व्याघातमन्तरायम् । यतः साधूनामयमागमोपदेशः—“जोगे जोगे जिणसासणंमि दुक्ख-

१ “अविक्कथणो” इत्यपि ! २ ‘समक्खाया’ इत्यपि । ३ “सेवइ” इत्यपि ॥

क्खया पउज्जंते । अन्नोन्नमवाहाए, असवत्तो होइ कायवो ॥ १ ॥” इत्येषा श्रुश्रूपा १ । तथा ‘सदा वर्णवादकरणात्’ नित्यं सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनेन ‘अन्यानपि’ प्रमादवतः ‘प्रवर्त्तयति’ प्रेरयति ‘तत्र’ तस्यां सेवायाम् । तद्यथा—“माणुस्समुत्तमो धम्मो गुरु नाणाइसंजुओ । सामग्गी दुल्लहा एसा जाणाहि हियमप्पणो ॥ १ ॥ एयारिसो महप्पा धन्नाणं दिट्ठिगोयरमुवेइ । एयस्स सयलसुहयं पियंति वयणामयं धन्ना ॥ २ ॥ एयस्स महामुणिणो उवएस्सरायणं अकाऊणं । होही पच्छायावो चत्ते पत्ते निहाणे ध ॥ ३ ॥” इत्यादि । इति द्वितीयः श्रुश्रूपाविधिः २ ॥ ५० ॥

अथ तृतीयचतुर्थावाह—

ओसहभेसज्जाई सओ य परओ य संपणामेइ । सइ बहुमन्नेइ गुरुं भावं चणुवत्तए तस्स ॥ ५१ ॥

औषधानि केवलद्रव्यरूपाणि बहिरूपयोगीनि वा, भैषज्यानि संयोगिकान्यन्तभोग्यानि वा, आदिशब्दादन्यान्यपि संयमोपकारकाणि वस्तूनि ‘स्वतः’ स्वयंदानेन ‘परतः’ अन्यजनदापनेन च सम्यक् ‘प्रणामयति’ संपादयति गुरुभ्य इति प्रकृतत्वात् । उक्तं च—“अन्नं पानमथौषधं बहुविधं धर्मवजः कम्बलं वस्त्रं पात्रमुपाश्रयश्च विविधो दण्डादिधर्मोपधिः । शस्तं पुस्तकपीठकादि घटते धर्माय यच्चापरं देयं दानविचक्षणैस्तदखिलं मोक्षार्थिने भिक्षवे ॥ १ ॥” तथा—“जो देइ ओसहाई मुणीण मणवयणकायगुत्ताणं । सो सुद्धभावविभवो भवे भवे होइ नीरोगो ॥ १ ॥” इति संपादने तृतीयः श्रुश्रूपाविधिः ३ । तथा सदा ‘बहु मन्यते’ मनःप्रीतिसारं श्लाघते ‘गुरुं’ उक्तस्वरूपं, ‘भावं’ चेतोवृत्तिं ‘चानुवर्त्तते’ तदनु-

१ ‘अणुवत्तए’ इत्यपि ॥

कूलं व्यवहरति, 'तस्य' गुरोः संबन्धिनम् । न तदसंमतमाचरतीति तत्त्वम् । उक्तं च—“सरुपि नतिस्तुतिवचनं तदभि-
मते प्रेम तद्विधि द्वेषः । दानमुपकारकीर्तनमन्त्रमूलं वशीकरणम् ॥ १ ॥” अन्यत्राप्युक्तम्—“मिण गोनमंगुलीहिं
गणेहि वा दंतचक्कलाइं से । इच्छंति भाणिऊणं कज्जं तु तमेव जाणंति ॥ १ ॥” इत्थंभावं गुरोरनुवर्तते । इति चतुर्थः
शुश्रूषाविकल्पः ४ इति ॥ ५१ ॥

अत्र निदर्शनम्—

कोसंवीए नयरीए सुहत्थिसूरिणो कयाइ विहारकप्पेण विहरिंसु । तत्थ य तथा महादुग्भिक्खं वट्टइ, अओ भिक्खयरा भिक्खं
न ल्हंति । ल्हंति य पज्जत्तं ईसरगिहेसु साहुणो । अन्नया एगो चक्कयरो ईसरगिहेसु सवायरेण पडिलाभिज्जंते दट्टण
तेसिं नियत्ताणमग्गओ नंतूण पायवडिओ पत्थिउं पवत्तो । महापुन्नवंता तुब्भे सधं सधत्थ लभह, ता देहि मे दीणस्स
किंचिमेत्तं । साहूहिं पडिबुत्तं, अम्ह दाउं न कप्पइ, गुरुणो चैव जाणंति । तओ सो तेहिं चैव सद्धिं गओ गुरुसमीवं
तहेव मग्गिया । इओ गुरुहिं भणिओ, भइ ! जइ पवयाहि ता जमिच्छसि तं देमो, गिहत्थाणं न दिज्जइत्ति । पडिववे
तेण गुणदंसणाओ पवाविओ । भोयाविओ निद्धमहुराईं जहिच्छं । परितुट्ठो एसो । अहो ! सुंदरो धम्मो । उत्तमचरिया
सवसत्तवच्छला कारुणिया महाणुभावा य गुरुणो, जे मम निब्भग्गसिरोमणिणोवि एवमुवयरंति । एवं सुहपरिणामो
अवत्तसामाहयसंजमो मज्झरत्तसमए विसूइयादोसेण पाविओ पंचत्तं । तओ कत्थ उववत्तोत्ति । अत्थि पाडलिपुत्ते चंद-
गुत्तपुत्तस्स विंदुसारस्स पुत्तो असोगसिरिराया । तस्स पाणप्पिओ कुणालो नाम नंदणो । नेहाइसएण वाली चैव ट्ठाविओ
पिउणा जुवरज्जे । दिन्ना कुमारभुत्तीए उज्जेणी । पइदिणं च पिया निउत्तपुरिस्सेहिं पउत्तिमाणावेइ, पसाए य पेसेइ ।
अन्नया कलाग्गहणस्स जोगोत्ति लिहिओ रत्ता महंतयाण लेहो—‘अधीयतां कुमारः’ इत्यादि । न उवाइत्ति अकाइयं
चैव तं मोचूण सरीरकज्जे उट्ठिओ राया । एत्थंतरे कुमारमाइसवत्तीए किमेत्थ लिहियं(ति) कोउगेण वाइओ लेहो ।
तओ मच्छरदोसेण नहसुत्तीए नयणकज्जलेणायारस्स उवरिं विंदुं दाऊण इत्ति गया अन्नओ एसा । रत्तावि अवाइओ
चैव काइओ लेहो पेसिओ कुमारस्स । तेणावि वाइऊण भणिया महंतया, करेह रायाएमं, अधीकरेह मं तुरियंति । तेहिं
भणियं, नेव देवाएसो संभवइ तो सुपुच्छियं करेमो । तओ कहमखंडियसासणं मोरियवंसप्पसूयस्स तायस्स पायडमेय-
माणत्तियमन्नहा करेमित्ति भणंतेण कुणालेण वारिज्जंतेणावि तत्तसलागाए अजिऊण विणासियाणि लोयणाणि । सुयम्मि
य एयवइयरे ममेस दोसोत्ति गहिओ महापच्छायावेण जणओ । कालेण रज्जाणुत्तिओत्ति कओ पिउणा गामसामी । सुहेण
तत्थ चिट्ठइ । अइसओ एयस्स गीयकलाए तं चैव अब्भसमाणो काल गमेइ । अन्नया सो पुव्वभणियदमगो तस्स
भारियाए कुच्छिसि उवत्तो । पसत्थसुमिणदंसणाओ कलिओ कुणालेण पहाणपुत्तलाभो । चित्तियं च जइ ताओ तूसइ
ता कयाड मम पुत्तो राया होज्जा । अओ तायाराहणे पयत्तं करेमि(त्ति) निच्छिऊण उवायं, जायासहिओ गओ पाडलि-
पुत्तं । गंधव्वकलाए जणमावज्जिउं पवत्तो । तओ तेण निरवज्जविज्जावज्जेण गंधव्वियाण गव्वपव्वए मुसुमूरंतो पत्तो परं
पसिद्धि । अओ सद्दो गंधव्विओत्ति निसुयं रत्ता कोउगेण वाहगविओ अ । सिद्धं च केणावि, देव ! सच्चममयसुंदरं से
गीयं, किं तु नयण रहिओ न देवस्स दंसणोचिओत्ति । तहावि परियच्छिपच्छाइओ गायउत्ति वेंतेण सद्दाविओ रत्ता ।
आगओ य गाइउं पवत्तो । हयहिएण य भणिओ राइणा, भो ! साहु गीयं, जाएहि कंचि वरं । तव्वेलं च वद्धाविओ किंक-
रेण कुणालो, पसूया ते जाया देवकुमारागारं दारयंति । एत्थंतरे परियाणियावसरेण गीयं कुणालेण—“चंदगुत्तपुत्तो
उ विंदुसारस्स नत्तुओ । असोगसिरिणो पुत्तो अंधो जायइ कागिणीं ॥ १ ॥” अरे ! कुणालो एसोत्ति उक्कंठिएण जव-
णियमुसारिऊण आलिगिओ रत्ता । निवेसिओ उच्छंगे । भणिओ य, वच्छ ! किमेयमइत्तुच्छं पत्थेसि ? । ताहे मंतिणा
बुत्तं, देव ! तुम्ह वंसे कागिणीसद्देण रज्जं भन्नइ, ता कहमेयं तुच्छं पत्थयंति । रत्ता बुत्तं, पुत्त ! न तुमं रज्जोचिओसि ।
किमत्थि पुत्तो रज्जारिहो ? जेणेवं पत्थेसि । कुणालेण भन्नइ, संपइ जाओ अत्थित्ति । राइणा भणियं, जइ एवं दिन्नं मए
तस्स रज्जं । तओ वत्ते दसाहे संपाइयसंपइनामधेयस्स तस्स कओ रायाहिसेओ रत्ता । समप्पिऊण मंतिपमुहाण तं
पारद्धमप्पणा परलोगहियंति । तओ पुव्वज्जियपुन्नमाहप्पेण पवद्धमाणो सरीरसंपयाए रज्जसिरीए य पत्तो रुवलायन्नसं-
पुन्नं तारुत्तं । अन्नया तेण पासायगएण दिट्ठो जिणरहेण समं घरंगणागओ रायमग्गओ चउव्विहसमणसंधपडिगओ
चंदो व्व गहगणसंगओ कमलायरमज्झगओ व्व ईसो विहारकमागओ भयवं अज्जसुहत्थी । कत्थ पुण ममेस सपुव्वोत्ति सवियक्केण
समुप्पेजे जाइसरणे पच्चभिन्नाओ य । तओ अप्पमाणपमोयपूरिज्जमाणमाणसो सव्वसामग्गीए गओ गुरुसमीवं नरीसरो । पणओ
पणयपहाणं पायपउमे । पुणो पुणो भालत्थलेण पाए फुसिऊण हरिसजलपप्पुयच्छो पुच्छिउं पवत्तो, भयवं ! सामाहयसंजमस्स किं
फलं ? । गुरुहि भणियं अवत्तस्स नरिदाइरिद्धी वत्तस्स मोक्खो सग्गो वा । तओ संजायपच्चएण पणसिऊण पुणो भणियं

पत्थिवेण, किं भगवंतो मम पञ्चभिजाणति न वा ? । उवओगं दाऊण भणियं गुरुणा, सुट्टु पञ्चभिजाणामो । तुमं कोसं-
बीए दिवसमेगं मम सीसो आसि, संपइ संपइराया वट्टसि । अहो ! भगवओ नाणाइसिओत्ति तुट्टेण कयकरंजलिणा पुणो
भणियं, तो खाइं ममाइसह, जमियाणि करेमि । गुरुहि भणियं, समणधम्मं सावगधम्मं वा पडिवज्ज । परिभाविऊण
पडिवज्जाणुवयभुणवओ राया सावगो जाओ । तप्पभिइं च बहुमाणसारं गुरुणो पज्जुवासेइ । तदुवएसेण कारावेइ चेइ-
याइं, नियरज्जे पवत्तेइ रहजताओ, पडिवोहेइ सामंते, पवत्तेइ तेवि चेइयभवणाइकारवणे, करेइ साहूण दाणाइवच्छलं,
पावेइ परमुच्चं साहम्मियलयं । किं बहुणा अणारियदेसेसुवि उवसामिओ तेण लोगो, जहा तेसुवि साहूण सुविहारो
संजुओ । अन्नया अन्नपरिवट्टुले काले न मम पिंडो माहूणमुवयरइ, तहावि केणइ उवाएण उवगरावेमिस्ति चित्तिऊण
दीणाइदाणनिमित्तं कारियाओ दाणसालाओ, भणिया य ते निउत्तपुरिसा । जमेत्थ दिंताणमुव्वरइ तं मए तुम्हाण चेव
दिन्नं, किं तु नुव्वे तं साहूण देजाहि, तस्म मोल्लमहं भे दाहामि । अणेवि मंडयलडुयप्पयगुलसत्तुयाइविक्रयकारिणो
तेवि एवं चेव भणिया । तओ सवेवि ते दिंति साहूण मगियममगियं वा जहिच्छं । एवमुवज्जियपउरपुन्नपव्वभारो
चेइहरमंडियमहीमंडलं काऊण कयसावगधम्माराहणो समाहिणा कालं काऊण पत्तो सुरलयं संपइमहाराओत्ति । एया-
रिसो गुरुसुसूओ भावसावगो होइत्ति ॥

उक्तं पञ्चमं भावश्रावकलक्षणम् । अधुना षष्ठमाह—

सुत्ते अत्थे य तथा उस्संगववायभाँवववहारे । जो कुसलत्तं पत्तो पवयणकुसलो तओ छद्धा ॥५२॥

इह प्रकृतं वचनं प्रवचनमागमः स च सूत्रादिभेदान् षोढा । अतस्तदुपाधिकं कौशलमपि षोढा, तत्संबन्धात्कुशलोऽपि
षोढैवेत्याह—‘सूत्रे’ सूत्रविषये यः कुशलत्वं प्राप्त इति प्रत्येकं योजनीयम् । तथा ‘अर्थे’ सूत्राभिधेये । चः समुच्चये ।
‘तथा’ तेनैव प्रकारेण उत्सर्गं मामान्योक्तौ, अपवादे विशेषभणिते, भावे निश्चयनयाभिप्राये, व्यवहारे गीतार्थाचरित-
रूपे । समाहारस्यैकत्वेऽपि सप्तम्याः पृथग्याख्यानां चालावबोधनार्थम् । एतेषु यः कुशलत्वं प्राप्तः सद्गुरुप्रसादेन प्रवचन-
कुशलोऽसौ भवति ‘षोढा’ पदप्रकारः । इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ५२ ॥

भावार्थं प्रकरणकार एवाह—

उचियमहिज्जइ सुत्तं सुणइ तयर्थं तथा सुत्तित्थंमि । उस्संगववायाणं विसयविभागं वियाणाइ ॥५३॥
वहंइ सइ पव्ववायं विहिसारे सव्वधम्मणुट्टाणे । देसद्धादणुरूवं जाणइ गीयत्थंववहारं ॥ ५४ ॥

‘उचितं’ योग्यं श्रावकभूमिकायाः, ‘अधीते’ पठति ‘सूत्रं’ प्रवचनमात्रादिषड्जीवनिकान्तम् । उक्तं च—“पवयणमाइं
छज्जीवणियंता उभयओवि इयरस्स । ” ग्रहणशिक्षेति तत्र प्रकृतम् । उभयतः सूत्रतोऽर्थतश्च । इतरस्य श्रावकस्येदं वि-
गिष्टम् । श्रावकमधिकृत्योच्यते—सामान्यश्रावकस्तु संग्रहणीकर्मग्रन्थोपदेशमालादिप्रकरणसन्दोहमाचार्यादिप्रसादीकृत-
मन्यदपि पठतीति सूत्रे कौशलमामोति १ । तथा शृणोति तस्य सूत्रस्यार्थं ‘तथा’ तेनैव प्रकारेण स्वभूमिकौचित्यरूपेण
‘सुतीर्थे’ सुगुरुमूले । यत आह—“त्तिथे सुत्तत्थाणं गहणं विहिणा उ एत्थ तित्थमिणं । उभयन्नू चेव गुरु विही उ वि-
णयाइओचित्तो ॥ १ ॥ ” इत्यादि । अनेन यतेः श्रावकस्य च गुरुसमीप एव सूत्रार्थग्रहणं युक्तमुक्तम् । यत आह—
“गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि । तस्माद्गुर्वाराधनपरेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम् ॥ १ ॥ ” इति द्वितीयं
कौशलम् २ । तथा ‘उत्सर्गापवादयोः’ जिनमतप्रतीतयोः त्रिपयविभागं विशेषेण ‘जानाति’ अवगच्छति । अयमत्र भावार्थः—
नोत्सर्गमेव केवलमालम्बते, नाप्यपवादमेव प्रमाणीकरोति । किं तर्हि ? तयोरवसरं गुरुपदेशादवबुध्यते । उक्तं च—“उन्न-
यमवेक्ख इयरस्स पसिद्धी उन्नयस्स इयराओ । इय अन्नोन्नपसिद्धा उस्संगववाय दौ तुल्ला ॥ १ ॥ दवाइएहि जुत्तस्सु-
स्सगो तदुचियं अणुट्टाणं । रहियस्स तमववाओ उचियंवियरस्स न उ तस्स ॥ २ ॥ ” ज्ञात्वा च यथावसरमुचितविधिना
यतिजनस्य पथ्यादिदाने प्रवर्त्तते । तद्यथा—“फासुयएसणिएहिं फासुयओहासिएहि कीएहिं । पूईपमिस्सिएण य आहा-
कम्मेण जयणाए ॥ १ ॥ ” इत्यादि । युगपदुक्तत्वात्कौशल्यद्वयस्योक्ताश्चत्वारो भेदाः ३ । ४ । इति प्रथमगाथार्थः ॥५३॥
तथा भावो नैश्चयिकः परिणामः । तत्र कौशलमिदम्—‘वहति’ धत्ते सदा ‘पक्षपातं’ बहुमानं ‘विधिसारे’ विधानप्र-
धाने ‘सर्वधर्मानुष्ठाने’ देवगुरुवन्दनदानधर्मादौ । किमुक्तं भवतीति विधिकारिणमन्यं बहु मन्यते, स्वयं च यथाश-
क्ति विधिपूर्वकं प्रवर्त्तते । सामर्थ्याभावेऽपि विध्याराधनमनोरथान् न मुञ्चति । एवमप्यसावाराधक एव स्यात् । निश्च-
यनयमतमिदम् । उक्तं चागमे—“ परमरहस्समिसीण समत्तगणिपिडगझरियसाराणं । परिणामियं पमाणं निच्छयमवलं-
वमाणं ॥ १ ॥ तम्हा भावो सुद्धो सव्वपयत्तेण हंदि परलोए । कायवो बुद्धिमया आणावगजोगओ निच्चं ॥ २ ॥ ”
इत्थं कुर्वन् भावे कुशलो भवति ५ । तथा देशः सुस्थितदुःस्थितादिः, अद्धा कालः, सुभिक्षदुर्भिक्षादिः । आदिशब्दाद्

द्रव्यं सुलभदुर्लभादिः, भावश्च हृष्टग्लानादिः परिगृह्यते । तेषामनुरूपं जानाति गीतार्थव्यवहारं यो यत्र देशे, काले, भावे वा वर्तमानैर्गीतार्थैरुत्सर्गापवादोदिभिर्गुरुलाघवपरिज्ञाननिपुणैराचरितो व्यवहारः तं न दूषयतीति भावः । तथा च सूत्रम्—“असद्वेण समाइञं जं कथइ केणई असावज्जं । न निवारियमझेहिं बहुमणुमयमेयमायरियं ॥ १ ॥” एवं-विध्वव्यवहारे कौशलम् । पष्ठं कौशलं भवति ६ । एतच्चोपलक्षणं जीवपुद्गलादिषु सूक्ष्मभावेषु सर्वेष्वपि यः कुशलः स प्रवचनकुशलः । तथाविधराजश्रावकवत् ॥ ५४ ॥

तद्ब्रुत्तान्तश्चायम्—

पुहृदपुरे नयरे पञ्चमेहरो राया । बालभावाओ साहुपज्जुवासणोवज्जियजीवाइवत्थुपरिभाणो पवयणपभावणापहाणो पर-
मसावओ अहेसि । सो पुण सयलसत्त्वच्छलयाए सयलोयस्स जिणधम्ममाइक्खलइ, वझेइ जीवदयागुणे, पक्खेइ साहुध-
म्मं, पसंसेइ साहूणमप्पमत्तयं, कहेइ अप्पमायाओ मोक्खसोक्खसंपयं । एवं च तेण नियरज्जे पवत्तिओ पाएण ओगो
जिणधम्मो । जेवि य परप्पवाइणो तेवि जिणवयणपसिद्धहेउदिट्ठतजुत्तीहिं तेण मुहियमुहा चेव कया । जहा तवभणियं
नज्जहा काउमिच्छंति । नवरमेगो सेट्ठिपुत्तो न पडिवुज्झाइ । सो दुहियजीवघाए धम्मं मज्जइ, तेसिं सुगइगमणकारणत्तेण ।
तहा अप्पमाओ धम्ममूलंति जिणोवएसं सिरवेयणोवसमे तक्खगनागमत्थयमणिजलोघएसतुलं मज्जइ । जओ पवणाहयघ-
यवडगगच्चं चित्तमेगतथ धारिउं न तीरइ । दुज्जिवाराइं सएसु सएसु विसएसु धाविराइं इंदियाइं । सो एवं वायालयाए
धम्माभिमुहेवि लोगे मोहिंतो निसामिओ नराहिवेण । तओ तदुवसामणत्थं जक्खाभिहाणो छत्तो निउत्तो । मिक्खविओ
य जहाजोगं । समप्पियं महग्घमाणिक्खालंक्रियमाहरणं । एयं पच्छलं तस्स रयणकरंडियाए पक्खिज्जिण मम निवेएहि-
त्ति । तेणावि जं ते मयं तम्ममावि सम्मयंति वेंतेण कया तेण समं मेत्ती । अवसरे पक्खित्तं तमाभरणं रयणकरंडियाम-
ज्जे । ताहे राइणा उग्घोसावियं पडहगेण ‘जइ केणावि रायाहरणं पडियमुवलद्धं कीयं वा कुओवि मो संपइ समपंतो
निरवराहो रायपसायं च लहइ, पच्छा नाए सारीरो दंडो भविस्सइ’त्ति तिसिं वारा उग्घोसाविज्जण पउरेहिं सद्धिं निउत्ता
नियपुरिसा गेहुल्लोडाए गवेसंतैहिं दिट्ठं तमाभरणं । पुच्छिओ सेट्ठिपुत्तो कुओ ते एयं ? । भणइ न याणामि, न मम
संतियमेय । तो खाइं कस्स संतियं ? । सो भणइ न याणामि । अरे ! कहं न याणासित्ति वेंतेहिं गहिओ रायभडेहिं ।
नीओ रायसयासमेसो । तेणावि वज्झो समाणत्तो । पच्चक्खचोरोत्ति न कोइ तं मोयावेइ । तओ गयजीवियासेण दीणवि-
मणेण पलोइयमाणेण जक्खवयणं भणियं च । मित्त ! विन्नवेहि देवं । देवावेहि दुक्खरेणावि दंडेण पाणभिव्खं । जक्खे-
णावि विन्नत्तो राया । देव ! ममेस मित्तो ता कीरउ पसायं एयजीवियरक्खाए । निरुविज्जउ अन्नो कोइ दंडो । राइणा
भणियं. मारिया पाणिणो सुगइं गच्छंति, ता किं मित्तस्स सुगइं नेच्छसि ? । जक्खेण भणियं अलं सुगईए, जीवंतो नरो
भद्दाणि पेच्छइ । रत्ता बुत्तं तो मुंचामि, जइ मम चलणंतियाओ तेहपुन्नपत्तिं घेत्तुं विंदुमवि अपदंतो सयलनयरतियच-
उक्कचत्तरच्छासु परिभमिज्जण मम पुरओ ठवेइ । तंपि य जीवियत्थिणा पडिवज्जं सेट्ठिसुएण । राइणावि निरुवियाइं
सधनयरे नाणाविहकोऊहलकोलाहलाउलाहिं पए पए पेच्छणयाइं । सो किर तेसु विसेसरसिओ, तहावि रायनिउत्तपत्ति-

१ ‘ एयजीवियरक्खा ’ इत्यपि । २ ‘ अच्छद्दुतो ’ इत्यपि ॥

परिगओ भेसिज्जंतोवि तेहिं जीवियलोहेण पत्तिमेत्तनिहित्तेत्तचित्तो सवत्थ भमिज्जण गओ रायसमीवं । पुरओ मोत्तूण
पत्तिं निवडिओ चलणेसु । भणिओ रत्ता, सेट्ठिपुत्त ! अच्छंतचंचलाइं मणलयणाइं, ता कह तुमे अइवलहेसु पेच्छणाइसु
जं ताइं निरुद्धाइं । तेण भणियं, सामि ! मरण भीएण । रायाह, जइ तुमे एगमरणभीएण एवमप्पमाओ सेविओ, ता
कहमणंतजम्ममरणभीया साहुणो तं न सेवंति । एयमायन्निज्जण पडिवुद्धो सेट्ठिपुत्तो । जाओ पहाणसमणोवासओ । एव-
मणेगे पाणिणो तेण पत्थिवेण जिण धम्मो पवत्तिया । एरिसो पवयणकुसलो भावसावओ होइत्ति ॥

अथ प्रकृतमुपसंहरन्नाह—

एसो पवयणकुसलो छब्भेओ मुणिवरेहि निदिट्ठो । किरियागयाइं छ च्चिय लिंगाइं भावसद्धस्स ॥५५॥

‘ एपः ’ उक्तस्वरूपः प्रवचनकुशलः पद्भेदो व्यक्त एव ‘ मुनिवरैः ’ पूर्वाचार्यैः निर्दिष्टः । ततश्चावसितं श्रावकलिङ्गं
पद्भ्यप्रकरणमित्येतद्दर्शयन्नाह—‘ क्रियागतानि ’ क्रियोपलक्षणानि । चियशब्दस्यावधारणार्थत्वात् पडेव ‘ लिङ्गानि ’ लक्ष-
णानि ‘अग्नेर्धूमवत्’, ‘ भावश्राद्धस्य ’ यथार्थाभिधानश्रावकस्य । इति गार्थार्थः ॥ ५५ ॥

ननु किमन्यान्यपि लिङ्गानि सन्ति येनैवमुच्यते क्रियागतानि ? सत्यं, सन्त्येव । यत आह—

भावगयाइं सतरस्स मुणिणो एयस्स वित्ति लिंगाइं । जाणियजिणमयसारा पुवायरिया जओ आहु ॥ ५६ ॥

‘ भावगतानि ’ भा.विषयाणि सप्तदश ‘ मुनयः ’ सुरयः ‘ एतस्य ’ प्रकृतश्रावकस्य ‘ सुवत्ते ’ प्रतिपादयन्ति ‘ लिङ्गा-

नि ' चिह्नानि ' ज्ञातजिनमतसाराः ' इति व्यक्तम् । ' पूर्वाचार्याः ' चिरन्तनसूरयो ' यतो ' यस्मात् ' आहुः ' ब्रुवन्ति । इत्यनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह ॥ ५६ ॥

किं तदाहुः ? इत्याह—

इतिथिद्वैत्यैसंसारविषयआरंभगेहदंसर्णओ । गङ्गुरिगाइपवाहे पुरस्सरं आंगमपविती ॥ ५७ ॥
दाणाइ जहासती पवत्तणं विहिरैरैरुदुष्टे य । मेज्जत्थमेसंवज्जे परत्थकामोवभोगी य ॥ ५८ ॥

वेसा इव गिहवांसं पालइ सत्तरसपयनिबद्धं तु । भावगय भावसावगलवखणमेयं समासेण ॥ ५९ ॥

आसां पूर्वमुनिप्रणीतगाथानां व्याख्या—स्त्री चेन्द्रियाणि चार्थश्चेत्यादि द्वन्द्वः । ततः स्त्रीन्द्रियार्थसंसारविषयारम्भ-गेहदर्शनानि, तेष्वित्याद्यादेराकृतिगणत्वात्तसि कृते ' स्त्रीन्द्रियार्थसंसारविषयारम्भगेहदर्शनतः ' इति भवति । ततश्चैतेषु विषयभूतेषु ' भावगतं भावश्रावकलक्षणं ' भवतीति तृतीयगाथायां संबन्धः । तथा गङ्गुरिकादिप्रवाहविषये । तथा ' पुर-स्सरमागमप्रवृत्तिः ' इति प्राकृतत्वाच्छन्दोभङ्गभयाच्च पूर्वापरनिपातः । ततश्चागमपुरस्सरं प्रवृत्तिर्वर्त्तनं धर्मकार्येष्विति गम्यते, प्रकृतं लिङ्गमिति । तथा ' दानादि यथाशक्ति प्रवर्त्तनम् ' इति स्पष्टम् । प्राकृतत्वाद्दीर्घत्वं भावगतं लिङ्गमिति । तथा ' विहीकः ' धर्मानुष्ठानं कुर्वन्न लज्जति । तथा ' अरक्तद्विष्टश्च ' सांसारिकभावेषु भवति । ' मध्यस्थः ' धर्मविचारे, न रागद्वेषाभ्यां बाध्यते ' असंबद्धः ' धनस्वजनादिषु भावप्रतिबन्धरहितः । ' परार्थकामोपभोगी ' परोपरोधादेव कामे-षु शब्दरूपरूपेषु, भोगेषु गन्धरसस्पर्शेषु प्रवर्त्तते । तथा ' वेश्येव ' पण्यस्त्रीव कामिनमिति गम्यते । ' गृहवासं पालयति ' अद्यः श्रो वा परित्यजाम्येनमिति भावयन्निति सप्तदशविधपदनिबद्धं ' तुः ' पूरणे । ' भावगतं ' परिणामरूपमिति जातावे-कवचनं, अनुस्वारस्य प्राकृतशैल्या लुप्तत्वात् । उक्तं च—“ नीयालोवमभूया य आणिया दौवि विंदुदुब्भावा । अत्थं गर्मि-ति तं भिय जो तेसिं पुबमेवासि ॥ १ ॥ ” भावश्रावकलक्षणमेतत् ' समासेण ' सूचामात्रेण । इति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

सांप्रतमेषामेव भावार्थं प्रचिकटयिषुर्गाथासप्तदशकमाह—

इरथीमणत्थभवणं चलचित्तं नरयवत्तिणीभूयं । जाणंतो हियकामी वसवत्ती होइ न हु तीसे ॥ ६० ॥

' स्त्रीम् ' योषितमनर्थानां दोषाणां भवनमाश्रयस्थानम् । तद्यथा—“ अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमत्तिलोभता । अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ १ ॥ ” तथा ' चलचित्ताम् ' अन्यान्याभिलाषिणीम् । उक्तं च—“ अन्नं ज्ञा-यन्ति मणे पेसलवयणाइं दिंति अन्नस्स । दिट्ठीए नियत्तन्नं रमन्ति काएण पुण अन्नं ॥ १ ॥ ” तथा नरकस्य वत्तिनीभूतां मार्गकल्पां ' जानन् ' अवगच्छन् ' हितकामी ' श्रेयोऽभिलाषकः ' वशवत्ती ' तदधीनचारी ' भवति ' स्यात् ' न हु ' नैव ' तस्याः ' स्त्रिय उष्ट्रपत्रविक्रयकवत् । भावयति च—“ आनायास्तिमिसंहतेरिव दृढाः पाशागतानामिव प्रास्तीर्णा इव सर्वदिक्षु हरिणव्रातस्य वा वागुराः । स्वैरभ्रान्तिभृतः पतन्निनिवहस्यैवाहिताः स्कन्धकाः संसारेऽत्र विवेकमुक्तमनसां बन्धाय वामभ्रुवः ॥ १ ॥ ” १ ॥ ६० ॥

तथा—

इंदियचवलतुरंगे दोग्गइमग्गाणुधाविरे निच्चं । भावियभवस्सरूवो रुंभइ सन्नाणरस्सीहिं ॥ ६१ ॥

इन्द्रियाण्येव चपलाः शीघ्रगामित्वेन तुरङ्गाः अश्वास्तान्, दुर्गतिमार्गं दुर्योनिपदवीमनुधाविरान् धावनशीलान् ' नित्यम् ' सदा भावितं पुनः पुनरालोचितं भवस्वरूपं येन स तथाविधो ' रुणद्धि ' निवर्त्तयति सतीभिः शोभनाभिर्ज्ञानरश्मिभिः श्रुतवल्गाभिः । तद्यथा—“ तवकुलछायाभंसं पंडिच्चफंसणा अणिट्टपहं । वसणाणि रणमुहाणि य इंदियवसगा अणुहवंति ॥ १ ॥ ” तथा—“ दिवसरजनिसारैः सारितं पक्षगेहं समयफलकमेतन्मण्डितं भूतधात्र्याम् । इह हि जयति कश्चिन्मोक्षमक्षैर्विधेयै-रधिगतमपि चान्ये विपुतैर्हरयन्ति ॥ १ ॥ ” २ ॥ ६१ ॥

तथा—

सयलाणत्थनिमित्तं आयासकिलेसकारणमसारं । नाऊण धणं धीरो न हु लुब्भइ तंमि तणुयंपि ॥ ६२ ॥

इह धनं ज्ञात्वा तत्र न लुभ्यतीति योगः । किंविशिष्टं धनम् ? ' सकलानर्थनिमित्तं ' समस्तदुःखनिबन्धनम् । उक्तं च—“ अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थो दुःखभाजनम् ॥ १ ॥ ” तथा ' आयासः ' चित्तखेदः । यथा—“ राजा रोक्ष्यति किं तु मे हुतवहो दग्धा किमेतद्धनं किं चामी प्रभविष्णवः कृतनिभं लास्यन्त्यदो-गोत्रिकाः । आदास्यन्ति च दस्यवः किमु तथा नष्टा निखातं भुवि ध्यायन्नेतदहर्निशं धनयुतोऽप्यास्तेतरां दुःखितः ॥ १ ॥ ” तथा ' क्लेशः ' शरीरपरिश्रमस्तयोः ' कारणं ' निबन्धनम् । तथा हि—“ अर्थार्थं नक्रचक्राकुलजलधिमलं केचिदुच्चैस्तरन्ति प्रोद्यच्छ्वाभिघातोत्थितशिखिकणकं जन्यमन्ये विशन्ति । शीतोष्णाम्भःसमीरगल्पिततनुलताः क्षेत्रिकां कुर्वतेऽन्ये शिल्पं चानल्पभेदं विदधति च परे नाटकाद्यं च केचित् ॥ १ ॥ ” तथा ' असारं ' सारफलासंपादनात् । उक्तं च—“ व्याधी-

स्रो निरुणद्धि मृत्युजननज्यानिक्षयेन क्षमं नेष्टानिष्टवियोगयोगहृत्कृत्सध्यङ् न जन्मान्तरे । चिन्ताबन्धुधिरोधबन्धनब्रध-
त्रासास्पदं प्रायगो वित्तं वित्तविचक्षणः क्षणमपि क्षेमावहं नेक्षते ॥ १ ॥” इत्थंभूतं धनं ज्ञाम्ना ‘न हु लुभ्यति’ नैव
तत्र गृह्यति (‘धीरो’ धीमान्, ‘तस्मिन्’ द्रव्ये,) मम्मणवणिवत् । ‘तनुकमपि’ स्तोकमप्यास्तां बहिल्यपर्यथः । भाव-
श्रावको हि नान्यायेन तदुपार्जनाय प्रवर्त्तते । नाऽप्युपार्जितेऽतितृष्णावान् स्यात् । किं तर्हि?—“पादमायाभिधिं कुर्यात्
पादं वित्ताय खण्डयेत् । धर्मोपभोग्योः पादं पादं भर्त्स्यपोषणे ॥ १ ॥ इच्छतोऽनिच्छतो वाऽपि मामकं द्रविणं सदा ।
चैत्यसाधूपभोगाय भूयात् सर्वं भवे भवे ॥ २ ॥” इति मनोरथवांस्तत्पालनादि करोतीति भावः ३ ॥ ६२ ॥

तथा—

दुह्रुवं दुःखफलं दुहाणुवन्धिं विडंबणारूवं । संसारमसारं जाणिऊण न रइं तर्हिं कुणइ ॥ ६३ ॥
इहापि तत्र संसारे रतिं न करोतीति योज्यम् । किं कृत्वा? ज्ञात्वा संसारम् । किंविशिष्टम्? ‘दुःखरूपं’ दुःखस्वभा-
वम् । तदुक्तम्—“जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य । अहो ! दुक्खो हु संसारो जत्थ किस्संति जंतुणो
॥ १ ॥” तथा ‘दुःखफलं’ जन्मान्तरे नरकादिदुःखभावात् । ‘दुहाणुवन्धिं’ इति दुःखानुवन्धिं पुनः पुनर्दुःखसन्तान-
सन्धानात् । तथा चाह—“जाव इमो संसारो जाव य जीवस्स एत्थ आवासो । ता जम्मणसरणाणं कत्तो अंतो अणं-
ताणं ॥ १ ॥” तथा विडम्बनायामिव जीवानां विचित्राणि रूपाणि यत्र स तथा । पठ्यते च—“देवो नेरडओत्ति य
कीडपयंगोत्ति माणुसो वेसो । रुवस्सी य विरूवो सुहभागी दुक्खभागी य ॥ १ ॥” इत्यादि । एवंविधं ‘संसारं’ चतुर्ग-
तिरूपं सुखभाराभावादसारं ‘ज्ञात्वा’ अवबुध्य न ‘रतिं’ धृतिं तस्मिन् ‘कुरुते’ विदधाति भावश्रावकः । चिन्तयति च—
“धन्ना ते सप्पुरिसा जे नवरमणुत्तरं गया मोक्खं । जम्हा ते जीवाणं न कारणं कम्मबंधस्स ॥ १ ॥” इति ४ ॥ ६३ ॥

तथा—

खणमेत्तसुहे विसए विसोवमाणे सयावि मन्नंतो । तेषु न करेइ गिद्धिं भवभीरू सुणियतत्तथो ॥ ६४ ॥
क्षणमात्रं सुखं येभ्यस्ते, तथा तान् ‘विषयान्’ शब्दादीन् ‘विषोपमानान्’ परिणामदारुणान् ‘सदाऽपि’ नैकदैव ‘जा-
नानः’ बुध्यमानो, यथा किल विषं भुज्यमानं मधुरमास्वादं दर्शयति, परिणामे तु प्राणप्रहाणाय संपद्यते । एवमेतेऽपि
विषया विरमावसानाः । यदाह वाचकः—“आदावत्यभ्युदया मध्ये श्रृङ्गारहास्यदीप्तरसाः । निकपे विषया वीभत्सकरुण
लज्जाभयप्रायाः ॥ १ ॥ यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः । किंपागफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः
॥ २ ॥” इत्यवगच्छन् भावश्रावकः तेषु न कुर्यात् ‘गृद्धि’ अत्यासक्तिं ‘भवभीरूः’ संसारवासचकितमनाः । भावयति
च—“सम्मद्दिट्ठीवि कयागमोवि अइविसयरागसुहवसगो । भवसंकडंमि पविसइ एत्थं तुह सच्चई नायं ॥ १ ॥” किमि-
ति गृद्धिं न करोति? यतो ‘मुणिततत्त्वार्थः’ जिनवचनश्रवणाद्धिजाततदसारत्वः । तथा हि जिनवचनम्—“विसएसु
नत्थि सोक्खं सुहाहिमाणो जियाण पुण एसो । पिच्चाउरनयणाणं उवलंमि सुवन्नबुद्धिं व ॥ १ ॥” तथा—“भुजंता
महुरा वित्रागविरसा किंपागतुहा इमे कच्छ कंइयणं च दुक्खजणया भावित्ति बुद्धिं सुहे । मज्झण्हे मयतिण्हिय व निययं
मिच्छाभिमंधिप्पया भुत्ता दिंति कुजोणिजम्मगहणं भोया महावेरिणो ॥ १ ॥” ५ ॥ ६४ ॥

तथा—

वज्जइ तिवारंभं कुणइ अकामो अनिवहंतो उ।धुणइ निरारंभजणं दयालुओ सबजीवेसु ॥ ६५ ॥
‘वर्जयति’ न करोति ‘तीव्रारंभं’ प्राज्यप्राणिपीडाहेतुं व्यवसायं खरकर्मादिकं, ढण्डणकुमारादिवृत्तान्ताकर्णनात् ।
करोति ‘अकामः’ मन्दादरः, तं विना ‘अनिर्वहन्’ लुशब्दो विशेषणार्थः, किंविशिनष्टि? सशूको गुरुलाघवालोचन-
पूर्वकं न निर्द्वन्धसवृत्त्येति । यतः—“सम्मद्दिट्ठी जीवो जइवि हु पायं समायरइ किंचि । अप्पोसि होइ वंधो जेण न
निद्धंधसं कुणइ ॥ १ ॥” तथा ‘स्तौति’ प्रशंसति ‘निरारंभजनं’ साधुलोकम् । एवम्—“धन्ना हु महामुणिणो
मणसावि करंति जे न परपीडं । आरंभपावविरया भुजंति त्तिकोडिपरिसुद्धं ॥ १ ॥” तथा ‘दयालुकः’ कृपावान्
सर्वजीवेषु ‘समस्तप्राणिषु ।—“एगस्स कए नियजीवियस्स बहुयाउ जीवकोडीओ । दुक्खे ठवंति जे केइ ताण किं
सासयं जीयं? ॥ १ ॥” इत्यादि भावयन् भावश्रावकः ६ । इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥

तथा—

गिहवासं पासं पिव मन्नंतो वसइ दुक्खिओ तंमि । चारित्तमोहणिज्जं निज्जिणिउं उज्जमं कुणइ ॥ ६६ ॥
‘गृहवासं’ गृहस्थतां ‘पाशं’ बन्धनविशेषमिव ‘मन्यमानः’ भावयन् ‘वसति’ अवतिष्ठते ‘दुःखितः’ दुःखवान् ‘तस्मिन्’
गृहवासे । यथा हि किल पाशपतितो विहङ्गमो नोत्पतितुं शक्नोति, कष्टं च तत्रावस्थानं कलयति । तथा वयमपि संसार-
भीरवोऽपि न प्रमजितुं शक्नुम इति । अपि च—“नागो जहा पंकजलावसन्नो दट्टं धलं नाहिसमेइ तीरं । एवं वयं

धर्मरत्नप्रसवृत्तिकम्

कामगुणेषु गिद्धा न भिक्खुणो मग्गमणुवयामो ॥ १ ॥” इत्यादि चिन्तयन् दुःखित इव गृहे तिष्ठति भावश्रावक इति । अत एव ‘चारित्रमोहनीय’ कर्म ‘निर्जेतुं’ अभिभवितुं ‘उद्यम’ प्रयत्नं ‘करोति’ चारित्रवतां दानसन्मानविनयप्रभावनादौ सर्वादरेण प्रवर्त्तते, अप्रीतिनिन्दालेशमपि न करोति । यतः—“एते निर्वृतिहेतवो मुनिगुणा निन्दाकृतां दुर्लभा नृणा सन्ति भवान्तरेऽपि सुलभाः सस्नेहपूजाकृताम् । तस्मान्निर्वृत्तिलिप्सुना मुनिजने कार्यो विचार्यादरो द्वेषोऽनर्थकदर्शनैक-निलयो हेयः सदा दूरतः ॥ १ ॥” इति ७ ॥ ६६ ॥

तथा—

अस्थिक्रभावकलिओ पभावणा वन्नवायमाइहिं । गुरुभक्तिजुओ धीमं धरेइ सइ दंसणं विमलं ॥ ६७ ॥

भावश्रावको ‘दर्शनं’ सम्यक्त्वं ‘विमलं’ अकलङ्कं धारयतीति पर्यन्ते योगः । कथंभूतः सन् ? इत्याह—देवगुरुधर्मतत्त्वे-
प्रास्तिष्यरूपो यो भावः परिणामस्तेन कलितो युक्तः ।—“मोक्षूण जिणं मोक्षूण जिणमयं जिणमए ठिए मोक्षुं । संसार-
कन्तवारं सधम्मकम्मं जगं सेसं ॥ १ ॥” इति निश्चयसारप्रतिपत्तिः । ‘प्रभावना’ उत्सर्पणा अष्टप्रकाराः । उक्तं
च—“पावयणी धम्मकही वाई नेमिच्छिओ तवस्सी य । विज्जासिद्धो य कवी अट्टेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥” तस्याः
शक्तितः म्र्यङ्करणेन शक्त्यभावेन तत्कारिणासुपष्टम्भवहुमानतः । तथा ‘वर्णवादः’ प्रशंसनम् । आदिशब्दाच्चैत्यायतन-
यात्रातीर्थयात्रादिभिः करणभूतैः । गुरुधर्माचार्यस्तत्र विशेषतो भक्तियुक्तः । कृतज्ञतासारमिदमालोचयन्—“संमत्तदायगाणां
दुप्पड्डियारं भवेसु बहुएसु । सब्बगुणमेलियाहिवि उवयारसहस्सकोडीहिं ॥ १ ॥” (‘धीमान्’ मतिमान् ‘सदा निरन्तरं’)
इत्थं निष्कलङ्कं दर्शनं धारयति ८ । इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

तथा—

गड्डुरिगपवाहेणं गयाणुगइयं जणं वियाणंतो । परिहरइ लोगसन्नं सुसमिक्खियकारओ धीरो ॥ ६८ ॥

गड्डुरिका एडकास्तासा प्रवाहः सञ्चरणं, एकस्या अनुमार्गेण सर्वासा गमनम् । गड्डुरिकाप्रवाहद्वारगाथायामादिशब्दः
कीटकादिप्रवाहसूचनार्थः । तेन कृत्वा ‘गतानुगतिकं’ अविचारितचारिणं ‘जनं’ लोकं विजानन् । उदाहरणमत्र—

वाणारसीनयरीए कम्हि महम्मवे लोगो न्हाइउं गंगामोइओ । तत्थ एगो विप्पो तंवभायणपाणी पाणीयमोगाहिउ-
कामो चोरभयाओ भायणं वालुयामज्जे निहणइ । उवरि चाभिन्नाणनिमित्तं वालुगापुंजं करेइ, ताहे नीरमोयरइ । तं च
दट्टण अन्नोवि अन्नोवि एवं पक्कओ जाव जायं पुंजपुंजाउलं पुलिणं । उत्तिओ भट्टो न जाणाइ कत्थ पुंजे तंवभायणं ।
दट्टण पुंजकरणपयट्टे लोए पुच्छइ, अरे ! किमेए पुंजा कीरति ? अन्नो अन्नमुहिसइ, जाव परंपराए । अन्नेण भणियं, भट्ट !
मए तुममेव कुणतो दिट्टोसि, तओ एस एत्थ विहित्ति मएवि कओ । भट्टो भणइ, न मए विहित्ति पुंजो कओ, किं तु
भायणलहणत्थं । तं च तुम्भेहि सुट्टुअरं हारियंति । पठितं च ब्राह्मणेन—“गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ।
पश्य मूर्खेण लोकेन हारितं ताम्रभाजनम् ॥ १ ॥”

एवंविधं लोकं जानन् परिहरति ‘लोकसंज्ञाम्’ अविचारितरमणीयां लोकहेरिम् । किं तर्हि ? ‘सुपरीक्षितकारकः’
सुपर्यालोचितविधायी ‘धीरो’ मतिमान् भावश्रावको भवति ९ । इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

तथा—

नत्थि परलोगमग्गे पमाणमन्नं जिणागमं मोक्षुं । आगमपुरस्सरं चिय करेइ तो सबकिच्चाइं ॥ ६९ ॥

‘नास्ति’ न विद्यते परः प्रधानो लोको मोक्षस्तस्य मार्गे ज्ञानादित्रयरूपे ‘प्रमाणं’ प्रत्ययहेतुरन्यत् । जिना रागादिजे-
तारस्तैः प्रणीतः सिद्धान्तो जिनागमस्तं मुक्त्वा तस्यैवान्यथात्वासंभवात् । उक्तं च—“रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्य-
मुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ? ॥ १ ॥” पूर्वापराविरुद्धत्वाच्च । तथा हि—“धर्मस्य मूलं
करुणा यथोदिता तद्वत् क्रियाऽप्यङ्गिहिता जिनोत्तमैः । सामायिक साधितमादितो यथा क्षान्त्यादयोऽप्येवमुच्य पालकाः
॥१॥” ‘आगमपुरस्सरं’ आगमपर्यालोचनपूर्वकमेव, चियशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । ‘करोति’ अनुतिष्ठति ‘ततः’ हेतोः सर्वाः
क्रियाः सकलकार्याणि चैत्यवन्दनादीनि । तत्र चैत्यवन्दनविधिस्त्रिकदशकाराधनरूपः । तथा चागमः—“तिन्नि निसी-
हिय तिन्नि य पयाहिणा तिन्नि च्च य पणामा । तिन्निहा पूया य तथा अवत्थतिअ भावणं च्च ॥ १ ॥ तिदिसिन्निरिक्ख-
णविरइ पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो । वन्नाइत्थियं मुदात्थियं च तिन्निहं च पणिहाणं ॥ २ ॥ इय दहतियसजुत्तं वंद-
णयं जो जिणाण तिक्कालं । कुणइ नरो उनउत्तो सो पावइ सासयं ठाणं ॥ ३ ॥” इत्यादि । पूजाविधिः—देवगुणप-
रिज्ञानात्तद्वावानुगतमुत्तमविधिना स्यादादरादियुक्तं यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् । यथा—‘काले सुइभूएणं विसिद्धपुप्फाइएहि
विहिणा ३ । सारथुइथोत्तगरुई जिणपूया होइ कायवा ॥ १ ॥ वत्थेण वन्धिऊणं नासं अहवा जहा समाहीए । वज्जेयव
तु तथा देहंमिवि कंडुयणमाई ॥ २ ॥” गुरुवन्दना—द्वादशावर्त्तादि द्वादशावर्त्तं षट्स्थानाराधनरूपं पञ्चविंशत्यावश्यकवि-

शुद्धं द्वात्रिंशद्विषयकलं च भवति । तत्र स्थानानि—“इच्छा य अणुश्रवणा अघावाहं च जप्त जवणा य । अवराहखा-
मणात्रि य छ द्वाणा हुंति वंदणए ॥ १ ॥” आवश्यकाः—अवणामदुगं अहजायख्यया तह दुवालसावत्ता । चउसिर
तिगुत्त दुपवेस निग्गमो एक्कसिं चव ॥ १ ॥” दोपास्तु—“वज्जेऽणादिय थद्धं पविद्ध परिपिडियं च टोलगइं । अंकुस
कच्छभरिंणिय मच्छुद्धत्तं मणपउट्टं ॥ १ ॥ वेइयवद्ध भयसा भयत मेत्तिं च गारवा कज्जा । तेणिय पडणिय रुट्टं तज्जिय
सढ हीलिय विलुत्तं ॥ २ ॥ दिट्ठमदिट्ठं सिंगं करमोयणयं तहा अणालिद्धं । ऊणं उत्तरचूलिय मूयं तह दहुरं चुडलिं
॥ ३ ॥” एतेषां व्याख्या—“आयाररहियमणादिय सुन्नयमणविग्गहो कुणइ थद्धं । पव्विद्धमणुवयारं अनिर्जतियओ ष जं
देइ ॥ १ ॥ परिपिडियं च वंदइ पिडियवयणेहिं पिडिए चावि । टोलगइं सेलो इव उप्फिडिउं विसयनीई वा ॥ २ ॥
उवगरणाइसु पेत्तुं गुरुं निवेसेइ अंकुसं भणियं । कच्छभरिंणियमन्नं वंदिउमभिजाइ रिंगंतो ॥ ३ ॥ मच्छुद्धत्तं उट्टणनि-
सीयणे मच्छओ ष उघत्ते । अन्नं वंदिउमहवा परियत्तइ सत्तिमीणो ष ॥ ४ ॥ अप्पपरपत्तिएणं मणप्पओमणेण मणपउ-
ट्टंति । वेइयपणगं सम्मं न वज्जए वेइयावद्धं ॥ ५ ॥ निच्छुभणाइभएणं भयकिइकम्मं न निज्जरा हेउं । भयई भइस्सइत्ति
य सन्होरयं वंदइ भयंतं ॥ ६ ॥ मेत्तीहेउं मेत्तीगारवओ विहिविऊ विणीओहं । एहि य पओयणेणं सकारणं निष्फलं
त्पि ॥ ७ ॥ ओहावणाभएणं गूहियकिरियस्स तेणियं जाण । पडणीयं पुण गुरुणो आहाराईण समयंमि ॥ ८ ॥ कय-
भालच्छिवियारो रुट्टो जं कुणइ तं भवे रुट्टं । अंगुलिमाइहिं गुरुं तज्जेमाणस्स तज्जिययं ॥ ९ ॥ गूहियविरियस्स सढ
हीलिययं वेइ चायगगणित्ति । विकहं करेइ दरवंदियम्मि पलिउंचियमिमत्ति ॥ १० ॥ दिट्ठमदिट्ठं जं खलु दीसंतो कुणइ
नो अदीसंतो । पासेहि सीसनमणं सिंगं मन्नंति पुव्वमुणी ॥ ११ ॥ एसो करोत्ति वंदइ एयं करवंदणं सुए सिट्टं । मुच्ची-
हामो दिग्गेण नन्नहा मोयणं एयं ॥ १२ ॥ आलिट्ठणालिट्ठे रयहरसीसे य होइ चउभंगो । आवस्सगपयवयणक्खरेहिं
हीणं भवे ऊणं ॥ १३ ॥ उत्तरचूलं वंदिय भणइ वंदांमि मत्यएणंति । मूयं च सदरहियं दहुरय दहुरसरेण ॥ १४ ॥
चुडलिं च रओहरणं गिण्हेइ भामेइ वा करे दिंतो । सब्बे वंदामोच्ची वत्तीस इमो चुडलिट्ठोमो ॥ १५ ॥” प्रत्याख्यान-
विधिः—“वंदणयं दाऊणं अघणयकाओ कयंजली गुरुणो । अणुभासंतो वयणं पच्चक्खाणं तु गिण्हेज्जा ॥ १ ॥” दान-
विधिः—“नायागयाणं कप्पणिज्जाण अन्नपाणाईणं दवाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुयं पराए भत्तीए आयाणुग्गहवुच्चीए
सजयाण दाणं ॥” इत्याद्याप्तागमपुरस्सरं सर्वाण्यपि कृत्यानि भावश्रावकः करोतीति १० ॥ ६९ ॥

तथा—

अनिगूहितो सत्तिं आयावाहाए जह वहुं कुणइ । आयरइ तहा सुमई दाणाइचउविहं धम्मं ॥ ७० ॥

‘अनिगूहन्’ अगोपायन् ‘शक्तिं’ सामर्थ्यं ‘आत्मावाधया’ स्वस्य परिजनस्य च पीडां परिहरन् दानादिचतुर्विधं धर्म
आचरतीति योगः । यतोऽत्राचि—“न्यायात्तं स्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानम् । दीनतपम्व्यादौ गुर्वनुज्ञयादानम-
न्यत्तु ॥ १ ॥” यथा ‘बहु करोति’ बहुकाल यावन्तं कर्तुं शक्नोति । अयमत्र भाव—सति विभवे नातितृष्णको भवति,
तनुविभवो नात्युदारः स्यात्, सर्वाभावसंभवात् । अत एवोक्तं पद्मसूत्रे—“लाभोचियदाणे लाभोचियभोयणे लाभोचिय-

१ अन्यत्र “आलिद्धमणालिट्ठे” इत्यस्ति । “आलिट्ठणालिट्ठे” इत्यपि ॥

परिवारे लाभोचियनिहिगरे सिया ।” स एव कुर्वाणो बहुना कालेन प्रभूतं दद्यात् । अन्वैरप्युक्तम्—“अज्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा
वल्मीकस्य च वर्धनम् । अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १ ॥” एवं शीलतपोभावनास्वपि भावनीयम् । ‘आचरति’
आसेवते ‘तथा’ तेन प्रकारेण ‘सुमतिः’ पारिणामिकीदुद्धिप्रधानो दानादिचतुर्विधं धर्ममिति स्पष्टं भावितं चेति ११॥७०॥

तथा—

हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुल्लहं लहिउं । सम्मं समायरंतो न हु लज्जइ मुद्धहसिओवि ॥ ७१ ॥

‘हितां’ पथ्यामिहलोकपरलोकयोः, ‘अनवद्यां’ अपापां ‘क्रिया’ अनुष्ठानं वन्दनप्रतिक्रमणादिकं ‘सम्यग्’ गुरुपदिष्ट-
विशिष्टविधिना ‘समाचरन्’ सम्यगासेवमानो न लज्जति (ते) इति संबन्धः । किं विशिष्टा क्रियाम् ? इत्याह—चिन्ता-
मणिरत्नमिव दुर्लभां दुरापा ‘लब्धा’ अत्राप्य मुग्धैरर्जैर्हसितोऽपीत्यक्षरार्थः स्पष्ट एव । भावार्थः कथानकगम्यः ॥ ७१ ॥

तच्चेदम्—

हृदियणाउरे नयरे नागदेवो नाम सेट्ठी होत्था । तस्स वसुंधरा गेहिणीजाओ जयदेवो पुत्तो । तेण दुवालसवामाणि
लेहसालाए पढंतेण सिविखया रयणपरिच्छा । विज्ञाया सव्वरयणगुणा, तेसिं लक्खणाणि य । तओ चिंतियत्थदाणाओ
चिंतामणी चव रयणं किमन्नेहिं सेलसयलसरिसेहिं ? । एस चव विउसाणमुवाएओ । अहंपि सव्वायरेण एयं चव गवेसा-
मिन्ति संपहारिऊण घराओ घरं हट्टाओ हट्टं भमंतो रयणाणि परिच्छिउं पवत्तो । जाहे सनयरे न पावइ चिंतामणिं, ताहे
जणयमापुच्छिऊण चलिओ नयरंतरेसु । भणिओ जणयहिं, पुत्तु ! किमेइणा वाएण ? न एस कत्थइ अत्थि, उवमा चव

धर्मरत्नप्रसवृत्तिकम्

एसा पंडियजणेण कया । ता दिद्वसिद्वइद्ववहारंण ववहरसु, जेण सुपीवरसिरीए भायणं होहि । तहावि सो चिंताम-
णिसत्थमणुगुणंतो तम्पत्तिसमुस्सुओ बलावि जणयाणं निग्गओ नयराओ । पवत्तो पइनयरं रयणाणि गवेसिउं । तेसुवि
तमपेच्छंतो समारूढो पद्यसिहरेसु । किलिस्सिओ समुह्तीरेसु वेलाउलेसु कत्थइ अलहंतो चिंतिउं च पवत्तो । किं मञ्जे
सच्चमेय ? नत्थि चैव एसो । अहवा न सत्थभणियमज्जहा होइत्ति कयनिच्छओ पुणो परिब्भमिउमारद्धो । अन्नया गामं
गामेण मणिखाणीओ पुच्छमाणस्स सिद्धं केणावि बुद्धपुरिसेण, अत्थि अमुगदेसे मणिवई नाम पाहाडिगा । तत्थ जो पुञ्ज-
वंतो सो मणिणो पावेइ । तओ पुच्छाउच्छीए किच्छेण पत्तो तत्थ गवेसंतो मणिणो । मिलिओ एगस्स पसुवालस्स उव-
चिट्टाण य गोट्टीए । दिट्ठो तस्स हत्थे वट्टपासाणो, गहिओ, परिच्छिओ, परिष्णाओ य जयदेवेण । चिंतामणी एसोत्ति
हरिसिएण मग्गिओ । अजवालो न देइ भणइ य, किमेइणा करिस्ससि ? । जयदेवो भणइ, गिहं गओ वालस्स कील-
णयं दाहामि । पसुवालो भणइ, एत्थ एरिसा अणेगे अत्थि ता किं न गवेसेसि ? । इयरो, भणइ अहमुस्सुओ नियगामं
गच्छामि, तुममेत्थ वत्थवओ अन्नमन्नं पाविहिसि, ता देहि ममेयंति । जाहे अपरोवयारसीलयाए सो कहवि न देइ ताहे
वरमेयस्सावि एस उवयरउ, मा निप्फलो होउत्ति भावित्तेण साहिओ से वणिएण सवभावो । भइ ! एस चिंतामणी बुच्चइ,
जइ ममं न देहि ता अप्पणावि एयमाराहेहि, जेण चित्तियाचिंतियाइं सुहाइं पावेसि । आभीरेण वुत्तं जइ सच्चमेस चिंता-
मणी ता चिंतियाइं गए बोेरकच्चराइं, सिग्घं देउ । इयरेण वुत्तं, न एवं चित्तिज्जइ, किं तु उववासतिगंतिमराइमुहे सम-
ज्जिओवलित्तभूमिए चंदणोवलित्तकप्पूरपयरच्चियपसत्थपट्टे अहयवत्थोवरि ण्हवियविलित्तो एस ट्ठाविज्जइ । सुरहिकुसु-
मेहिं पच्छादिज्जइ । तओ पणमिऊण लक्ख वा कोडिं वा चिंतिज्जइ । पहायसमए सधनेयस्स पुरओ पुंजीकयं पाविज्जइ ।
इमं सोऊण तुट्टेण आभीरेण चालियाओ छालियाओ गामाभिमुहं । एयाओ विक्किणिऊण कप्पूराइदवेहिं तुह पुयं
करिस्सं । सबं पहियकहियं विहाणमणुट्ठिरसं । तुमं पुण मम चिंतियं मा विफलीकरेज्जासि, जेण ते चिंतामणिनामं सच्चं
होइ । एवं मणिमुल्लवंतो चलिओ गामाभिमुहमाभीरो । इयरोवि तयलाभविसन्नो विचिंतेइ, न एस निव्वग्गसेहरो एयं
मणिरचयं धारिउं तरिस्सइ, ता अणुगच्छामि पेच्छामि य किमेस करेइत्ति चिंतिऊण लग्गो तयणुमग्गेण । ताव य भणि-
यमाभीरेण, भो चिंतामणि ! दीहो मग्गो ता कहेहि किंचिवि कहाणयं, जेण सुहं निव्वहइ । अह तुमं न जाणसि तो खाइं ते
अहं कहेमिस्सि दिंतेण पारद्धमणेण कहाणयं । जाहे मणी हुंकारंपि न देइ, ताहे कुविएण एरिसो निह्विक्खन्नो तुमं मम हुंका-
रंपि न देसि, कीइसी पुण लक्खसहस्सेसु आसा ? , ता न होसि चिंतामणी तुमं । अहवा सच्चं चिंतामणी चेवासि, जओ
जप्पभिइं पाविओसि तप्पभिइं मम चिंता मणे न फिइइ । तहा जोहं पभाए समुट्ठिओ सीयलरव्वाभोयणं छासीए रो-
ट्टयं च अणुवजीवंतो पयंपि चलिउं न पारेमि, सो कहमुववासतिगेण न मरामि ? , ता तेण वेरिणा मम मारणत्थमेव वन्नि-
ओसि, तो गच्छ जत्थ न पेच्छामिस्सि विंतेण तेण पक्खित्तो मणी दूरं । चलिओ छालियाओ घेत्तूण अडविसम्मुहंति । इयरोवि
हट्टुट्टो पणामपुवं तं गिण्हऊण पुण्णमनोरहो पत्थिओ नियनयरं । तप्पभावेण समुल्लसियरूवलायन्नो रयणपुंजो घ
दिप्पमाणो गामनगराईसु गोरविज्जंतो पत्तो महापुरं । निविट्ठो एगत्य हट्टे । दिट्ठो सगोरवं तन्नायणेण । भद्दागिइत्ति

१ “पच्छाइज्जइ” इत्यपि ॥

गाहिओ पाणिं पाणप्पियाए धूयाए । तीए सद्धिं परूढपणओ सुहमासिओ किंचि कालं । अन्नया निव्ववसाएहिं लज्जि-
ज्जइत्ति भाविऊण भणिया भज्जा, दवावेहि मे नीविं, जेण दधोवज्जणं करेमि । तीएवि निवेइयं जणयस्स । तेणावि तुट्टेण
दिन्नं से दीनाराण लक्खं । तओ कप्पूरागुरुचंदणाइदवेहिं पूइऊण सत्थुत्तविहिणाभिवासिओ वासभवणेगदेसे चिंता-
मणी । चिंतिया दीणारकोडी । पाविया पहायकाले पुंजीकया । सिद्धो मे चिंतामणित्ति हरिसिएण भणिया भज्जा, सम-
प्पेहि एयं तायस्म, तीएवि विग्गियाए तहेव कयं । तुइं ससुरकुडुवं । जायं जामाउयंमि बहुमाणपरं । अन्नया महया भड-
चडगरेण गओ हत्थिणाउरं । अभिन्नंदिओ जणएण, मम्मणिओ य सयणवग्गेण, पसंसिओ सेसलोएण । जाओ भायण-
मुत्तमसुहाणंति ॥ एत्थ एवमुवणओ—जहा तेण वणियसुएण चिरं परियडंतेण किच्छेण पाविया मणिवईपाहाडिया ।
तत्थवि कहं कहंपि चिंतामणिरयणं आराहिएण तेण पत्ता पहाणसुहसंपया । तहा संसारसायरे संसरंताण पाणिणं
दुल्लहा मणिवईपाहाडियासमाणा मणुयजाई । तत्थवि कहं कहंपि पाविज्जइ अचिंतचित्तामणिसमाणं जिणधम्मरयणं ।
आराहिए तंमि करयलसंट्टियाइं सग्गमोक्खसोक्खाइ । परिचत्ते पुण आभीरस्सेव सासयं चैव दुहदालिहंति ॥

तदेवमत्तिदुर्लभां धर्मारानक्रियां कुर्वन्न लज्जते भावश्रावको मूर्खैरुपहस्यमानोऽपि । ततः स्वार्थसिद्धिमवाप्नोति,
दत्तपोतनैगमवत् । तद्दृष्टान्तश्रायम्—

अत्थि पच्छिमसमुहोवकंठपइट्टिया विस्सउरी नाम नयरी । सुंदेररंजिएणैव जा सा रयणायरेण अणवरयं आलिं-
गिज्जइ दीहरविलोलकलोलवाहाहि । तीए सयलपयापियसंपायणपउणमाणसो पियं करो नाम राया । तत्थेव कुलक्कमाग-

यापरिमियविभवत्रित्धारियविगुद्धपसिद्धी रायाइजणसम्मओ दत्तो नाम इच्चमगो होत्था । सो य घरमागमुद्धमंभंभरियभु-
रिजाणवत्तेहिं समुद्धमोगाहिजण परकूलविदत्तदवो नियनयरीमागच्छइ । अन्नया य पणिकूलयाए कम्मपरिणामम्म यिय-
न्नजाणवत्तो सरीरमेत्तेण पत्तो नियमंदिरं चिंतितं पयत्तो । समुद्धे नद्धं समुद्धे चैव लब्धइत्ति जणयाओ ता पुणो ममुद्धमो-
गाहामित्ति निच्छिज्जण विक्रियघरवत्थाभरणाइवक्खरो संगहियमहग्घभंठो पुणोचि नमान्द्धो जाणवत्तं । भवियवयायमेण
नियत्तमाणस्स तंपि फुट्टं । समागओ गिहमंगमेत्तेण खुट्टो दत्तोत्ति जाया जणे पसिद्धी । नहावि गो पुग्गिक्कारं न मुंचइ,
इच्छइ पुणोचि समुद्धोयरण । न य नीवी अत्थि । पहीणपुणोत्ति न य से जप्पो कोवि देइ, तादे ददं विसन्नो पणट्ठप्पुह-
निद्धो उवाए मग्गमाणो झियायइ । अन्नया पहायसमए सुमरियं जणयवयणं । किर परलोचपरिमाण भणियपुद्धोहं जण-
एण, पुत्त ! विचित्ताइ त्रिहिणो विलसियाइं, सरयवभविच्चममाओ संपयाओ, तओ कयाइ य असंभावणिज्जंपि मंभवइ,
ता जइ कहंपि विभववोच्छेओ भवइ, तओ एत्थ गेहेगदेसे अब्भेजं दुवाररदियं भूमिगिहमत्थि । तंमग्गं तंभवयकरंदि-
याए तंभवपट्टए जं किंचि लिहियमत्थि तमणुच्चिद्धेज्जासि, तओ ते सधं सोहणं भविसइत्ति । तओ न अन्नहावाइं
ताओत्ति हरिसिएण उग्घाडियं भूमिगिहं दत्तेण । उवलज्जा करंठिया । वाइओ पट्टओ । तत्थ किर लिहियमेयं—“अत्थि
पच्छिमदिसाए रयणायरस्संतो गोयमदीवो नाम दीवो । सो अइकखटकामपासाणपडरभूमित्तो, रयणतणधारिसुरभि-
पडरो य । ताओ पुण सुरभीओ न सहंति माणुसदंसणंपि । अओ तत्थ सोमालकरीसभरियभूरिजाणवत्तेहिं गम्मइ ।

१ “खुट्टो” इत्यपि । २ “अज्जोस” इत्यपि ॥

पत्तलदुमच्छायासु करीसं पत्थरिज्जइ । अप्पणा अन्नत्थ दूरे आयासो कीरइ । तओ सुदिमत्थाओ सुरभीओ तेसु छाया-
रुक्खेसु करीममित्तंतासलुद्धाओ मग्गण्हकाले निसासु य उवविसंति छगणं च मुंचंति । तओ तासु गयासु पभाए छगण-
मन्नत्थ नेज्जण पिंडा कीरंति । परिसुक्कपिंडयाण जाणयत्ताणि भरिज्जंति । स गिहमाणिज्जंति । पज्जाट्टिएसु पिंडएसु पहाण-
रयणाणि पाउवभवंति । तओ अपरिमिया रिद्धी वित्थरइ । सत्थ मंतगुत्ती कायत्ता । एधं मधं परिणामसुंदरं होइ” ति
लिहियमेयं ददूण चित्तियं दत्तेण सुंदरमेयं, किं तु न मए पुष्यरमेयमवल्लोइयं । संपइ अन्नंतनिद्धणोहिं न तत्थ गतुं तीरइ,
न य कोइ दरिहाणमुद्धारए देइ । मंतगुत्ती य आइहा । कहिएवि सव्भावे न कोइ पत्तियइ, ता किमेत्थ पत्तयाळंति ।
अहवा करेमि ताव गहिल्लेच्चुयं ता मम कोइ किंपि अणुकंपाए वियरेज्जति । तओ बुद्धो अत्थि विभवो नत्थित्ति झिखंतो
तियचउक्कचचाराडसु परिहिंडइ । जंपि तंपि पुच्छिओ एधं चैव पडिभणइ । तओ गहिल्लो दत्तोत्ति पसिद्धं सधनयरीए ।
अत्थनामेण उम्मत्तीभूओ वराओ दत्तोत्ति सुयं नराहिवेण । अत्थं दाज्जण पडणीकरेमि तं महाणुभावंति चित्तिज्जाणा-
विओ एसो पुच्छिओ य, भो दत्त ! किमेयं जंपसि ? । सो भणइ, बुद्धी अत्थि विभवो नत्थि । तओ राइणा मा एवमु-
ल्लवसु, गिण्ह विह्वं जत्तिएण पओयणंति वित्तेण दरिसियं भंडागारं । तओ तुट्टेण लक्कहामेत्तं गहियं दत्तेण भणियं च, पत्ति-
एण चैव मे पओयणंति । उवरओ झिक्खियत्ताओत्ति परितुट्टो राया । दत्तेणवि गहिया गोयमदीयगमणविहिणू निज्जामगा ।
पडणीकयाइं पवहणाइं । संगहिया कम्मगरा । खणावियं पुंजीकयं जुण्णकरीस । अहो ! सुंदरं दत्तेण भंडं संगहियंति हंमंति
लोगा । अन्ने भणंति, भदं नरिदसाहुस्स, जेणेरिसो वणित्तो विदत्तो । अवरे चिंति, दिन्नो जळंजली दालिहस्स, दत्तेण
एरिसभंडसंगहेण । केइ समुल्लवंति, गहिल्लो ताव एस वराओ, नवरं चोज्जमेयं रायावि गहिल्लो, जमेयस्स नीवीं पयच्छइ ।
एनमणेगहा उवहसिज्जइ जणेण । घेपइ ता लोइहेहिं, निवारिज्जइ कारुणिएहिं, तहावि पट्टयलिहियलद्धपरमत्थो न लज्जइ
खत्तखणणाइवावारेण । धूलीधूसरियंगो कच्छोद्वयठइयकडियडो अप्पणा कम्मगरेहिं च करीसमुग्घइ । भरए भरेइ,
नामंकीए करेइ । कि बहुणा, बह्णि पवहणाणि करीसस्स भरेज्जण पत्तो सो गोयमदीवं । अणुचिद्धिज्जण पट्टयाइं पडि-
यागओ पिंडयभरिएहिं भूरिजाणवत्तेहि । अहो ! भंडाण रूवं पडिभंडंति हसिओ लोमेहिं । उवहासबुद्धीए चैव नीओ
सुकवालेहि नरवइसमीवं । पुच्छिओ रत्ता कि भंडमाणीयंति । तेण बुत्तं, देव ! गोमयापिडा । तओ हसिज्जण भणियो रत्ता,
उस्सुको तुमं गच्छ, संगोवेहि भंडं, भवेसु सुहाण भायणंति । तओ महापसाओत्ति भणंतो पणमिज्जण रायाणं पडिगओ
दत्तो । संगोविया पिडया, पज्जालिया विहिणा । पत्ताइं तेसु महग्घाइं महारयणाइं । जायं पुव पिव लच्छिपडिहत्तं निगे-
यणंति । पुन्नवंतोत्ति पससिओ नरिदाडलोएणंति । एस इहलोयकज्जसिद्धीए दिट्तंतो । परलोएवि एवं चैव भावियघोत्ति ॥

तथा—

देहट्टिइनिबंधणधणसयणाहारगेहमाईसु । निवसइ अरत्तदुट्टो संसारगएसु भावेसु ॥ ७२ ॥

देहस्थितिनिबन्धनानि शरीरोपष्टम्भकारणानि यानि धनस्वजनाहारगेहानि सुप्रतीतानि, तान्यादिर्येषां क्षेत्रकलत्रवस्त्र-
शस्त्रयानवाहनादीनां भावानां तेषु, ‘निवसति’ तिष्ठति गृह इति गम्यते । अरक्तद्विष्ट इवारक्तद्विष्टः, ‘संसारगतेषु’ भव-
भावेषु ‘भावेषु’ पदार्थेषु । इयमत्र भावना—शरीरनिर्वाहकारणेष्वपि वस्तुषु मन्दादरो भवति भावश्रावकः । भावयति

च—“न य एत्थ कोइ सयणो न सरीरं नेय भोगउवभोगा । जीवो अन्नभवगइं गच्छइ सर्वपि मोत्तूण ॥ १ ॥” तथा दुर्विनीतपरिजनादावपि नातिद्वेषं विदध्यात्, अपि तु बहिर्वृत्त्यैव । यतः—“कोवाविद्धो न मुणइ कज्जनकज्जं हियं च अहियं च । धम्माहम्मं च तहा कज्जविणासं च हाणिं वा ॥ १ ॥” तथा—“क्षमी यत्कुरुते कार्यं न तत्कोपवशंगतः । कार्यस्य साधिनी प्रज्ञा सा च क्रुडस्य नश्यति ॥ १ ॥ ” १३ ॥ ७२ ॥

तथा—

उवसमसारविद्यारो वाहिज्जइ नेयं रागदोसेहिं । मज्झत्थो हियकामी असग्गहं सवहा चयइ ॥ ७३ ॥

उपशमः कषायानुदयः, तत्सारं तत्प्रधानं विचारयति धर्मादिस्वरूपं यः स ‘उपशमसारविचारः’ भावश्रावको भवति । कथं पुनरेवंविधः स्यात् ? इत्याह—यतो विचारं कुर्वन् ‘वाध्यते’ अभिभूयते नैव रागद्वेषाभ्याम् । तथा हि—‘मयाऽयं पक्षः कक्षीकृतो बहुलोकसमक्षं, बहुभिश्च लोकैः प्रमाणीकृतस्तत्कथमिदानीमात्मानमप्रमाणीकरोमि’ इत्यादिभावनया स्वपक्षानुरागेण न जीयते । तथा ममैव प्रत्यनीको, मदीयपक्षदूषकत्वात् । तदेनं जनमध्ये धर्षयामीति सदसहूपणोद्धटनाक्रोशदानादिप्रवृत्तिहेतुना द्वेषेणाऽपि नाभिभूयते, किं तु ‘मध्यस्थः’ सर्वत्र तुल्यचित्तो ‘हितकामी’ हिताभिलाषी, स्वस्य परस्य चोपकारमिच्छन् ‘असद्ग्राहं’ अशोभनाभिनिवेशं सर्वथा ‘त्यजति’ मुञ्चति मध्यस्थगीतार्थगुरुवचनेन । यतः—“तरिज्जणवि मोहमहंतमायरं तीरनियडपत्तोवि । निज्जइ पडिप्पहेणं जीवो कुग्गाहमाहेहिं ॥१॥” गोष्ठाभाहिलरोहगुप्तादिवदिति १४॥७३॥

१ अन्यत्र—‘नेव’ इत्यपि ॥

तथा—

भावेतो अणवरयं खणभंगुरयं समत्थवत्थूणं । संबद्धोवि धणाइसु वज्जइ पडिबंधसंबंधं ॥ ७४ ॥

‘भावयन्’ पर्यालोचयन् ‘अनवरतं’ प्रतिक्षणं ‘क्षणभङ्गुरतां’ सततविनश्वरतां ‘समस्तवस्तूनां’ सर्वभावानाम् । तद्यथा—“इष्टजनसंप्रयोगार्द्धिप्रियसुखमपदस्तथाऽऽरोग्यम् । देहश्च यौवनं जीवितं च सर्वाण्यनित्यानि ॥ १ ॥ क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिममुदयाः सर्वे । सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥ २ ॥” इत्यादिरूपां ‘संबद्धोऽपि’ ब्राह्मणवृत्त्या रक्षणोपार्जनादिरूपया (युक्तोऽपि ‘धनादिषु’ धनस्वजनादिषु) ‘वर्जयति’ न करोति प्रतिबन्धो मूर्च्छा, तद्रूपं संबन्धं संयोगं भावश्रावकः । भावयति च—“चेच्चा दुपयं चउप्पयं च खेतं गिहं धणधज्जं च सव्वं । कम्मप्पवीओ अवसो पयाइ परं भवं सुंदरपावगं वा ॥ १ ॥” इत्यादि १५ ॥ ७४ ॥

तथा—

संसारविरत्तमणो भोगुवभोगा न तित्तिहेउत्ति । नाउं पराणुरोहा पवत्तई कामभोगेसु ॥ ७५ ॥

संसारोऽनेकदुःखाश्रयोऽयम् । यतः—“दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये पथममिह भवेद् गर्भवासे नराणां बालत्वे चापि दुःखं मल्लुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् । तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥ १ ॥” इति । तस्माद्विरक्तमनाः । अमी भोगोपभोगाः—“सइ भुज्जइत्ति भोगो सो पुण आहा-

१ ‘मलमलिनतनु-’ इत्यपि ॥

रपुष्पमाईओ । उवभोगो य पुणो पुण उवभुज्जइ भवणविलयाई ॥१॥” इत्येवमागमे प्रतीताः । ते न तृप्तिहेतवो भवन्ति प्राणिनाम् । तदुक्तम्—“सुमिणंतराणुभूयं सोक्खं समइच्छियं जहा नत्थि । एवमिमंपि अईयं सोक्खं सुविणोचमं होइ ॥ १ ॥ भोत्तूणं सुइसुंदरे सुरवहसंदोहदेहाइए भोए सागरपहमाणमणहे देवत्तणे जं नरा । रज्जंति त्थिकलेवरेसु असुईपुत्तेसु रिद्धोवमा मन्ने तित्तिकरा जियाण न चिरं भुत्तावि भोगा तओ ॥२॥” इति ‘ज्ञात्वा’ अवधार्य भोगसुखफलतां ‘परानुरोधात्’ अन्यजनदाक्षिण्यादिना प्रवर्तते ‘कामभोगेषु’ पूर्वोक्तस्वरूपेषु भावश्रावकः । वैरस्वामिजनकधनगिरिवदिति १६ ॥ ७५ ॥

तथा—

वेस व निरासंसो अज्जं कल्लं चयामि चिंतंतो । परकीयं पिव पालइ गेहावासं सिठिलभावो ॥ ७६ ॥

‘वेश्या’ पण्याङ्गना, तद्वत् ‘निरासंसः’ परित्यक्तास्थायुद्धिः । यथा हि वेश्या निर्धनकामुक्ताद्विशिष्टलाभमसंभावयन्ती किञ्चिद्भ्रममाना चाद्य श्वो वैनं त्यजामीति चिन्तयन्तीति मन्दादरा तमुपचरति । भावश्रावकोऽप्येवमेवाद्य श्वो वा मोक्तव्योऽयं मयेति मनोरथवान् ‘परकीयमिव’ अन्यसक्तमिव पालयति गृहवासं, कुतोऽपि हेतोः परित्यक्तमशक्नुवन्नपि ‘शिथिलभावो’ मन्दादरः सन् । स हि किल ब्रताप्राप्तावपि कल्याणमवाप्नोति, वसुश्रेष्ठिमुतसिद्धवत् १७ ॥

तथा हि—

तगराप वसुसेट्ठी सेणो सिद्धो य तस्स दो पुत्ता । पयइविणीया भद्दा पियंवया धम्मत्तिसिया य ॥ १ ॥ सेणो सोउं धम्मं पवइओ सीलचंदगुरुमूले । चरणकरणेसु नवरं पमायसीलो दढं जाओ ॥ २ ॥ सिद्धो पुण मुणिकिरियं अंगीकाउं

कहं पचायंतो । सुद्धसमणत्तकामी परिकम्मइ निच्चमप्पाणं ॥ ३ ॥ चिंतेइ मए सम्मं कायवो संजमो गुरुममीवे । दमि-
उण इंदियाइ अंगपि बहुक्खमं काउं ॥४॥ जइ कहवि पयन्नवओ इंदियविसएहिं वाहिणो होक्खं । फालं च जुओ तो मक्कडो
व दुहिओ भविरसामि ॥५॥ ता सुद्धसाहुधम्मं कइया पावेज एस मह जीवो । एवमणोरहगुरुरहआरुद्धमणो गमइ कालं
॥ ६ ॥ अह आगओ कयाई सेणो एयस्स दंसणनिमित्तं । उवविट्ठा गोट्टीए अन्नोन्नं चोयणं दाउं ॥ ७ ॥ अह कम्मवि-
हाणाओ विवाइया दोवि असणिपाएण । अच्चंतदुक्खिओ तो जाओ जणओ परियणो य ॥ ८ ॥ तत्थन्नया महप्पा
जुगंधरो केवली समोसरिओ । पुट्ठो गईविसेसं वसुणा सो निययपुत्ताणं ॥ ९ ॥ केवल्लिणा सिट्ठं से सिट्ठो सोहम्मकण्णम-
णुपत्तो । सेणो पुणो महिही वंतरदेवो ममुप्पन्नो ॥१०॥ कारणमिह सामन्ने सुद्धे सिद्धस्स आसि करणिच्छा । इयरेण उ सामन्नं
गहियं पि न पालियं सम्मं ॥११॥ इय नाउं परमत्थं सामन्नमणोरहे अमुंचंतो । गिहवासेवि सुसट्ठो वसेज्ज मंदायरो गेहे ॥१२॥

आह स्त्रीन्द्रियविषयाणामरक्तद्विष्टमध्यस्थासंबद्धानां गेहगेहवासयोश्चैकविषयत्वादर्थभेदो नोपलभ्यते, तत्कथं न पुन-
रुक्तदोषः ? इति सत्यम्, देशविरतेस्त्रिरूपत्वादेकस्मिन्नपि विषये परिणामनानात्वम् । एकस्यापि परिणामस्य विषयभे-
दोऽपि संभवतीति सर्वभेदनिषेधार्थत्वात्प्रपञ्चस्य न पौनरुक्त्यमिति व्याख्यानगाथाभिः प्रकाशितमेव, अतः सूक्ष्मधियाऽऽ-
लोच्य समाधानं विधेयम् । इति गाथासप्तदशकार्थः ॥ ७६ ॥

अथ प्रकृतप्रकरणमुपसंहरन्, प्रकरणान्तरं संबन्धयन्नाह—

इय सतरसगुणजुत्तो जिणागमे भावसावगो भणिओ । एस उण कुसलजोगा लहइ लहु भावसाहुत्तं ॥७७॥

‘इति’ उक्तप्रकारेण सप्तदशगुणगुक्तो जिनागमे भावश्रावको भणित इति प्रकटार्थम् । ‘एयः’ एवंविधः ‘पुनः’ शब्दो
विशेषणार्थः । किं विञ्चिणट्टि ? द्रव्यसाधुत्वावदेव भणित एवागमे । यदुक्तम्—“मिउपिंडो दवघडो सुसावओ तह य
दवसाहुत्ति । साहू य दवदेवो सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं ॥ १ ॥” एवंविधः परिणामोपार्जितकुशलयोगात्पुनः ‘लभते’ अवा-
प्नोति ‘लघु’ शीघ्रं ‘भावसाधुत्वं’ यथाऽवस्थितयतित्वम् । इति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

कीदृशः पुनर्भावसाधुर्भवतीत्युच्यते—“निर्वाणसाधकान् योगान् यस्मात् साधयतेऽनिशम् । समश्च सर्वभूतेषु तस्मा-
त्साधुरुदाहृतः ॥ १ ॥ क्षान्त्यादिगुणसपन्नो मैत्र्यादिगुणभूषितः । अप्रमादी सदाचारे भावसाधुः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥” स
कथं छद्मस्थैः प्रत्यभिज्ञायते ? लिङ्गैः, कानि पुनस्तानि ? इत्याह—

एयस्स उ लिंगाई सयला मग्गाणुसारिणी किरिया । सद्धा पवरा धम्मो पन्नवणिज्जत्तसुजुभावौ ॥ ७८ ॥
किरियासु अप्पमाँओ आरंभो सक्कणिज्जणुँट्ठाणे । गुरुओ गुणाणुराँओ गुरुआणाराहणं परंमं ॥ ७९ ॥

द्वारगाथाद्वयम् । अस्य व्याख्या—‘एतस्य’ पुनर्भावसाधोः ‘लिङ्गानि’ चिह्नानि ‘सकला’ समस्ता ‘मार्गानुसारिणी’
मोक्षाध्वानुपातिनी ‘क्रिया’ चेष्टा प्रत्यपेक्षणादिका १ । तथा ‘श्रद्धा’ वाञ्छा ‘प्रवरा’ प्रधाना ‘धर्मे’ संयमविषये २ । तथा
‘प्रज्ञापनीयत्वं’ सद्बोधलम्पटत्वं ‘ऋजुभावात्’ अकांटिल्येन ३ ॥ ७८ ॥ तथा ‘क्रियासु’ विहितानुष्ठानेषु ‘अप्रमादः’ अशै-
थिल्यम् ४ । तथा ‘आरम्भः’ प्रवृत्तिः ‘शकनीये’ शक्त्यनुरूपे ‘अनुष्ठाने’ तपश्चरणादौ ५ । तथा ‘गुरुः’ महान् ‘गुणानुरागः’
गुणपक्षपातः ६ । तथा ‘गुर्वाज्ञाराधनं’ आचार्यादेशवर्त्तित्वं ‘परमं’ सर्वगुणप्रधानम् ७ । इति सप्त लक्षणानि भावसाधोः ।
इति गाथाद्वयसमासार्थः ॥ ७९ ॥

व्यासार्थस्तु सूत्रकारः स्वयमेवाह—

भग्गो आगमनीई अहवा संविग्गवहुजणाइन्नं । उभयाणुसारिणी जा सा मग्गणुसारिणी किरिया ॥ ८० ॥

मृग्यतेऽन्विष्यतेऽभिमतस्थानावाप्तये पुरुषैर्यः स ‘मार्गः’ । स च द्रव्यभावभेदाद्ब्रह्मा । द्रव्यमार्गो ग्रामादेः । भाव-
मार्गो मुक्तिपुरस्य । सम्यग्ज्ञान (दर्शन) चारित्ररूपः, क्षायोपशमिकभावरूपो वा तेनेहाधिकारः । स पुनः कारणे कार्यो-
पचारात् ‘आगमनीतिः’ सिद्धान्तभणिताचारः । अथवा संविग्गवहुजनाचीर्णमिति द्विरूपोऽवगन्तव्य इति । तत्रागमो वीत-
रागवचनम् । उक्तं च—“आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्धिदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेतुसंभवात् ॥ १ ॥”
तस्य नीतिरुत्सर्गाववादरूपः, शुद्धसंयमोपायः स मार्गः । उक्तं च—“यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि निवर्त्तकं चान्तरात्मनो वच-
नम् । धर्मश्चैतत्संस्थो मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥ १ ॥ अस्मिन् हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति । हृदयस्थिते
च तस्मिन्नियमात् सर्वार्थसंसिद्धिः ॥ २ ॥” तथा सविज्ञा मोक्षाभिलाषिणो ये ब्रह्मवो जनाः, अर्थाद्वीतार्थाः, इतरेषा संवे-
गायोगात्, तैर्यदाचीर्णमनुष्ठित क्रियारूपम् । इह च संविग्गवहुजनासंविज्ञाना बहूनामप्यप्रमाणता दर्शयति । बहुजनग्रहणं
प्लविशोऽप्येकोऽनाभोगाऽनवत्रोधादिभिर्वितथमप्याचरेत् । ततः सोऽपि न प्रमाणमित्यतः संविग्गवहुजनाचरितं मार्गः ।
इत्यत एवाह—‘उभयानुसारिणी’ या आगमावाधया सविग्गव्यवहाररूपा सा मार्गानुसारिणी क्रिया । इति गाथार्थः ॥ ८० ॥

आह आगम एव मार्गो वक्तुं युक्तः । बहुजनाचीर्णस्य पुनर्मार्गीकरणमयुक्तं, शास्त्रान्तरविरोधात्; आगमस्य चाप्रमाण-

तापसेः । तथा हि—“बहुजणपवित्तिमेत्तं इच्छंतेहिं इह लोइओ च्वेव । धम्मो न उज्झियधो जेण तर्हि बहुजणपवित्ती ॥१॥ ता आणाणुगयं जं तं च्वेव बुहेण होइ फायधं । किमिह बहुणा जणेणं हंदि ण सेयत्थिणो बहुया ॥२॥” तथा—“जेट्ठमि विज्जमाणे उच्चिप अणुजेट्ठपूयणमजुत्तं । लोयाहरणंपि तहा पयडे भयवंतवयणंमि ॥ १ ॥” आगमस्तु केवलिनाऽपि नाप्र-
माणीक्रियते । यतः—“ओहो सुओवउत्तो सुयनाणी जइवि गिण्हइ असुद्धं । तं केवलीवि भुंजइ अपमाणसुयं भवे इहरा ॥ १ ॥” आगमे सत्यप्याचरितस्य प्रमाणीकरणे तस्य लघुता स्फुटैवेति, नैतदेवम्, अस्य सूत्रस्य शास्त्रान्तराणां च विष-
यविभागापरिज्ञानात् । तथा हि—इह सूत्रे संविग्नगीतार्था आगमनिरपेक्षं नाचरन्ति । किं तर्हि ?—“दोसा जेण निरुभंति जेण खिज्जंति पुबकम्माइं । सो सो मोक्खोच्चाओ रोगावत्थासु समणं व ॥ १ ॥” इत्याद्यागमं स्मरन्तो द्रव्यक्षेत्रकालभा-
वपुरुषाद्यौचित्यमालोच्य संयमवृद्धिकार्येव किञ्चिदाचरन्ति, तच्चान्येऽपि संविग्नगीतार्थाः प्रमाणयन्तीति स मार्गोऽभिधी-
यते । भवदुच्चारितशास्त्रान्तराणि पुनरसंविग्नगीतार्थलोकमसमञ्जसप्रवृत्तिमाश्रित्य प्रवृत्तानि, ततः कथं तैः सह विरोध-
संभवः ? तथाऽऽगमस्यापि नाप्रमाणतापत्तिः, अपि तु सुष्ठुतरं प्रतिष्ठा, यस्मादागमोऽप्यागमश्रुताज्ञाधारणाजीतभेदात् पञ्चधा
व्यवहारः प्ररूप्यते । यत उक्तं स्थानाङ्गे—“पंचविहे ववहारे पन्नत्ते । तंजहा—आगमववहारे १, सुयववहारे २, आणाववहारे ३,
धारणाववहारे ४, जीयववहारे ५ ॥” जीताचरितयोश्चानर्थान्तरत्वादाचरितस्य प्रमाणत्वे सुतरामागमस्य प्रतिष्ठासिद्धिः । ये
पुनर्मोहान्धा गीतार्थाचरितं मार्गमितरजनाचरितानि निदर्शनीकृत्य निर्लौठयन्ति ते वराका वयमागमरुचयः, इति मृषैवो-
द्धोषयन्ति । यत उक्तम्—“मूढा अणाइमोहा तव्वत्तामोत्ति तं कयत्थंता । तं च्वेव उ मज्जंता अवमज्जंता न याणंति ॥ १॥”
तस्मादागमाविरुद्धमाचरितं प्रमाणमिति स्थितम् ॥

अन्नह भणियंपि सुए किंची कालाइकारणावेक्खं । आइन्नमन्नह च्चिय दीसइ संविग्गीएहिं ॥ ८१ ॥

‘अन्यथा’ प्रकारान्तरेण ‘भणितम्’ उक्तमपि ‘श्रुते’ पारगतागमे ‘किञ्चिद्’ वस्तु ‘कालादिकारणापेक्षं’ दुष्पमादिस्व-
रूपालोचनपूर्वकं ‘आचीर्णं’ व्यवहृतमन्यथैव, चियशब्दस्यावधारणार्थत्वात् । ‘इत्येते’ साक्षादुपलभ्यते ‘संविग्नगीतार्थैः’
उक्तस्वरूपैः । इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

किं तद् ? इत्याह—

कप्पाणं पाउरणं अगोयरचाय झोलियाभिकखा । ओवगहियकडाहयलुंबयमुहदाणदोराई ॥ ८२ ॥

‘कल्पानां’ आगमप्रतीतानां ‘प्रावरणं’ परितो वेष्टनं प्रतीतमेव । ते हि किल कारणव्यतिरेकेण भिक्षाचर्यादौ गच्छता
संवृत्ताः स्कन्धगता एव बोद्धव्या इत्यागमाचारः । संप्रति प्राप्नियन्ते—‘अगोयर’ इति अग्रावतारः परिधानविशेषः साधु-
जनप्रतीतस्तस्य त्यागः कटीपट्टकस्यान्यथाकरणम् । तथा ‘झोलिका’ बाहुलम्बमानपात्रबन्धपात्रकरणरूपा, तथा ‘भिक्षा’
सा हि किल बाहूपरिधृतभाजनैर्विधेयेत्यागमः । तथा औपग्रहिककटाहकतुम्बकमुखदानदवरकादयोऽपि सुविदिता एव
साधूनामाचरिताः संप्रतीति गम्यते । इति गाथार्थः ॥ ८२ ॥

तथा—

सिक्किगनिक्खिक्खणाई पज्जोसवणाइतिहिपरावत्तो । भोयणविहिअन्नत्तं एमाई विविहमन्नंपि ॥ ८३ ॥

सिक्किगो दवरकरचित्तो भाजनाधारविशेषः, तत्र निक्षेपणं बन्धनमर्थात् पात्राणाम्, आदिशब्दात् पटलकपात्रकेसरि-
कादिधारणम्, युक्तिलेपेन पात्रलेपनम् । तथा ‘पर्युषणादितिथिपरावर्त्तः’ पर्युषणासांवत्सरिकम्, आदिशब्दाच्चतुर्मास-
कम्, केषांचिन्मतेन पाक्षिकमपि गृह्यते, तेषां तिथिपरावर्त्तस्तिथ्यन्तरकरणं, सुप्रतीतमेतत् । तथा ‘भोजनविधेरन्यत्वं’ यतीनां
प्रतीतम् । अन्येषां तु न व्याख्येयमेव, गुप्तस्यैवागमे तस्य विधानात् । आह च—“छक्कायदयावंतोवि संजओ बुल्लहं
कुणइ बोहि । आहारे नीहारे दुगंच्छिए पिंडगहणे य ॥ १ ॥” ‘एमाई’ इति प्राकृतशैल्या, एवंशब्दवकारलोपात् । एव-
मादिग्रहणेन मन्दमेधसः पुरुषान् वाचनया ग्रहणधारणाऽसमर्थानवबुद्ध्य पट्टिकापठनप्रवृत्तिः, किञ्चित् संयमविरोधेऽपि
सिद्धान्तस्य पुस्तकेष्वारोपणम्, क्वलिकादिधारणं च प्रवचनाव्यवच्छिन्नये गीतार्थप्रणीतं गृह्यते । विविधमन्यदप्याचरितं
प्रमाणभूतमस्तीति । तथा च व्यवहारभाष्यम्—“सत्थपरिज्ञा छक्कायसंजमो पिंडउत्तरज्झाये । रुक्खे वसहे गोवे जोहे
सोही य पुक्खरिणी ॥ १ ॥” अयमर्थः—शस्त्रपरिज्ञाध्ययने सूत्रतोऽर्थतश्चावगते भिक्षुरुत्थापनीयः, इत्यागममुद्रा । जीतं
पुनः पट्टायसंयमे दशवैकालिकषड्जीवनिकाध्ययने ज्ञाते भिक्षुरुत्थाप्यते । तथा पिण्डेषणायां पठितायामुत्तराध्ययनान्य-
धीयन्ते स्म, संप्रति तान्यधीत्याचार उद्दिश्यते । पूर्वं कल्पवृक्षा लोकस्य शरीरस्थितिहेतवोऽभूवन्, इदानीं सहकारकरी-
रादिभिर्व्यवहारः । तथा वृषभाः पूर्वमतुलवला धवलवृषभा बभूवुः, संप्रति धूसरैरपि लोको व्यवहरति । तथा गोपाः
कर्षकाश्चक्रवर्त्तिगृहपतिरत्नवत्तद्दिन एव धान्यनिष्पादका बभूवुः, संप्रति तादृगभावेऽपीतरकर्षकैर्लोको निर्वहति । तथा
पूर्वं योधाः सहस्रयोधादयोऽभूवन्, संप्रत्यल्पवलपराक्रमैरपि राजानः शत्रूनाक्रम्य राज्यमनुपालयन्ति । तद्वत्साधवोऽपि

जीतव्यवहारेणापि संयममाराधयन्ति, इत्युपनयः । तथा शोधिः प्रायश्चित्तं पाण्मासिकायामप्यापत्तौ जीतव्यवहारे द्वाद-
शकेन निरूपितेति । पुष्करिण्योऽपि प्राक्तनीभ्यो हीना अपि लोकोपकारिण्य एवेति दार्ष्टान्तिकयोजना पूर्ववत् । एवम-
नेकधा जीतमुपलभ्यते । इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

अथवा किं बहुना—

जं सवहा न सुत्ते पडिसिद्धं नेय जीववहहेज । तं सर्वपि पमाणं चारित्तधणाण भणियं च ॥ ८४ ॥

‘यद्’ वस्तु ‘सर्वथा’ सकलप्रकारैः नैव ‘सुत्ते’ सिद्धान्ते ‘प्रतिपिद्धं’ निवारितं, मैथुनसङ्गवत् । उक्तं च—“न य
किञ्चि अणुज्ञायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं । मोत्तं मेहुणभावं न तं विणा रागदोसेहिं ॥ १ ॥” नापि ‘जीववधहेतुः’
आधाकर्मग्रहणवत् । ‘तद्’ जीतानुष्ठानं सर्वमपि प्रमाणम् । चारित्रमेव धनं येषां तेषां (‘चारित्रधनानां’) चारित्रिणा-
मागमानुज्ञातत्वात् ‘भणितं’ उक्तं चागमे । इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

यद्गणितं तदेवाह—

अवलंबिउण कज्जं जं किंपि समायरंति गीयत्था । थेवावराह बहुगुण सवेसिं तं पमाणं तु ॥ ८५ ॥

‘अवलम्ब्य’ आश्रित्य ‘कार्यं’ संयमोपकारि यत्किमपि ‘आचरन्ति’ आसेवन्ते ‘गीतार्थाः’ विदितागमतत्त्वाः । ‘स्तोका-
पराधं’ अल्पदोषं, ‘बहुगुणं’ बहूनामुपकारकारि, सर्वेषामपि चारित्रिणां तत्प्रमाणमेव । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् ।
इत्यागमगाथार्थः ॥ ८५ ॥

अत्र कश्चित्कुटिल एवमाह—नन्येवमाचरिते युष्माभिः प्रमाणीकृतेऽस्माकं पितृपितामहादयो नानारम्भमिष्यात्व-
क्रियाप्रवृत्तयोऽभूवन्, अतोऽस्माकमपि तथैव वसित्तुमुचितम् ? इत्यत्रोच्यते, सौम्य ! मार्गणापि नीयमानो मो उन्मार्गेण
गमः, यतोऽस्माभिः संविज्ञाचरितमेव स्थापितं, न सर्वपूर्वपूरुषाचरितमित्युन्मत्त इव प्रलपति भवानिति । अत एवाह—
जं पुण पमायरूवं गुरुलाघवचित्तविरहियं सवहं । सुहसीलसढाइद्धं चरित्तिणो तं न सेवन्ति ॥ ८६ ॥

‘यत्पुनः’ आचरितं ‘प्रमादरूपं’ संयमवाधकत्वात्, अत एव ‘गुन्लाघवचित्तविरहितं’ सगुणमिदमपगुणं चेति पर्यालो-
चवर्जितं, अत एव ‘सवधं’ यतनाभावात् । ‘सुखशीलाः’ इहलोकप्रतिबद्धाः, ‘शठाः’ मिथ्यालम्बनप्रधानाः, तैराचीर्णमा-
चरितम्, ‘चारित्रिणः’ शुद्धचारित्रवन्तः ‘तन्न सेवन्ते’ नानुतिष्ठन्ति । इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

अस्यैवोद्धेखं दर्शयन्नाह—

जह सड्डेसु ममत्तं राढाए असुद्धउवहिभत्ताई । निदेज्जवसहितूलीमसूरिगाईण परिभोगो ॥ ८७ ॥

‘यथा’ इत्युपदर्शने, ‘श्राद्धेषु’ श्रावकेषु ‘ममत्वं’ ममीकारं, मदीयोऽयं श्रावकः, इति गाढाग्रहम् ।—“गामे कुले वा
नगरे व देसे ममत्तभावं न कर्हिञ्चि कुज्जा ॥” इत्यागमनिपिद्धमपि केचित् कुर्वन्ति । तथा ‘राढया’ शरीरशोभाकाम्यया
‘अशुद्धोपधिभक्तादीनि’ केचिद्गृह्णन्ति, तत्राशुद्धान्युद्गमादिदोषदुष्टानि, उपधिर्वस्त्रपात्रादिः, भक्तमग्नं, आदिशब्दादुपा-
श्रयः, एतान्यप्यागमे निपिद्धानि । यत एवमार्थम्—“पिंडं सेज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य । अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ १ ॥” इह च राढाग्रहणं पुटालम्बनेन दुर्भिक्षाक्षेमादौ यतनयाऽशुद्धमपि गृह्यते न दोषः, इति
ज्ञापनार्थम् । यतोऽभाणि पिण्डनिर्युक्तौ—“एसो आहारविही जह भणिओ सवभावदंसीहिं धम्मावरसगजोगा जेण न हायंति
तं कुज्जा ॥ १ ॥” तथा—“कारणपडिसेवा पुण भावेणासेवणत्ति दट्ठवा । आणाए तीए भावे सो सुद्धो मोक्खहेउत्ति
॥ १ ॥” तथा ‘निदेज्ज’ इति पत्रलेखनेनाचन्द्रकालिकं प्रदत्ता वसतिर्गृहम्, एषाऽपि साधूनामकल्पनीया, अनगारत्वहा-
नेर्भग्नसंस्थापनादौ कायवधसंभवात् । पठ्यते च—“अविकत्तिउण जीवे कत्तो घरसरणगुत्तिसंठप्पं । अविकत्तिया य तं
तह पडिआ अस्संजयाण पहे ॥ १ ॥” तत्तद्ग्रहणमप्येकैराचर्यते । तथा तूलीमसूरकादीनामपि परिभोगः कैश्चिद्विधीयते ।
तत्र तूलीमसूरके प्रतीते, आदिशब्दात्कास्यताम्रपात्रादिपरिग्रहः, एतान्यपि यतीनां न कल्पन्ते । यतोऽभाणि—“अज्जी-
वेहिवि जेहिं गहिण्हि असंजमो न ते गिण्हे । जह पोत्थदूसपणए तणपणए चम्मपणए य ॥१॥ गंडी कच्छवि मुट्ठी संपु-
डफलए तहा छिवाडी य । एयं पोत्थयपणयं पन्नत्तं वीयरगोहि ॥२॥ वाहलपुहत्तेहिं गंडी पोत्थो उ तुल्लगो दीहो कच्छवि
अंते तणुओ मज्जे पिहुलो मुणेयवो ॥ ३ ॥ चउरंगुल दीहो वा वट्टागिइ मुट्ठिपोत्थगो अहवा । चउरंगुलदीहो च्चिय चउ-
रंसो होइ विन्नेओ ॥ ४ ॥ संपुडगो दुगमाई फलगावोच्छं छिवाडिमेत्ताहे । तणुपत्तूसियरूवो होइ छिवाडी वुहा वेत्ति ॥५॥
दीहो वा हस्सो वा जो पिहुलो होइ अप्पवाहलो । तं मुणियसमयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ६ ॥ दुविहं च दूपप
णगं समासओ तंपि होइ नायव्वं । अप्पडिलेहियदूसं दुप्पडिलेहं च विन्नेयं ॥७॥ अप्पडिलेहियदूसे तूली उवहाणगं च नायव्वं ।
गंडुवहाणालिगिणिमसूरए चेव पोत्तमए ॥ ८ ॥ पल्लवि कोयवि पावार नवयए तह य दाढीयाली य । दुप्पडिलेहियदूसे
एयं वीयं भवे पणग ॥ ९ ॥ पल्लवि हत्थुत्थरणं कोयवओ रूयपूरिओ पडओ । दढियालि धोयपोत्ती सेसपसिद्धा भवे भेया

॥ १० ॥ तणपणं पुण भणिय जिणेहि दुट्टकम्ममहणेहिं । सालीवीहीकोइवरालयरत्ते तणाइं च ॥११॥ अयएलगाविमहिती मईणमजिणं तु पंचमं होइ । तलिगाखल्लगवज्जे कोसगकत्तीयवीएण ॥ १२ ॥ तह वियडहिरण्णाईयाइं न गिण्हइ असंजमो माहु । सुयपडिकुट्टं सवं न हु कप्पइ चरणजुत्ताणं ॥ १३ ॥ जाईफलपूगाई साहूण अकप्पिया अचित्तावि । रागं जेण भवे न तेसि दाणं न वा गहणं ॥ १४ ॥ ” ॥ ८७ ॥

अथ प्रस्तुतमुपमंहरशाह—

इच्चाई असमंजसमणेगहा खुदचिद्वियं लोए । बहुएहिवि आयरियं न पमाणं सुद्धचरणणं ॥८८॥

‘ इत्यादि ’ एवंप्रकारं ‘ असमञ्जसं ’ वक्तुमप्यनुचितं शिष्टानाम्, ‘ अनेकधा ’ अनेकप्रकारं धुद्राणां तुच्छसत्त्वानां चेष्टित-
माचरित ‘ लोके ’ लिङ्गिजने ‘ बहुभिरणि ’ अनेकैरघ्याचीर्णं ‘ न प्रमाणं ’ नालम्बनहेतुः ‘ शुद्धचरणानां ’ निष्कलङ्कचारित्रिणाम् ।
अप्रमाणता चास्यागमनिपिद्धत्वात्, संयमविरुद्धत्वात्, अकारणप्रवृत्तत्वाच्च सम्यगालोचनीया । इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

एवमानुपङ्गिकमभिधाय प्रस्तुतोपसंहारमाह—

गीयत्थपारतंता इय दुविहं मग्गमणुस्सरंतस्स । भावजइत्तं जुत्तं दुप्पसहंतं जओ चरणं ॥८९॥

‘ गीतार्थपारतन्त्यात् ’ आगमविदाज्ञया ‘ इति ’ उक्तनीत्या ‘ द्विविधं ’ द्विप्रकारं ‘ मार्गमनुसरतः ’ तदनुसारेण
व्यवहरतः साधोरिति गम्यते, ‘ भावयतित्वं ’ सुसाधुत्वं ‘ युक्तं ’ उचितं वक्तुमिति शेषः । किम् ? इत्यत आह—‘ दुष्प्र-
सहान्तं ’ दुष्प्रसहाचार्यपर्यन्तं ‘ यतः ’ यस्मात् ‘ चरणं ’ चारित्रमागमे श्रूयत इति शेषः । अयमभिप्रायः—यद्येवंविधाः
सद्भावसारं यतमानाश्चारित्रिणो नान्युपगम्यन्ते, ततस्तदन्येषामनुपलम्भाद्ब्रह्मवच्छिन्नं चारित्रम्; तद्ब्रह्मवच्छेदास्तीर्थं चेत्याया-
तम् । एतच्च प्रत्यक्षीभूतभूतभवद्भावविभावस्वभावस्य भगवतो महावीरस्य वचसा सह विरुद्धमिति न प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रतिपद्य-
न्ते । यतो व्यवहारभाष्यम्—“ केसि चिय आएसो दंसणनाणेहि वट्टए तित्थं वोच्छिन्नं च चरित्तं वयमाणे भारिया चउरो
॥ १ ॥ जो भणइ नत्थि धम्मो न य सामइयं न चेष य वयाइं । सो समणसंघवज्झो कायवो सव्वसंघेण ॥ २ ॥ ” इत्या-
द्यागमप्रामाण्याज्जीतव्यवहारिणः सुसाधव इति स्थितम् १ ॥ ८९ ॥

उक्तं प्रथमं भावसाधुलिङ्गम् । अधुना द्वितीयमाह—

सद्धा तिद्वभिलासो धम्मो पवरत्तणं इमं तीसे । विहिसेवं अतित्ती सुद्धदेसणा खलियंपरिसुद्धी ॥९०॥

श्रद्धा प्रवरा धर्म इति द्वितीयं लिङ्गमुक्तम् । तत्र श्रद्धा तीव्रः पटुरभिलाषः कर्मक्षयोपशमसज्ज्ञानप्रभवः । न पुनर्विषय-
प्रतिभासमात्रं, बालस्य रत्नग्रहाभिलाषवत् । ‘ धर्मे ’ श्रुतचारित्ररूपे ‘ प्रवरत्वं ’ प्रधानत्वं विशेषणीकृतं ‘ इदं ’ वक्ष्यमाणं
‘ तस्याः ’ श्रद्धायाः फलभूतम् । तद्यथा—विधिसेवा १ अतृप्तिः २ शुद्धदेशना ३ स्वलितपरिशुद्धिः ४ इति लिङ्गानि
श्रद्धायाः प्रवरत्वस्य । इति गाथार्थः ॥ ९० ॥

एतान्येव प्रत्येकं विभावयिषुर्विधिसेवामधिकृत्याह—

विहिसारं चिय सेवइ सद्धालू सत्तिमं अणुट्टाणं । द्वाइदोपनिहओवि पक्खवायं वहइ तम्मि ॥९१॥

१ अन्यत्र “ समणसंघेण ” इत्युपलभ्यते ॥

‘ विधिसारं ’ विधिप्रधानमेव ‘ सेवते ’ अनुतिष्ठति ‘ श्रद्धालुः ’ श्रद्धागुणवान् ‘ शक्तिमान् ’ सामर्थ्योपेतः सन् ‘ अनुष्ठानं ’
प्रत्युपेक्षणैपणादिकं कृत्यं, श्रद्धालुत्वस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि पुन शक्तिमान्न स्यात्ततः का वार्त्ता ? इत्याह—द्रव्याण्याहा-
रादीनि, आदिशब्दात् क्षेत्रकालभावाः परिगृह्यन्ते, तेषा दोषः प्रतिकूलता, तेन निहतोऽपि गाढपीडितोऽपि ‘ पक्षपातं ’
भावप्रतिबन्धं ‘ वहति ’ धाग्यति ‘ तस्मिन्नेव ’ विध्यनुष्ठान एव साधारणत्वाद्वाक्यस्य । इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

कथं पुनरनुष्ठानाभावे पक्षपातसंभवः ? इत्याह—

निरुओ भोजरसन्नू कंवि अवत्थं गओ असुहमन्नं । भुंजं न तंमि रज्जइ सुहभोयणलालसो धणियं ॥९२॥

‘ नीरुजो ’ ज्वरादिरुजा रहितो भोज्यानि खण्डखाद्यादीनि, तेषां रसमास्वादविशेषं जानातीति ‘ भोज्यरसज्ञः ’ ‘ काम-
प्यवस्थां ’ दुष्कालदारिद्र्यादिजनिता ‘ गतः ’ प्राप्तः सन् ‘ अशुभं ’ अनिष्टं ‘ अन्नं ’ भोजनं भुञ्जानो न ‘ तस्मिन् ’ अशुभात्ने
‘ रज्यति ’ गृद्धिमुपैति । तथा हि संभवत्येवैतत्—“ सुहभत्तलालिओवि हु दुकालदालिइभिहुओ पुरिसो । भक्कडयभुरुट्टाई
भुंजइ तह कंडुयं कंदि ॥ १ ॥ कडुयसं च गुयारं अरणिदलाई कुडिंझराईयं । भुंजइ जणो छुहंतो तरुछलीहिल्लिस्सि-
ल्लाई ॥ २ ॥ ” न चासौ गृद्धिमाधत्ते, अपि तु ‘ शुभभोजनलालसः ’ विशिष्टाहारलम्पट एव भवति । लह्वयाम्येतां कुदशां,
ततः सुभिक्षमवाप्य पुनरपि शोभनाहारं भोक्ष्ये, इति मनोरथवानिति । ‘ धणयं ’ इति वाढम् । इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

एवं दृष्टान्तः, अधुना दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

इय सुद्धचरणरसिओ सेवंतो द्वाओ विरुद्धं पि । सद्धागुणेण एसो न भावचरणं अइक्कमइ ॥ ९३ ॥

‘इय’ शब्दः प्राकृत एवंकारार्थो दृश्यते । तत एवं कुभक्तभोगदृष्टान्तेन ‘शुद्धचरणरसिकः’ निष्कलङ्कसंयमपालनोत्सा-
हवान् ‘सेवमानः’ द्रव्यतो वाह्यवृत्त्या ‘विरुद्ध’ अकल्पनीयमौषधपथ्यादि, ‘अपि’ शब्दाद्वैयावृत्त्यादिकं चाकुर्वन् ‘श्रद्धा-
गुणेन’ संयमाराधनलाम्पव्यपरिणामेन (एषो ‘न’) नैव भावचरणं ‘अतिक्रामति’ अतिचरति । उक्तं च—“दद्याद्दया न पायं
सोहणभावस्स हुंति विग्नकरा । बज्जकिरिया य उ तथा ह्वंति लोए विसिद्धमिणं ॥ १ ॥ दद्याकशुपलताडणं व सुहडस्स
निव्वुइं कुणइ । पहुआणाए संपत्थियस्स कंडंपि लगंतं ॥ २ ॥ जह चेव सदेसम्मि तह परदेमेवि हंदि धीराणं । सत्तं न
चलइ समुवत्थियमि कज्जंमि पुरिसाणं ॥ ३ ॥ कालोवि हु दुविभक्खाइलक्खणो न सलु दाणमूराणं । भिंदइ आसयरयणं
अवि अहिययरं विसोहेइ ॥ ४ ॥ एवं चिय भवस्सवि चरित्तिणो नहि महाणुभावस्स । सुहमामायारिगओ भावो परियत्तइ
कयाइ ॥ ५ ॥” भावश्च क्रियातो महानेत्र यतोऽवाचि—“क्रियाशून्यश्च यो भावो भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तरं दृष्टं
भानुखद्योतयोरिव ॥ १ ॥ जो होज्ज उ असमत्थो रोगेण व पेळ्ळिओ झुरियदेहो । सद्यमवि जहाभणियं कयाइ न तरिज्ज काउं
जो ॥ २ ॥ सोवि य निययपरक्कमववसायधिइवलं अगूहंतो । मोचूण कूडचरियं जइ जयई तो अवस्स जई ॥ ३ ॥” ९३ ॥

उक्ता विधिसेवा । संप्रत्यतृप्तिस्वरूपमाह—

तित्तिं न चेव विंदइ सद्धाजोगेण नाणचरणेसु । वेयावच्चतवाईसु जहविरियं भावओ जयइ ॥ ९४ ॥

‘तृप्तिं’ सन्तोषं, कृतकृत्योऽहमेतावतैव, इत्येवंरूपां ‘न चैव’ इति चशब्दस्य पूरणत्वाच्चैव ‘विन्दति’ प्राप्नोति श्रद्धाय

१ “जई जयतो अवस्स जई” इत्यपि ॥

योगेन संबन्धेन ज्ञानचरणयोर्विषये ज्ञाने पठितं यावता संयमानुष्ठानं निर्वहतीति संचिन्त्य न तद्विषये प्रमाद्यति । किं
तर्हि? नवनवश्रुतसंपदुपार्जनोत्साहं न मुञ्चति यदुक्तम्—“जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुयमउधं । तह तह पल्हाइ
मुणी नवनवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥ अपुधनाणगहणा निच्चन्भासेण केवलुप्पत्ती । भणिया सुयंमि तम्हा एयंमि महायरो जुत्तो
॥ २ ॥’ तथा—“अत्थो जस्स जिणुत्तमेहि भणिओ जायंमि मोहक्खए वद्धं गोयममाइएहि सुमहावुद्धीहि जं सुत्तओ ।
संवेगाइगुणाण बुद्धिजणणं तित्थेसनामावहं कायवं विहिणा सया नवनवं नाणस्स तस्सज्जणं ॥ १ ॥ तथा चारित्रविषये
विशुद्धविशुद्धतरसंयमस्थानात्राप्तये सद्धावनासारं सर्वमनुष्ठानमुपयुक्त एवानुतिष्ठति । यस्मादप्रमादकृताः सर्वेऽपि साधु-
व्यापारा उत्तरोत्तरसंयमकण्डकारोहणेन केवलज्ञानलाभाय भवन्ति । तथा चागमः—“जोगे जोगे जिणसासणंमि
दुक्खक्खया पउज्जेते । एक्केकंमि अणंता वट्टंता केवली जाया ॥ १ ॥” तथा वैयावृत्यतपसी प्रतीते, आदिशब्दात्प्रत्यु-
पेक्षणाप्रमार्जनादिपरिग्रहः, तेषु ‘यथावीर्यं’ सामर्थ्यांशुरूपं ‘भावतः’ सद्धावसारं ‘यतते’ प्रयत्नवान् भवतीति । अयमत्र
भावः—वैयावृत्यतपसोरपि तृप्तिं न मुञ्चति । भावयति च—“भरहो वाहुवलीवि य दसारकुलनंदणो य वसुदेवो ।
वेयावच्चाहरणा तम्हा पडितपह जईणं ॥ १ ॥ कम्ममसंखेज्जभवं खवेइअणुसमयमेव उवउत्तो । अन्नयरंमि वि जोगे वेया-
वच्चे विमेसेण ॥ २ ॥” तपोविषयेऽपि भावयति—“सवासिं पयडीणं परिणामवसादुवक्कमो होइ । पायमनिकाइयाणं
तवसा उ निकाइयाणंपि ॥ १ ॥ नयति जलधेस्तीरं नो वा नवाऽपि हि नौः श्रिता शमयति न वा भोगो रोगं प्रसिद्ध-
महौपधिः । ननप्रति सुखं नो वा लक्ष्मीर्नरस्य गृहागता जिनररतपरत्वेकान्तेन क्षिणोत्यशुभोच्चयम् ॥ २ ॥” इत्यादि ।
इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

गदितमृतमिस्वरूपम् । अथ शुभदेशनामभिधित्सुस्तदधिकारिणमाह—

सुगुरुसमीवे सम्मं सिद्धंतपयाण मुणियतत्तत्थो । तयणुन्नाओ धन्नो मज्झत्थो देसणं कुणइ ॥ ९५ ॥

सुगुरोः संबिन्नगीतार्थाचार्यस्य समीपे ‘सम्यक्’ पौर्वापर्यपर्यालोचनेन ‘सिद्धान्तपदाना’ आगमवाक्याना पदार्थवा-
क्यार्थमहावाक्यार्थदंपर्यार्थप्रकारेण ‘मुणिततत्त्वार्थो’ विज्ञातपरमार्थः । उक्तं च—“पयवक्कमहावक्कयअडदंपज्जत्थ एत्थ
त्तत्तारि । सुयभावावगमंसी हंदि पगारा विनिहिट्ठा ॥ १ ॥ संपुत्तेहि जायइ सुयभावस्सवगमो इयरहा उ । होइ विवज्जा
मोवि हु अणिट्ठकलओ य सो नियमा ॥ २ ॥” एवंविध एव देशनाधिकारी स्यात्, अन्यस्य दोषसंभवः । तथा चाग-
म—“मावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न याणइ विमेसं । वोत्तुंपि तस्स न खमं किमंग पुण देमणं काउं ॥ १ ॥” एवंवि-
धोऽपि गुरुणाऽनुज्ञातो न स्वातन्त्र्येण मौखर्यास्थैर्यातिरेकात् । उक्तं च—“आचार्यें ब्रूयमाणे यस्तिष्ठत्यन्तिकगोचरे । करोत्या
चार्यकं मूढः शिष्यता दूरमुत्सृजन् ॥ १ ॥ नासौ शिष्यो न वाचार्यो निर्धर्मः स कुमार्गगः । सर्वतो भ्रंशमायातः स्वाचा-
रात्साधुनिन्दितः ॥ २ ॥” तस्माद्भूर्वनुज्ञातो ‘धन्यो’ धर्मधनार्हत्वात् ‘मध्यस्थः’ स्वपक्षपरपक्षयो रागद्वेषरहितः सद्भूत-
वादी ‘देशनां’ धर्मकथां करोति । इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

१ ‘अदक्षस्य’ इत्यपि । २ ‘दोष समवत्’ इत्यपि । ३ ‘प्रियमाणे’ इत्यपि ॥

तथा—

अवगयपत्तसरूवो तयणुग्गहहेउभाववुद्धिकरं । सुत्तभणियं परूवइ वज्जंतो दूरमुम्मगं ॥ ९६ ॥

अवगतं सम्यगवबुद्धं पात्रस्य श्रावणीयस्य पाणिनः स्वरूपमाशयो येन स तथा । तथा हि—वालमध्यमबुद्धिबुधभेदा-
त्रिविधं पात्र श्रावणीयं भवति । तत्र—“वालः पश्यति लिङ्गं मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम् । आगमतत्त्वं तु बुधः परी-
क्षते सर्वयत्नेन ॥१॥” तेषां च देशनाविधिः—“वाह्यचरणप्रधाना कर्त्तव्यादेशनेह वालस्य । स्वयमपि च तदाचारस्तदग्रतो
नियमतः मेव्यः ॥ १ ॥ मध्यमबुद्धेस्त्रीर्यासमितिप्रभृतित्रिकोटिपरिशुद्धम् । आद्यन्तमध्ययोगैर्हितं खलु साधुसद्बुत्तम्
॥ २ ॥” इत्यादि पात्रानुरूपां देशनां करोति ।—“यद्भाषितं मुनीन्द्रैः पापं खलु देशना परस्थाने । उन्मार्गनयनमेतद्भव-
गहने दारुणविपाकम् ॥ १ ॥” इति ॥ अथबोत्सर्गप्रियमपवादप्रियं पारिणामिकं च पात्रं त्रिविधम् । इत्यादिपात्रस्वरूप-
सवगम्य श्रद्धावांस्तस्य पात्रस्यानुग्रहहेतुरुपकारकारी यो भावः शुभपरिणामस्तस्य वृद्धिकरम् । तदपि ‘सूत्रभणितं’ आग-
मोक्तं ‘प्ररूपयति’ व्याचष्टे, ‘वर्जयन्’ उत्सृजन् ‘दूरं’ यथाभवत्येवं ‘उन्मार्गं’ मोक्षप्रतीपां वर्त्तिनीम् । इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

आह देशना धर्मोपदेशः, स च समभावस्य साधोरत्रिशेषेण दातुमुचितः, किं सामायिकवाधाविधायिनाऽतिसन्धानप्रा-
येण पात्रापात्रविचारेण ? इति नैतदस्ति, तदनुग्रहाय प्रवृत्तावतिसन्धानायोगात् संनिपातातुरस्य क्षीरखण्डादिनिषेधनतः
क्वादिप्रदानवत् । अत एव सामायिकवाधाऽपि नास्ति, सर्वेष्वनुग्रहबुद्धेस्तुल्यत्वात् । अथवा सूत्रकार एव युक्त्यन्तरमाह—
सर्वंपि जओ दाणं दिन्नं पत्तंमि दायगाण हियं । इहरा अणत्थजणगं पहाणदाणं च सुयदाणं ॥ ९७ ॥

सर्वमपि यतो ‘दानं’ वितरणं ‘दत्तं’ वित्तीर्णं पात्रे ‘सुपां सूपं’ इति वचनात् ‘पात्राय’ उचितग्राहकाय ।—“जीवादि-
पदार्थज्ञो यः समभावेन सर्वजीवानाम् । रक्षार्थमुद्यतमतिः स यतिः पात्रं भवति दातुः ॥ १ ॥” इत्याद्युमास्वातिवर्णि
ताय ‘दायकानां’ (दातॄणा) ‘हितं’ कल्याणकारि भवतीति गम्यते । ‘इतरथा’ कुपात्राय परिग्रहारम्भशक्ताय दत्तमिति
प्रकृतम् (‘अनर्थजनकं’) अनर्थफलं स्यादिति शेषः । किं चातः प्रधानदानं च वर्त्तते, ‘श्रुतदानं’ देशनादिरूपम् । इति ॥९७॥

ततः किम् ? इत्याह—

सुट्टयरं च न देयं एयमपत्तंमि नायतत्तेहिं । इय देसणात्ति सुद्धा इहरा मिच्छत्तगमणाई ॥ ९८ ॥

‘सुट्टयरं’ अतिशयेन, चकारस्वावधारणार्थत्वात् । न देयमेवैतदपात्राय, सप्तम्याश्चतुर्थ्यर्थत्वात्, ‘ज्ञाततत्त्वैः’ विदिता
गमसद्भावैः । उक्तं च—“रत्तो दुट्ठो मूढो पुंविं बुग्गाहिओ य चत्तारि । उवएसस अणरिहा अरिहो पुण होइ मज्झत्थो
॥ १ ॥” तथा—“ओहेणवि उवएमो आदेएणं विभागसो देओ । नाणाइ बुद्धिजणओ महुरगिराए विणीयस्स ॥ १ ॥”
जओ—“अविणीयमाणत्तितो किलिस्सई भासई मुसं तह य । घंटालोहं नाउं को कडकरणे पवत्तेज्जा ॥ १ ॥ जिणपन्नत्तं
सुत्तं देज्ज विणीयस्स नाविणीयस्स । न हु दिज्जइ आभरणं पळिउंचिय कन्नहत्थस्स ॥२॥” इत्यपात्राणां परिहारेण पात्राणां
चौचित्यवृत्त्या देशनाऽपि क्रियमाणा शुद्धाऽभिधीयते । इतरथा (अन्यथा) क्रियमाणायां तस्या श्रोतॄणां मिथ्यात्वगमनम् ।
आदिशब्दप्रद्वेषातिशयाद्भक्तपानशय्याव्यवच्छेदादयः प्राणहान्यादयश्च देशकस्य दोषाः संभवन्तीति । अत एव भावा-
नुवृत्तिसारो गीतार्थः श्लाघ्यते । यतोऽत्राचि—“मग्गे य जोयइ तहा केई भावाणुवत्तणनएण । वीयाहाणं पायं च तहु-
चियाणं कुणइ एसो ॥ १ ॥” गीतार्थः । इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

ननु सूत्रभणितं प्ररूपयतीत्युक्तम्, यत्पुनः सूत्रानुक्तं विवादपदं लोकानां, तत्र पृच्छ्यमानानां गीतार्थानां किमु-
चितम् ? इत्याह—

जं च न सुत्ते विहियं न य पडिसिद्धं जणंमि चिररूढं । समइविगप्पियदोसा तंपि न दूसंति गीयत्था ॥९९॥

इह चशब्दः पुनरर्थ इति । ‘यत्’ पुनरर्थजातमनुष्ठानं वा नैत्र ‘सूत्रे’ सिद्धान्ते ‘विहितं’ करणीयत्वेनोक्तं चैत्यवन्दना-
वश्यक्यादिवत्, न च प्रतिषिद्धं, प्राणातिपातादिवत् । यत् ‘जने’ लोके ‘चिररूढं’ अज्ञातादिभावं ‘स्वमतिविकल्पितदोषाः’
स्वाभिप्रायपरिकल्पितदूषणाः ‘तदपि’ आस्तामागमोक्तं ‘न दूषयन्ति’ न युक्तमेतत्, इति परस्य नोपदिशन्ति संसारवृद्धि-
भीरवो ‘गीतार्थाः’ विदितागमतत्त्वाः । यत् उक्तं अगवत्याम्—“जेणं गोयमा ! अट्ठं वा, हेउं वा, पसिणं वा, वागरणं
वा, कारणं वा, अन्नायं वा, अदिट्ठं वा, असुय वा, अपरिज्ञायं वा, बहुजणमज्झे आघवेइ, पन्नवेइ, परूवेइ, दंसेइ, निदं-
सेइ, उवदंसेइ । सेणं अरहंताणं आसायणाए वट्ठइ । अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए वट्ठइ । केवलीणं आसाय-
णाए वट्ठइ । केवलपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए वट्ठइ ॥” अन्यत्राऽप्युक्तम्—“जं बहुखाई पत्तं न य दीसइ कहवि
भासियं सुत्ते । न य पडिसेहो दीसइ मोणं चिय तत्थ गीयाणं ॥ १ ॥” इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

गीतार्था होवं परिभावयन्ति—

संविग्गा गीयतमा विहिरसिया पुवसूरिणो आसि । तददूसियमायरियं अणइसई को निवारेइ ॥ १०० ॥

‘संविधाः’ मङ्गुमोक्षाभिलाषिणः ‘गीततमा’ इति पदैकदेशे पदप्रयोगो यथा—भीमसेनो भीम इति । ततो गीताः गीतार्थाः, तमटि प्रत्यये ‘गीतार्थतमाः’ इति भवति, अतिशयगीतार्था इति भावः । तत्काले बहुतमागमसद्भावात् । तथा त्रिधिरसो विद्यते येषां ते ‘त्रिधिरस्तिकाः’ विधिवहुमानिनः, संविघ्नत्वादेव । ‘पूर्वसूरयः’ चिरन्तनमुनिनायकाः ‘आमन्’ अभूवन्, तैः ‘अद्वैतं’ अनिपिद्धं ‘आचरितं’ सर्वं धार्मिकलोकव्यवहृतं ‘अनतिशयी’ विशिष्टश्रुतावध्याद्यतिशयविकलः ‘को निवारयति’ पूर्वपूर्वतरोनमाचार्याशातनाभीरुर्न कश्चित् । इति गाथाभावार्थः ॥ १०० ॥

तथैतदपि गीतार्थाः पर्यालोचयन्ति—

अइसाहसमेयं जं उस्सुत्तपरूवणा कडुविवागा । जाणंतेहिवि दिज्जइ निदेसो सुत्तवज्झत्थे ॥ १०१ ॥

ज्वलज्ज्वालानलप्रवेशकारिगरसाहसादप्यधिकमतिसाहसमेतद्वर्त्तते, यत् ‘उत्सूत्रप्ररूपणाः’ सूत्रनिरपेक्षदेशनाः ‘कटु-विपाकाः’ दारुणफला ‘जानानैः’ अवबुध्यमानैरपि ‘दीयते’ (वित्तीयते) ‘निर्देशो’ निश्चयः ‘सूत्रयाहो’ जिनागमानुषे ‘अर्थे’ वस्तुविचारे । किमुक्तं भवति—“दुब्भासिण एकेण मरीई दुक्खसायरं पत्तो । भमिओ कोडाकोडिं सागरसिरि-नामधेज्जाणं ॥ १ ॥ उस्सुत्तमायरंतो वंधइ कम्मं सुचिक्खणं जीवो । संसारं च पवहइ मायामोसं च कुवइ य ॥ २ ॥ उम्मगगदेमिओ मग्गनासओ गूढहियमाइहो । सदसीलो य ससहो तिरिआउं वंधए जीवो ॥ ३ ॥ उम्मगगदेसणाए चरणं नासिति जिणवरिंदाणं । वावन्नदंसणा खलु न हु लब्भा तारिसा दडुं ॥ ४ ॥” इत्याद्यागमवचनानि श्रुत्वाऽपि स्वाग्रहग्रहस्तचेतसो यदन्यथान्यथा व्याचक्षते विदधति च तन्महासाहसमेवानर्वाक्यपारासारसंसारापारपारावारोदरवि-वरभाविभूरिदुःखभाराङ्गीकारान् । इति गाथाभावार्थः ॥ १०१ ॥

आह किमेवमागप्रार्थमवबुध्यापि कोऽप्यन्यथावादमाद्रियते । येनैवमुच्यते, मत्यम्, आद्रियते । यत आह—

दीसंति य दडुसिणोणेने निथमडपउत्तजुत्तीहिं । विहिपडिसेहपवत्ता चेइयकिच्चेसु रूढेसु ॥ १०२ ॥

दृश्यन्ते दुष्प्रमारूपे च वक्रजडवहूले काले ‘दडुसिण.’ महासाहसिका रौद्रादपि भवपिशाचादग्निभ्यत ‘अनेके’ त्रिविधा निजमतिप्रयुक्ताभिरात्मीयबुद्धिव्यापारताभिर्युक्तिभिरुपपत्तिभिः ‘विधिप्रतिषेधप्रवृत्ताः’ इति कासाचित्क्रियाणामागमानु-क्तानामपि विधौ करणे प्रवृत्ताः, अन्यासामागमानिषिद्धतया चिरत्नजनाचरितानामप्यत्रिधिरयुक्ता एता न कर्त्तव्या धार्मि-कैरित्येवं प्रतिषेधे प्रवृत्ताः । केषु ? ‘चैत्यकृत्येषु’ स्नात्रत्रिस्वकारणादिषु ‘रूढेषु’ पूर्णपुरुषपरम्परया प्रसिद्धेषु । पूर्वकृदिर-विधिः, इदानींतनप्रवृत्तिर्विधिः, इत्येवं वादिनोऽनेके दृश्यन्ते साहसिकाः । इति गाथाार्थः ॥ १०२ ॥

ननु ते धर्मार्थिनः सर्वयत्नेन तथाप्रवृत्ता गीतार्थैः श्लाघनीया न वा ? इत्याह—

तं पुण विसुद्धसद्धा सुयसंवायं विणा न संसंति । अवहीरिज्जण नवरं सुयाणुरूयं परुविंति ॥ १०३ ॥

‘तां पुनः’ तेषां प्रवृत्तिं विशुद्धागमवहुमानगारा श्रद्धा येषां ते तथाविधाः ‘श्रुतसंवादं विना’ श्रुतभणितमन्तरेण ‘न शंसन्ति’ नानुमन्यन्ते, किं तर्हि ? बालक्रीडितमंतदिति बुद्ध्या ‘अवधीर्य’ मध्यस्थभावेनोपेक्ष्य (‘नवरं’ केवलं) ‘श्रुतानु-रूपं प्ररूपयन्ति’ यथा सूत्रे भणितं तथैव त्रिविदिषूगामुपदिशन्ति । अयमत्राभिप्रायः—इह हि धार्मिकमन्यान् कांश्चन घृतादिभिर्जिनत्रिस्वस्वपन्नं दूषयतः केवलेन गन्धोदकेन कुर्वतः कारयतश्चोपलभ्य मध्यस्थधार्मिकाः, किमत्र युक्तम् ? इति गुरुन् पृच्छन्ति । ततस्तेषां संविघ्नगीतार्थगुरवो व्यागृणन्ति । तद्यथा—वर्त्तमानमूलगमेषु द्रव्यस्तवः श्रावकाणामुपदिष्टो, न पुनस्तत्करणविधिरतः स पूर्वगतादौ संभाव्यते । पूर्वगतवेदिना चोमास्वातिवाचकेन प्रणीतप्रवचनोन्नतिहेतुप्रशमरति-तत्त्वार्थाद्यनेकमहाशास्त्रेण—“जिनभवनं जिनविम्बं जिनपूजा जिनमतं च यः कुर्यात् । तस्य नरामरशिवसुखफलानि करपल्लवस्थानि ॥ १ ॥” इत्यादिद्रव्यस्तवाभिधायिप्रकरणे पूजाविधिरेवमुक्तः—“सर्पिर्दुग्धदधिप्रवुद्धकुसुमैर्धूपाम्बुदीपै-स्तथा गन्धस्नात्रसुगन्धिचन्दनरसैः प्रत्युग्रसत्कुङ्कुमैः । पूजां निर्जितविद्विपोऽमलधियः कुर्वन्ति ये भावतो भुक्त्वा सौख्य-मिहामरं च सततं ते यान्ति शीघ्रं शिवम् ॥ १ ॥ गव्यहव्यदधिदुग्धपूरितैः स्नापयन्ति कलशैरनुत्तमैः । ये जिनोक्तवि-धिना जिनोत्तमान् स्वविमानविभवो भवन्ति ते ॥ २ ॥” तेनापि संविघ्नशिरोमणिना सिद्धान्तादृष्टोऽयमर्थो नोक्त इति संभाव्यते । अत एव गोविन्दाचार्येण सनत्कुमारसन्धिषु तथैव वर्णितः । पर्वकारेण धूपा(मा)वल्लिकाकारेण चानूदितः । प्रामाणिकसैद्धान्तिकमस्तकरत्नेन श्रीजिनेश्वराचार्येण कथानककोशशास्त्रे विशेषेण स्थापितः, तच्छिष्येणाभयदेवसूरिणापि पञ्चाशकवृत्तौ—देवैरपि मन्निहिते कालोदपुष्करवरसागरनीरे सत्यपि घृतक्षीरेक्षुरसवार्यानयद्भिरनादिरूढता घृतादिस्नानस्य स्थापिता चेति । तस्मान्मूर्खमुखरदूषितमपि घृतादिस्नानं युक्तमिति लक्षयामः । तथाऽधिवासनोदकानयनछत्ररथभ्रमण-दिक्पालस्थापनादीनामपि प्रभावनाविशेषहेतुत्वेन पूर्वपुरुषाचरितानां निषेधश्छद्मस्थैर्न कर्त्तव्यः, काऽप्यागमे निषेधादर्श-नात् । नापीन्द्रादिभिर्न कृतान्येतानीति ज्ञापकं प्रमाणं, देवमनुष्याणामाचारस्यासमानत्वात् । देवा हि प्रथमोत्पन्ना एव चैत्यपूजादि कुर्वन्ति । मनुजास्तु यावज्जीवं त्रिकालमपि । देवाः सकृदेककल्याणके पूजां कुर्वन्ति, न तु तपःकर्म । मनुजास्तु

प्रतिवर्षं तपःक्रियापूर्वकं सर्वतीर्थकृतां सर्वकल्याणकेषु पूजां विदधतीत्यादि । तस्मान्मनुजानां मनुजव्यवहारः श्रेयान् । अन्यच्च जिनमहिम्नः प्रवर्द्धनमेव साधु, न विघ्नकरणम् । यत उक्तम्—“पाणवहाई (नि) सुओ जिणपूयामोकखमग्गविग्घकरो । अज्जेइ अन्तरायं न लहइ जेणिच्छियं लाभं ॥ १ ॥ ” अत एव जिनत्रयचतुर्विंशतिपट्टादिकारणमपि गीतार्थो न दूषयन्ति, बहुविधान्तरायभीरुत्वादागमेऽनिषेधदर्शनाच्च । केवलं मौनमालम्बन्ते । यतोऽयं गुरुरूपदेशः—“जं बहुखाइ पत्तं नवि दीसइ कहवि भासियं सुत्ते । न य पडिसेहो दीसइ मोणं चिय तत्थ गीयाणं ॥ १ ॥ ” तथा—“सुत्तभणियंमि सुत्तं पमाणमियरमि होइ आयरणा । संविग्गगीयवहुजणनिसेविया सावि हु पमाणं ॥ २ ॥ ” किं च हरिभद्रसूरिणाऽपि त्रिधा प्रतिष्ठोक्ता । यतोऽत्राचि—“व्यक्ताख्या खल्वेका क्षेत्राख्या चापरा महाख्या च । यस्तीर्थकृद्यदा किल तस्य तदाद्येति समयविदः ॥ १ ॥ ऋपभाद्याना तु तथा सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया । सप्तत्यधिकशतस्य तु चरमेह महाप्रतिष्ठेति ॥ २ ॥ ” न च पृथग्विम्बानामियमिति वक्तुमुचितं, दृष्टकल्पनावशात् । न हि प्रेक्षापूर्वकारिणो दृष्टं विहायाऽदृष्टं परिकल्पयन्ति । इत्यादिशुद्धश्रद्धावान् श्रुतानुसारेण प्ररूपयति । इति गाथार्थः ॥ १०३ ॥

उक्तं तृतीयं श्रद्धालक्षणम् । अथ चतुर्थमाह—

अङ्गारमलकलंकं पमायमाईहिं कहवि चरणस्त । जणियंमि वियडणाए सोहिंति मुणी विमलसद्धा १०४ ॥

अतिचरणमनिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः, स एव गुणमालिन्यहेतुत्वान्मलम्, तच्चरणशशधरस्य कलङ्क इव तं, ‘प्रमादादिभिः’ प्रमाददर्पकल्पैराकुट्टिकायाश्चारित्रिणः प्रायेणासंभवात्, कथमपि कण्टकाकुलमार्गे यत्नेनापि गच्छतः कण्टकभङ्गवत्, ‘चरणस्य’ चारित्रस्य ‘जनितं’ उत्पादितम् । आकुट्टिकादीनां पुनः स्वरूपमिदम्—“आउट्टिया उ तिष्ठा दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ । विग्गहाइओ पमाओ कप्पो पुण कारणे करणं ॥ १ ॥ ” उपलक्षणं चैतत् दशविधायाः प्रतिसेवायाः । सा चैयम्—“दप्प १ प्पमाय २ णाभोगा ३ आउरे ४ आवईसु ५ य । संकिए ६ सहसाकारे ७ भए ८ पओसे य ९ वीमंसा १० ॥ १ ॥ ” अपिण्डः संभावने संभाव्यते एवैतच्चारित्रिणो ‘विकटनया’ आलोचनया शोधयन्ते’ अपनयन्ति ‘भुनयः’ यतयो ‘विमलश्रद्धाः’ निष्कलङ्कधर्माभिलाषाः । एवमवबुध्यमानाः—“नवि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो । जतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइओ कुट्टो ॥ १ ॥ जं कुणइ भावसल्ल अणुट्ठियं उत्तमद्वकालंमि । बुल्लहवोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥ २ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ १०४ ॥

सांप्रतं प्रस्तुतलिङ्गमुपमंहरैल्लिङ्गान्तरं संबन्धयन्नाह—

एसा पवरा सद्धा अणुवद्धा होइ भावसाहुस्स । एईए सबभावे पन्नवणिज्जो हवइ एसो ॥ १०५ ॥

‘एपा’ चतुरङ्गा ‘प्रवरा’ वरेण्या ‘श्रद्धा’ धर्माभिलाषः ‘अणुवद्धा’ अव्यवच्छिन्ना ‘भवति’ संपद्यते ‘भावसाधो’ प्रस्तुतयते । एतस्याः श्रद्धायाः ‘सद्धावे’ सत्ताया ‘प्रज्ञापनीय’ असद्धाग्रहविकलो भवत्येव (‘एपा’) भावमुनिः । इति गाथार्थः ॥ १०५ ॥

ननु किं चारित्र्यतोऽप्ययद्ग्रहः संभवति ? सत्यं संभवत्येव, मतिमोहमाहात्म्यात् । मतिमोहोऽपि कुतः ? इति चेदुच्यते—
विहिंउज्जेमवैन्नयभैयउंस्सग्गवैवायतदुंभयगयाइं । सुत्ताइं बहुविहाइं समए गंभीरभावाइं ॥ १०६ ॥

विधिशोध्यमश्च वर्णकश्च भयं चोत्सर्गश्चापवादश्च तदुभयं चेति द्वन्द्वः, तस्य च स्वपदप्रधानत्वाद्गतानीति प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते । सूत्राणि च विशेष्याणि । ततश्चैवं योज्यते—कानिचिद्विधिगतानि सूत्राणि समये सन्ति । यथा—“संपत्ते भिक्खकालंमि असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोएण भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥ ” इत्यादीनि पिण्डग्रहणविधिज्ञापकानि । उद्यमसूत्राणि—“दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राडगणाण अच्चए । एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १ ॥ ” इत्यादीनि । तथा—“वंदइ उभओ कालंपि चेइयाइं थयथुईपरमो । जिणवरपडिमा घरधूयपुप्फगंधच्चणे जुत्तो ॥ १ ॥ ” कालनिरूपणस्योद्यमहेतुत्वान्नपुनरन्यदाऽपि चैत्यवन्दनं न धर्मायेति । वर्णकसूत्राणि चरितानुवादरूपाणि । यथा—द्रौपद्या पूरुपपञ्चकस्य वरमालानिक्षेपः, ज्ञाताधर्मकथाद्यङ्गेषु नगरादिवर्णकरूपाणि च वर्णकसूत्राणि । भयसूत्राणि नारकादिदुःखदर्शकानि । उक्तं च—“नरएसु मंसरुहिराइवन्नणं जं पसिद्धिमेत्तेण । भयहेउ इहर तेसिं वेउ-वियभावओ न तयं ॥ १ ॥ ” अथवा दुःखविपाकेषु पापकारिणां चरितकथनानि भयसूत्राणि । तद्भयात्प्राणिना पापनिवृत्तिसंभवात् । उत्सर्गसूत्राणि—“इच्चैसि छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा ॥ ” इत्यादिपद्दुःखविवेकाय-रक्षाविधायकानि । अपवादसूत्राणि प्रायश्छेदग्रन्थगम्यानि । यद्वा—“न यालभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १ ॥ ” इत्यादीन्यपि । तदुभयसूत्राणि येषूत्सर्गापवादौ युगपत्कथ्येते । यथा—“अट्टज्झाणाभावे सम्मं अहियासियवओ वाही । तन्भावम्मि उ विहिणा पडियारपवत्तणं नेयं ॥ १ ॥ ” एवं ‘सूत्राणि बहुविधानि’ स्वसमयपरसमयनिश्चयव्यवहारज्ञानक्रियादिना नयमतप्रकाशकानि ‘समये’ सिद्धान्ते ‘गम्भीरभावानि’ महामत्तिगम्याभिप्रायाणि सन्तीति शेषः ॥ १०६ ॥

ततः किम् ? इत्याह—

तेसिं विसयविभागं अमुणंतो नाणवरणकम्मुदया । मुज्झइ जीवो तत्तो सपरेसिमसग्गहं जणइ ॥१०७॥

‘तेषां’ सूत्राणां ‘विषयविभागं’ अयमस्य सूत्रस्य विषयः, अयं चामुष्येत्येवंरूपं ‘अमुणन्’ अलक्षयन् ज्ञानावरणकर्मण उदयाद्गतोः ‘मुह्यन्ते’ मोहमुपगच्छति ‘जीव’ प्राणी । ततः ‘स्वपरयोः’ आत्मनः परस्य च पर्युपासकस्य ‘असङ्गहं’ असद्बोधं जनयति, जमालिपत् । इति गाथार्थः ॥ १०७ ॥

ततश्च—

तं पुण संविग्ग गुरू परहियकरणुज्जयाणुकंपाए । बोहिंति सुत्तविहिणा पन्नवणिज्जं वियाणंता ॥ १०८ ॥

‘तं’ मूढं, पुनःशब्दादर्थिनं विनीतं च ‘संविग्गा’ प्रतीताः, ‘गुरूवः’ पूज्याः ‘परहितकरणोद्यताः’ परोपकारगसिकाः ‘अनु-कम्पया’ मा गमदेष दुर्गतिं, इत्यनुग्रहबुद्ध्या प्रेरिताः ‘बोधयन्ते’ प्रज्ञापयन्ति, ‘सूत्रविधिना’ आगमोक्तयुक्तिभिः ‘प्रज्ञापनीयं’ प्रज्ञापनोचितं ‘विजानानाः’ लक्षयन्तः । तदितरस्य सर्वज्ञेनापि बोधयितुमशक्यत्वात् । इति गाथार्थः ॥ १०८ ॥

ततः—

सोत्रि असग्गहनाया सुविसुद्धं दंसणं चरित्तं च । आराहिउं समत्थो होइ सुहं उज्जुभावाओ ॥१०९॥

‘सोऽपि’ प्रज्ञापनीयमुनिः ‘असङ्गहत्यागात्’ निजपरिकल्पितबोधमोचनात् ‘सुविशुद्धं’ अतिनिर्मलं ‘दर्शनं’ सम्यक्त्यं ‘चारित्रं’ संयमं, चशब्दात् ज्ञानतपसी च, आराधयितुं समर्थो भवति ‘सुखं’ यथा भवत्येवं ‘ऋजुभावात्’ आर्जवगुणात् । इत्यनेन प्रज्ञापनीयस्याप्यार्त्तवादेवालोचितप्रतिक्रान्तस्य शुद्धिर्भवतीत्यावेदितम् । तथा आगमः—“सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्म चिद्धइ । निघाणं परमं जाइ धयसित्तेव पावए ॥ १ ॥ ” ॥ १०९ ॥

इत्युक्तं भायमाधोस्तृतीयं लिङ्गम् । अथ चतुर्थं क्रियापरत्वमुच्यते, तच्च प्रमादवतो न संभवतीति प्रमादपरिहारोप-देशमेव तावदाह—

सुगइनिमित्तं चरणं तं पुण छक्कायसंजमो चेव । सो पालिउं न तीरइ विगहाइपमायजुत्तेहिं ॥ ११० ॥

शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरिव, तस्या निमित्तं कारणं ‘चरणं’ यतिधर्मः । तदुक्तम्—“नो अन्नहावि सिद्धी पावि-ज्जइ जं तओ इमीएवि । एसो चेव उवाओ आरम्भा वट्टमाणा उ ॥ १ ॥ ” तथा—“विरहिततरकाण्डा वाहुदण्डैः प्रचण्डं कथमपि जलराशिं धीरैरा लङ्घयन्ति । ननु कथमपि सिद्धिः साध्यते शीलहीनैर्दृढयत यतिवृत्ते चित्तमेवं विदि-त्वा ॥ १ ॥ ” ‘तत्पुनः’ चरणं ‘पट्टायसंयम एव’ जीवरक्षण एव, चकाराच्चरित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमश्चेति सूचयति । ‘सः’ पुनः संयमः ‘पालयितुं’ वर्द्धयितुं ‘न तीरइ’ इति न शक्यते । विकथा विरुद्धकथा, आदिशब्दान्मद्यादिपरिग्रहः । उक्तं च—“मज्जां विसयकसाया निहा विगहा य पंचमी भणिया । एए पंच पमाया जीवं पाडेंति संसारे ॥ १ ॥ ” तत्र मद्यं साधूनामकटपनीयमेव । यतोऽवाचि—“सुरं वा मेरुं वावि अन्नं वा मज्जं रसं । सैरक्खं न पिवे भिक्खू जसं-सारक्खमप्पणो ॥ १ ॥ ” तथा विषयप्रमादोऽपि हेय एव । यतः सूत्रम्—“विसएसु मणुत्तेसुं पेमं नाभिनिवेसए ।

१ ‘प्रचण्डै’ इत्यपि । २ ‘धीघना’ इत्यपि । ३ ‘ससक्ख’ इत्यपि ॥

अणिच्चं तेसिं चिन्नाय परिणामं पोगगलाण उ ॥ १ ॥ ” एवं कपायप्रमादोऽपि न विधेयः । यत आर्षम्—“कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववहणं । वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो ॥ १ ॥ ” निद्राप्रमादोऽप्युचित एव विधेयः । तद्यथा—“पढमा पोरुसि सज्झायं वीया ज्ञाणं जिज्ञयायइ । तइयाए निहसोक्खं तु सज्झायं च चउत्थिए ॥ १ ॥ ” कथास्वप्ययमु-पदेशः—“आक्षेपणविक्षेपणविमार्गवाधनसमर्थविन्यासम् । श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननीं यथा जननीम् ॥ १ ॥ संवे-दनीं च निर्वेदनीं च धर्म्या कथां सदा कुर्यात् । स्त्रीभक्तचौरजनपदकथाश्च दूरात् परित्याज्याः ॥ २ ॥ ” तदेवमागम-निषिद्धविकथादिप्रमादयुक्तैः संयमः प्रतिपालयितुं न शक्यते, अतोऽसौ न विधेयः । इति गाथाभावार्थः ॥ ११० ॥

प्रमादस्यैव विशेषतोऽपायहेतुतामाह—

पवज्ज विज्जंपिव साहितो होइ जो पमाइल्लो । तस्स न सिज्झइ एसा करेइ गरुयं च अवयारं ॥ १११ ॥

‘प्रवज्या’ जिनदीक्षां विद्यामिव साधायन् भवति यः ‘पमाइल्लो’ इति प्रमादवान् “मउवत्थंमि मुणेज्जह आलं इल्लं मणं इत्तं” इति देशी वचनात् । ‘तस्य’ प्रमादवतो ‘न सिध्यति’ न फलदानाय संपद्यते ‘एपा’ दीक्षा विद्येव, चकारस्य भिन्न-क्रमत्वात् करोतीति च ‘गुरुं’ महान्तं ‘अपकारं’ अनर्थमिति । भावार्थः पुनरिह—प्रमादवतः साधकस्य यथा विद्या फलदा न भवति, ग्रहसंक्रमादिकमनर्थकं च संपादयति, तथा शीतलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं मोक्षादिसंपत्तये न भवति, (किन्तु) दीर्घभवभ्रमणापायं च विदधाति । उक्तं च—“सीयलविहारओ खलु भगवंतासायणानिओगेण । तत्तो

१ ‘मुणेज्जह’ इत्यपि ॥

भवो सुदीहो किलेसबहुलो जओ भणियं ॥१॥ तित्थथरपवयणसुयं आयरियं गणहरं महिहीयं । आसायंतो बहुसो अणं-
तसंसारिओ होइ ॥ २ ॥ ” तस्मादप्रमादिना सुविहितेन भाव्यम् । इति गाथार्थः ॥ १११ ॥

प्रमादस्यैव युक्त्यन्तरेण निषेधमाह—

पडिलेहणाइचेट्टा छक्कायविघाइणी पमत्तस्स । भणिया सुयंमि तम्हा अपमाई सुविहिओ होइ ॥११२॥

प्रत्युपेक्षणा मुनिजनप्रतीता, आदिशब्दाद्गमनादिग्रहः, चेष्टा क्रियाव्यापारः, इत्यनर्थान्तरम् । पट्टायविराधि
(घाति) नी ‘प्रमत्तस्य’ साधोः ‘भणिता’ उक्ता ‘श्रुते’ सिद्धान्ते । तद्यथा—“पडिलेहणं कुणंतो मिहो कंहं कुणइ जणव-
यकहं वा । देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ १ ॥ पुढवीआउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं । पडिलेहणाप-
मत्तो ऋणंपि विराहओ होइ ॥ २ ॥ ” तस्मात्सर्वव्यापारेष्वप्रमादी सुविहितो भवतीति पूर्वत्राऽपि योज्यम् । तच्चार्यतो
योजितमेव । इति गाथार्थः ॥ ११२ ॥

अथ कीदृशप्रमादी स्यात् ? इत्याह—

रक्खइ वएसु खलियं उवउत्तो होइ समिइगुत्तीसु । वज्जइ अवज्जहेउं पमायचरियं सुथिरचित्तो ॥११३॥

‘रक्षति’ अकरणबुद्ध्या परिहरति ‘व्रतेषु’ विषयभूतेषु ‘खलितं’ अतिचारम् । तत्र प्राणातिपातविरतौ त्रसस्थावरज-
न्तूनां संघट्टनपरितापनोपद्रावणानि न करोति । मृषावादविरतौ सूक्ष्ममनाभोगादिना, वादरं वचनाभिसन्धिना न

१ “वचनभिसन्धिना” इत्यपि ॥

भाषते । अद्रस्तादानविरतौ सूक्ष्ममननुज्ञाप्य कायिकादि न करोति, वादरं स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरननुजातं नादत्ते,
नापि परिभुङ्क्ते । चतुर्थव्रते दशब्रह्मचर्यस्थानानि सम्यगाराधयति । पञ्चमव्रते सूक्ष्मं बालादिममत्वं न करोति, वादरम-
नेपणीयाहारादि न गृह्णाति ‘परिगहोणेसणग्गहणे’ इत्याप्तवचनात् । उपकरणं चाधिकं मूर्च्छया न धारयति । रात्रिभ-
क्तविरतौ सूक्ष्ममामोद्गारादि रक्षति, वादरं तु दिवाग्रहीतं दिवाभुक्तमित्यादिचतुर्विधां रात्रिभुक्तिं न करोति । एवं सर्व-
व्रतेषु स्खलितं रक्षति । तथा ‘उपयुक्तः’ दत्तावधानो भवति । समितिषु प्रवीचाररूपासु, गुप्तिषु प्रवीचाराप्रवीचाररू-
पासु । यत् उक्तम्—“समिओ नियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयवो । कुसलवइमुदीरंतो जं वइगुत्तोवि समिओवि
॥ १ ॥ ” उपयुक्तता चासु प्रवचनमात्राध्ययनोक्तविधिना विज्ञेया । सर्वस्वं चैताः सर्वसाधूनाम् । यत् आह—“अष्टौ
साधुभिरनिशं मातर इव मातरः प्रवचनस्य । नियमेन न मोक्तव्याः परमं कल्याणमिच्छद्भिः ॥ १ ॥ ” किं बहुना, वर्ज-
यति अवद्यहेतुं प्रमादचरितं सुथिरचित्त इति स्पष्टार्थमेव । इति गाथार्थः ॥ ११३ ॥

तथा—

कालंमि अणूणहियं किरियंतरविरहिओ जहासुत्तं । आयरइ सबकिरियं अपमाई जो इह चरिती ॥११४॥

‘काले’ अवसरे, यो यस्याः प्रत्युपेक्षणादिक्रियायाः प्रस्तावस्तस्मिन्नित्यर्थः । प्रस्तावमृते कृप्यादयोऽपि नेष्टसिद्धये
स्युरित्यतः काले सर्वा क्रियां करोतीति योगः । कथंभूताम् ? ‘अन्यूनाधिकां’ न प्रमादातिशयादूनां, नापि शून्यतया
म्बस्य स्थापनार्थं वा समाधिका करोति, अवसन्नताप्रसङ्गात् । तथा चागमः—“आवस्सयाइयाइं न करे अहवावि हीण-
महियाइं । गुरुवयणत्रलाड तहा भणिओ एसो हु ओसन्नो ॥ १ ॥ ” तथा ‘क्रियान्तरविरहितः’ इति एकस्याः क्रियायः
द्वितीया क्रिया क्रियान्तरं, तेन विरहितः । प्रत्युपेक्षणादि कुर्वन्न स्वाध्यायं करोति, स्वाध्यायं कुर्वन्न वस्त्रपात्रादिपरिकर्मग-
मनादि वेति । अत एवोक्तमार्षे—“इदियत्थे विसज्जित्ता सज्जायं चैव पंचहा । तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रियंरिए
॥ १ ॥ ” नन्वेवं यत्केचन नमस्कारस्तोत्रादिसमुच्चारयन्तश्चैत्यप्रदक्षिणां ददति तदागमविरुद्धमिवाभाति, यतः केव-
लिनोऽप्युपयोगद्वयमेकदा नेष्यते, “सवस्स केवलिस्स जुगवं दो नत्थि उवओगा” इत्यागमश्रुतेः, इत्यत्रोच्यते, केवलिनो
युगपदुपयोगद्वयं नास्तीत्येतन्न ज्ञापकं, तस्य सामयिकोपयोगापेक्षत्वात्, छद्मस्थोपयोगस्यान्तर्माहर्षिकत्वात्, तेषां च
पदे पदेऽसंख्येयानां भावात्, जीववीर्यस्य चाचिन्त्यत्वात्, शीघ्रकारित्वाच्च, ईर्यासमितावप्युपयोगः संभवत्येव । तर्हि-
किमर्थमुक्तं सूत्रे ? ‘इदियत्थे विसज्जित्ता’ इत्यादि । इति चेत् सत्यम्, भिन्नविषयापेक्षं तत्तथा हि भिक्षाचर्यादिक्रिया
भिन्ना स्वाध्यायश्च भिन्नार्थ इति । स्वाध्यायोपयोगे ईर्योपयोगासंभवः । प्रदक्षिणायां पुनर्मनोवाक्कायैर्जिनवन्दनमेव चिकी-
र्षतमित्यभिन्नविषयता । तत्रोपयोगद्वयं त्रयं वा न विरुद्धम् । यत् एवमागमः—“भिन्नविसयं निसिद्धं किरियादुगमेगया
न एगंमि । जोगतिगस्सवि भइयिसुत्ते क्रिया जओ भणिया ॥ १ ॥ ” तथा—“सवत्थवि पणिहाणं तग्गयकिरिया-
भिहाणवंप्रेसु । अत्थे विसए य तहा दिट्ठंतो छिन्नजालाए ॥ १ ॥ ” तस्मात्संविन्नव्यवहारेण मन्दगत्या प्रदक्षिणायां स्तुति-
पाठेन कश्चिदोपः, अपि तु त्रियोगसारमुनुष्ठानमाराधितं भवतीत्यलं प्रसङ्गेन । ‘यथासूत्रम्’ इति सूत्रोक्तस्याऽनतिक्रमेण ।

१ ‘सुत्तेषु’ इत्यपि ॥

तत्पुनः—“मुक्तं गणहररइयं तहेव पत्तेयवुद्धरइयं च । सुयकेवल्लिणा रइयं अभिन्नदमपुष्णिणा रइयं ॥ १ ॥ ” तेषां निश्चयसम्यग्दृष्टित्वेन मद्भूतार्थवादित्वादन्यग्रथितमपि तदनुयायिप्रमाणमेव, न पुनः शेषमिति । आचरति सर्वक्रियाम प्रमादी च इह चारित्रीति सुगममेव । इति गाथार्थः ॥ ११४ ॥

उक्तं चतुर्थभावसाधुलिङ्गम्, अधुना पञ्चममाह—

संघयणादणुरुवं आरंभइ सक्रमेवणुट्टाणं । बहुलाभमप्पच्छेयं सुयसारविसारओ मुजई ॥ ११५ ॥

मंहननं वज्रर्पभनारान्नादि, आदिशब्दाद्द्वयक्षेत्रकालभावा गृह्यन्ते, तदनु रूपं तदुचितमेवारभते सर्व 'अनुष्ठान' तपः-प्रतिमाकल्पादि । यद्यस्मिन् संहननादां निर्वोदुं शक्यते तदेवारभते, अधिकस्य निष्ठानयनाभावेन प्रतिज्ञाभङ्गसंभवात् । कीदृक् पुनरारभते ? 'बहुलाभं' विशिष्टफलप्रापकं 'अल्पच्छेदं' अल्पापकारम् । अल्पशब्दस्याभाववचनत्वात्संयमावाधक-मिति भावः । 'श्रुतसारविशारदः' सिद्धान्ततत्त्वाभिज्ञः 'सुयतिः' भावसाधुः । इति गाथार्थः ॥ ११५ ॥

कथं पुनरेवंविधं स्यात् ? इत्याह—

जह तं बहुं पसाहइ निवडइ अस्संजमे दढं न जओ । जणितज्जमं बहुणं विसेसकिरियं तहाढवइ ॥ ११६ ॥

'यथा' येन प्रकारेण 'तत्' अधिकृतमनुष्ठानं 'बहु प्रसाधयति' पुनः पुनरासेवनेन निपतति वा 'असंयमे' सावद्यक्रि-यायां 'दृढं' अत्यर्थं नैव 'यतः' अनुष्ठानात् । किमुक्तं भवति—अनुचितानुष्ठानपीडितो न पुनस्तत्करणाद्योत्सहते, कदा-चिद्गोसंभवे च चिकित्सायामसंयमः, तदकरणे चाविधिमृतस्य संयमान्तरायः । अत एवोक्तम्—“सो हु तवो कायवो जेण मणो मगुलं न चित्तेइ । जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न सीयंति ॥ १ ॥ ” तथा 'जनितोद्यमं' संपादितकरण-मनोरथं 'बहुनां' अन्येषां समानधार्मिकाणां, शक्यानुष्ठाने हि बहूनां चिकीर्षा संभवति, नेतरस्मिन्निति । 'विशेषक्रियां' अधिकतगनुष्ठानं प्रतिमाभ्यासादिकम् । तथाशब्दः ममुच्चये, स चैवं योज्यते—शकौ सत्यां विशेषक्रियां चारभते, न ता निष्फलां विदधाति । इति गाथार्थः ॥ ११६ ॥

कथंभूतां पुनस्ता करोति ? इत्याह—

गुरुगच्छुन्नइहेउं कयतित्थपभावणं निरासंसो । अज्जमहागिरिचरियं सुमरंतो कुणइ सकिरियं ॥ ११७ ॥

गुरोर्गच्छस्य चोन्नतिरुत्सर्पणा, धन्योऽयं गुरुर्गच्छो वा यत्सानिध्यादेवंविधा वृष्करकारिणो दृश्यन्ते, इत्येवं जनश्ला-घारूपा, तच्छ्रेतुः तत्कारणम् । तथा 'कृततीर्थप्रभावनां' उत्पादितजिनशासनसाधुवादां, साधुः सुन्दरो जिनधर्मः सर्वधर्मेषु वयमप्येनमेव कुर्मः, इत्येवमादेयत्वसाधिकामिति भावः । 'निरासंसः' ऐहिकपारत्रिकाशंसाविप्रमुक्तः । तदुक्तम्—“नो इह लोगट्टयाए आयारमहिट्टेज्जा, नो परलोगट्टयाए आयारमहिट्टेज्जा, नो कित्तिवन्नसहसिलोगट्टयाए आयारमहिट्टेज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहि हेऊहिं आयारमहिट्टेज्जत्ति ॥ ” आर्यमहागिरेराचार्यस्य चरितं वृत्तान्तभागमोक्तं स्मरन् करोति सत्क्रियां प्रकृत साधुरिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः ॥ ११७ ॥

तच्चेदम्—

सुहम्मसामिणो अट्टमट्टाणे अपच्छिमचउइसपुष्ठी भयवं थूलभद्वो सूरी संवुत्तो । तस्स य दसपुष्पधारिणो दो सीसा, अज्जमहागिरी सुहत्थी य । परोप्पराणुराणो भारहे वासे विहरिंसु । अन्नया भयवं महागिरी सुहत्थिस्स गणं समप्पिऊण योच्छिन्नेवि जिणकप्पे तक्किरियमब्भमेउमारद्धो गणनिस्साए चैव विहरइ । विच्छुद्धिजंतं भत्तपाणं गिण्हइ । जहासस्ति सेस च जिणकप्पकिरियमणुचरइ । न याहमुत्तमकिरियाकारित्ति गधमुवहइ । खंतो दंतो गच्छेण चैव समं गामाणुगामं नुडज्जइ । अन्नया ते दोवि पाडलिपुत्तपुरं पत्ता । तत्थ सुहत्थिसूरिणा वसुभूइनामो सेट्ठी समणोवासओ कओ । सो नियपरियणं पइदिणं धम्मदेसणाए पडिवोहेइ । जाहे कोइ न पडिवुज्जइ, न य गुरुसमीवमुवेइ, ताहे सेट्ठी चित्तइ— “गुणसुद्धियस्स वयणं घयमहुसित्तो व पावओ भाइ । गुणहीणस्स न सोहइ नेह विहणो जह पईवो ॥ १ ॥ ” ता जइ भय-वंतो गुरु इहेवागंतूण एएसिं धम्मं कहंति ता कयाइ पडिवोहो होइ । अहवा विन्नवेमि ताव गुरुं, जमुच्चियं तं ते चैव नाणनिहिणो मुणिस्सत्तित्ति संपहारिऊण विन्नत्ता गुरवो । तेवि गुणदंसणाओ उवागया तस्स गिहं । तओ अमयनिस्सं-दसुंदरं तद्दंसणं सोऊण पडिवुद्धा सब्बे सेट्ठिसन्नायगा । तेसिं थिरीकरणत्थमायरिया दिणे दिणे तत्थागच्छंति । अन्नया उवविट्टाण तेसि तइयपोरसीए गोयरमडतो पविट्टो तत्थ पाडगे महागिरी । सत्संभमेण अब्भुट्टिओ सुहत्थिणा । तओ किमेस मलपंकधारी परिजुन्नचीवरावरियसरीरेगदेसो उत्तमपयपत्तेणेण अब्भुट्टित्ति विस्सिहण पुट्टं सेट्ठिणा, भयवं ! को एम तुम्हाणंपि गोरवट्टाणं ? । सूरिणा भणियं, एस महप्पा अम्ह गुरु, सुयनाणसल्लिसमुद्धो, परिमुक्कसरीरसकारो, जीवियमरणाससाविवज्जिओ, उज्झियधम्मभत्तपाणेसणिओ, देवाणंपि वंदणिज्जो, अम्हे एयस्स पायरेणुणावि न तुल्ला । एयमायत्रिऊण वसुभूई दुइयदिवसे सयणाणं कहेइ । जो सो कळिं गुरुहिं अब्भुट्टिओ महातवस्सी तमागच्छंतं दट्टूण

तुम्हे भक्तपाणाई उज्ज्वलमाणाई पकरेज्जह भणेज्जह य, भो समणा ! एयमम्हे उज्जाएमो जइ रोयइ ता गिण्हाहि । जइ सो कहिपि गिण्हइ ता तुम्हे अणंतसुहभायणं भवह । तेहिवि महागिरिमागच्छमाणमुवलब्ध तहेव कीरइ । किं पुण घरे घरे एव छड्डिज्जइत्ति उवउत्तेण अणेसणिज्जंति न गाहियं सूरिणा, भिक्खारिक्कभायणो चेवागओ उवस्सयं । किमेयंति सुहत्थिणा पुच्छिए भणियमियरेण, अज्जो ! तुम्हेहिं अणेसणा कया । कहमेयं भंते !, जं कहे अब्भुट्ठाणं कयंति । तओ न एत्थ एसणा जुज्झइत्ति दोवि विहरिऊण गया वइदिसं । तत्थ केइ दिवसे अत्थिऊण कयसंभासो भयवं महागिरी गओ एलगच्छनयरं । तत्थ य गयगपषओवरि कयाणसणो समाहिणा कालगओ गओ अमरलोगंति । सेसमक्खाणयमावस्सयाओ विन्नेयं । इह पुण उवणओ जहा महागिरिणा वोच्छिन्नावि जिणकप्पकिरिया जहासत्तीए समणुद्धिया, तहा अन्नोवि भावसाह वीरियमणिगूहंतो विसेसकिरियमायरइत्ति ॥

अमुमेवार्थं स्फुटतरं भावयन्नाह—

सक्कमि नो पमायइ असक्कज्जे पवित्तिमकुणंतो । सक्कारंभो चरणं विसुद्धमणुपालए एवं ॥ ११८ ॥

‘शक्ये’ सामर्थ्याचिते समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणास्वाध्यायाध्ययनादौ ‘न प्रमाद्यति’ नालस्यवान् स्यात् । ‘अशक्ये’ जिनकल्पमासक्षपणादौ ‘प्रवृत्तिं’ अङ्गीकारमकुर्वन् शक्यारम्भो भवतीति गम्यते । स च ‘चरणं’ संयमं ‘विशुद्धं’ अकलङ्कमनुरूपं कालसंहननादीना ‘पालयति’ वर्द्धयति ‘एवं’ उक्तन्यायेन सम्यगारम्भस्येष्टसिद्धिहेतुत्वात् । इति गाथार्थः ॥ ११८ ॥

ननु धर्ममपि कुर्वन् किं कश्चिदसदारम्भः स्यात् ? उच्यते, स्यादेव मतिमोहमानातिरेकवशात् । कथमिव ? क इव ? इति पराकृतमागङ्गाह—

जो गुरुमवमन्नंतो आरंभइ किर असक्कमवि किंचि । सिवभूइ व न एसो सम्मारंभो महामोहा ॥११९॥

‘यः’ कश्चिन्मन्दमतिः ‘गुरुं’ धर्माचार्यं ‘अवमन्यमानः’ हीनाचारोऽयमित्यवज्ञया पश्यन् ‘आरभते’ प्रकर्तुं प्रतिजानीते, ‘अशक्यं’ कालसंहननानुरूप जिनकल्पादिकम् । अपिशब्दाच्छक्यमपि ‘किञ्चित्’ विकृतिपरिहारदिकं गुरुभिरक्रियमाणमेव, न तु शेषमनुष्ठानमिति प्रकृतम् । ‘शिवभूतिरिव’ आद्यदिगम्बरवत् । नैव ‘एषः’ प्रक्रान्तपुरुषः ‘सम्यगारम्भः’ सत्प्रवृत्तिर्महामोहाद्धेतोः । अयमाशयः—नाकृतज्ञताज्ञानातिरेकौ विना कश्चिद्गुरोः परमोपकारिणश्चायाभ्रंशायोत्सहते । इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकगम्यः ॥ तच्चेदम्—

रहवीरपुरे नयरे सीहरहो नाम पत्थिवो होत्था । साहसवलमाणधरो सिवभूई तस्स पाइको ॥ १ ॥ सूरौत्ति समाड्ढो सो महुरासामिणो गहणकज्जे । सामंतमत्तिसहिओ दिन्नमि पयाणए पढमे ॥ २ ॥ संदेहो संजाओ सामंताईण तत्थ सबेसि । उत्तरटाहिणमहुगण का णु धेत्तुं समाएसो ॥ ३ ॥ पुण पुच्छियंमि नियमा रूसड रायत्ति किमिह कायव । इय चिताउलहियया भणिया सिवभूइणा ते उ ॥ ४ ॥ भो ! भो ! कि चिंताए सयराहं दोवि गिण्हिमो महुरे । वलियत्ते डिभाणं न हु दोसो होइ कइयावि ॥ ५ ॥ नवरमहं एगागी तुम्हे सबेवि होह एगत्थ । दुग्गेज्जमहं धेच्छं इयरं तुम्हेहि सबेवि ॥ ६ ॥ अह सम्मएण तेसि गहिओ सिवभूइणा अनाएण । गंतूण दाहिणाए महुराए सामिओ सहसा ॥ ७ ॥ इयरेवि उ-

१ “पयडेण” इत्यन्यत्र ॥

त्तराए महुराए सामियं गहेऊण । रहवीरपुरं पत्ता जुगवं वज्जाविओ राया ॥ ८ ॥ तुट्ठो दढं नरिंदो महया सिवभूइसाहनेणाह । मग्गसु चरं महावल ! सुहड ! फुडं नियमणोभिमय ॥ ९ ॥ सिवभूइणा पवुत्तं जइ तुट्ठो सुट्ठु देहि तो देव ! । मह इच्छियं पयारं नयरे रत्ति व दिवसं वा ॥ १० ॥ एवंति पत्थिवेणं पडिवन्ने निब्भओ भमइ एसो । न गणइ कालमकालं अक्खलिओ नयरक्खेहि ॥ ११ ॥ कइयावि मज्जरत्ते अहिए ऊणे व एइ कइयावि । भज्जा य जग्गमाणी चिट्ठइ जा तस्स आगमणं ॥ १२ ॥ निविन्ना सासूए साहइ सा तुज्जनंदणो एसो । एइ चिराओ गेहं अहंपि दुक्खेण जग्गामि ॥ १३ ॥ सा चिंतइ जइ राया तुट्ठो न तहावि एरिसं जुत्तं । उस्सिखलस्स भमणं ता सिक्खावेमि नियपुत्तं ॥ १४ ॥ तो भणइ सुवसु सुण्हे ! तुममहयं चैव अज्ज जग्गेमि । इय भणिय पिहियदारा पजग्गिया सा सुया तत्तो ॥ १५ ॥ सो मज्जरत्तसमए उग्घाडावेइ जाव घरदारं । तो भणियं जणणीए रुट्ठाए एरिसं वयणं ॥ १६ ॥ एत्थियमेत्तनिसाए उग्घाडं जत्थ पेच्छसे दारं । तत्थेव गच्छ पुत्तय ! न इह गिहे जग्गए कोवि ॥ १७ ॥ जग्गणीवयणं सोडं गहिओ माणेण माणसे एसो । साहवस्सयदारं निच्चुग्घाडं नियड कहवि ॥ १८ ॥ तत्थ नियच्छइ सूरिं भयसङ्गविज्जियं जियकसायं । नामेण अज्जकण्हं सज्जायंतं महरघोसं ॥ १९ ॥ धन्नो एस कयत्थो रहिओ माणावमाणदुक्खेहिं । इय चिंतनो वंदइ सूरिं भूल्लियभालयलो ॥ २० ॥ भणइ य भयवं ! भीओ भवभमणाओ तुहागओ सरणं । नियदिकखादाणेणं करेहि ता पहु ! पसायं मे ॥ २१ ॥ भणइ गुरू कोसि तुमं ? कि वा पवयसि ? सोवि पडिभणइ । सुपसिद्धो सिवभूई भिच्चोहं नयरनाहस्स ॥ २२ ॥ तो कह रायाणमपुच्छिऊण पवाविमो तओ भणइ । तो खाइ तुम्ह पुरओ दिक्खं अहयं सयं गिण्हे

॥ २३ ॥ इय भणिय जाव लोयं एसो सयमेव काउमारज्जो । ता दिक्खिओ गुरुहिं अणवत्थादोसभीएहिं ॥ २४ ॥ बलि-
मज्जाए राया उप्पधाविस्सइत्ति संकाए । सवेवि समुच्चलिया पत्ता देसंतरं अन्नं ॥ २५ ॥ कालेण पुणो रत्ता भत्तिभर-
निम्भरण आहूओ । रहवीरपुरं नयरं कण्हायरिएहिं सह पत्तो ॥ २६ ॥ दंसणहेउं तत्तो आहूओ निययमंदिं रत्ता ।
संमाणियो य सुंदरकंवलरयणप्पयाणेण ॥ २७ ॥ आलोइयंमि गुरुणा भणिओ किं पुण इमं महामोळं । गहियंति सो
पयंपइ दक्खिन्नाओ नरिंदंमि ॥ २८ ॥ तस्स परोक्खस्स पुणो कया निसेज्जाओ तंमि मुणिवण्णा । अपत्तिएण गहिओ
सिवभूर्इ तो मणे मणयं ॥ २९ ॥ अह अण्णया कयाई उवहिवियारो गुरुहिं पारज्जो । जिणकप्पथेरकप्पे पडुच्च एवं सुय-
विहाणा ॥ ३० ॥ जिण वारस रूवाइं थेरा चोइसरुविणो । अज्जाणं पन्नवीसं तु अओ उहुमुवग्गहो ॥ ३१ ॥ वुगतिग-
चउक्कपणगं नवदसएक्कारसे व वारसगं । एए अट्टविगप्पा उवहिम्मि उ हुंति जिणकप्पे ॥ ३२ ॥ सोउं तं सिवभूर्इ जंपइ
एसेव उत्तमो कप्पो । काउं जुज्जइ परलोयसाहणे वज्जकच्छाणं ॥ ३३ ॥ ता एम किञ्च कीरइ संपइ साहूहिं मोक्खकंखी-
हिं । मोत्तूण वत्थपत्ताइसंगहं जिणवराविहियं ॥ ३४ ॥ जं किर गुरुस्स लिङ्गं तं चिय सीसस्स जुज्जाए काउं । लोएवि
लिङ्गिणो जं नियनियदेवाणुरुवंति ॥ ३५ ॥ गुरुणा पडिभणियं— तित्थंकराणुचिन्नं किरियं अम्हारिसा कह कुणंति ।
कि करिवरपल्लाणं तरंति नणु रासभा वोहुं ॥ ३६ ॥ पढमे च्चिय संघयणे सो कीरइ गरुयसत्तसारेहिं । केवलमुववूह च्चिय
कायवा तस्स अम्हेहिं ॥ ३७ ॥ तित्थंकराणुकारं काउं न हि तरइ पागओ पुरिसो । गत्ताकोलो हरिकुंजरस्स किं लहइ
तुल्लत्तं ॥ ३८ ॥ मिच्छादिट्ठी मूढा करिति उग्घट्टयं जइ पड्डणं । ता किं तिलोयपहुणो कुणंति जाणंतया पुरिसा ॥ ३९ ॥
आणावत्तिं चिय पहुणो आराहणं इह पहाणं । न हि कोयरिओ सेवइ रायाणं रायधिंधेहिं ॥ ४० ॥ पञ्चविहो उवइट्ठो
कप्पो वीरेण विगयमोहेण । जहसत्ति तं कुणंतो आणं आराहए तस्स ॥ ४१ ॥ पढमो य थविरकप्पो परिहारविमुद्धि-
कप्पजिणकप्पा । पडिमाकप्पो भणिओ तहा अहालंदकप्पो य ॥ ४२ ॥ पंचवि इमे पहाणा अन्नोन्नानिंदयाण साहूणं ।
अत्तुक्करिसविमूडयविवज्जियाणं जओ भणियं ॥ ४३ ॥ जोवि दुवत्थतिवत्थो एणेण अचेलओ व संथरइ । न य ते दूसि-
त्ति परं सवेवि य ते जिणाणाए ॥ ४४ ॥ एत्थ किर थेरकप्पो निच्चो जम्हा इमंमि निष्फज्जा । सेसाण हुंति जोग्गा तित्थं
च इमेण निवहइ ॥ ४५ ॥ दुधलसंघयणाणं एसो च्चिय वट्टमाणपुरिसाणं । उचिओ कप्पो तम्हा एयंमि हवेज्ज उज्जुत्तो
॥ ४६ ॥ इय विविहज्जुत्तिसारं पन्नविओ सूरिणा तहवि एसो । गाढाभिमाणवसओ पडिभणित्तं एवमाढत्तो ॥ ४७ ॥
जइ ताव मंदसत्ता तुम्भे सुहलंपडा न उज्जमह । सइ सामत्थे किमहं पमायसीलो भविस्सामि ॥ ४८ ॥ इय जंपतो बहुहा
घारिज्जंतोवि बुहवसहेहिं । पडिवन्ननग्गभावो सिवभूर्इ निग्गओ सहसा ॥ ४९ ॥ नेहेणुपवइया लहुभइणी तस्स उत्तरा
नाम । तं वच्चंतं दट्ठं चित्तइ महभाउणो नूणं ॥ ५० ॥ एएण पगारेणं दिट्ठो परलोयसाहणोवाओ । इय चित्तिय संच-
लिया तहेव सा गग्गओ तस्स ॥ ५१ ॥ लज्जाकरित्ति काउं वेसाए साडिया नियच्छा से । तमणिच्छंतीं दट्ठूण भाउणा
सा इमं भणिया ॥ ५२ ॥ देवयदिन्नं एयं मा मुंचसु सुयणु ! साडियं एगं । इय एगसाडियत्तं संजायं तस्स अज्जाणं ॥ ५३ ॥
एवं सो मोहंधो आरंभेऊण कट्टणुट्टाण । जाओ मिच्छादिट्ठी दुग्गइदुक्खोहभागी य ॥ ५४ ॥ तथा चागमः—

“ऊहाए पन्नत्तं वोडियसिवभूर्इउत्तराहि समं । मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पन्नं ॥ १ ॥ ”

॥ शिवभूतिचरितं समाप्तम् ॥

महामोहता चास्य गुराववज्ञाबुद्ध्यात्मानमुन्नमयितुं प्रवृत्तत्वाद्द्रष्टव्या । गुर्वाज्ञया शासनोन्नतिकारिणो लब्धिवरुष्याति-
निरपेक्षस्य साधोरधिकृतपःकर्मातापनादिकरणं च वीर्यान्वाराराधनरूपत्वाद्गुणकरमेव । इति गाथार्थः ॥ ११९ ॥

उक्तं शक्यानुष्ठानारम्भरूपं पञ्चमं भावसाधुलिङ्गम् । अधुना षष्ठं गुणरागमाह—

जायइ गुणेसु रागो सुच्चचरित्तस्स नियमओ पवरो । परिहरइ तओ दोसे गुणगणमालिन्नसंजणणे ॥ १२० ॥

‘जायते’ संपद्यते ‘गुणेसु’ ज्ञानादिषु मूलोत्तरगुणेषु वा ‘रागः’ प्रतिबन्धः ‘शुद्धचारित्रस्य’ निष्कलङ्कसंयमस्य ‘निय-
मतः’ अवश्यंभावेन ‘प्रवरः’ प्रधानो निर्मिथ्य इति भावः । ‘परिहरति’ वर्जयति ‘ततः’ तस्माद्गुणानुगारात् ‘दोषान्’ बुष्ट-
व्यापारान् । किंविशिष्टान् ? ‘गुणगणमालिन्यसंजनकान्’ ज्ञानादीनामशुद्धिहेतून् भावसाधुः । इति गाथार्थः ॥ १२० ॥
गुणानुरागस्यैव लिङ्गमाह—

गुणलेसंपि पसंसइ गुरुगुणबुद्धीए परगयं एसो । दोसलवेणवि निययं गुणनिवहं निग्गुणं गणइ ॥ १२१ ॥

‘गुणलेशमपि’ आस्तां महीयासं गुणमित्यपेरर्थः । ‘प्रशंसति’ श्लाघते ‘परगतं’ अन्यसक्तम्, ‘एषः’ भावसाधुरुक्तमप्र-
कृतित्वान्महतोऽपि दोषानुत्सृज्याल्पमपि परगतं गुणं पश्यति, कुथितकृष्णसारमेयशरीरे सितदन्तपङ्क्तिं दामोदरवदिति
भावः । परिभावयति च—‘कालंमि अणाईए अणाइदोसेहिवासिए जीवे । जं पावियइ गुणोवि हु तं पन्नेज्जा महच्छ-
रियं ॥ १ ॥ ” तथा ‘दोषलवेनापि’ अल्पप्रमादस्खलितेनापि ‘निजकं’ आत्मीयं ‘गुणनिवहं’ सद्गुणकलापं ‘निर्गुणं’

असारं 'गणयति' कल्पयति । धिग् मां प्रमादशीलमिति भावनया प्रकृतो भावयतिः, कर्णस्थापितविस्मृतशुण्ठीखण्डाप-
श्चिमदशपूर्वधरश्रीवैरस्वामिवत् । इति गाथार्थः ॥ १२१ ॥

तथा—

पालइ संपत्तगुणं गुणह्रसंगे पमोयमुवहइ । उज्जमइ भावसारं गुरुतरगुणरथणलाभत्थी ॥ १२२ ॥

'पालयति' रक्षति वर्द्धयति च जननीव प्रिगपुत्रं संप्राप्तं सम्यक्कर्मक्षयोपशमोपलब्धं, गुणं ज्ञानचरणरूपम् । तथा गुणै-
राद्यानां समृद्धानां सङ्गे मीलके चिरप्रोपितस्निग्धवन्धुसंप्रयोग इव 'प्रमोदं' आनन्दं 'उत्' प्रावत्येन 'वहति' प्राप्नोति ।
तद्यथा—“असतां सङ्गपङ्केन यन्मनो मलिनीकृतम् । तन्मेऽद्य निर्मलीभूतं साधुसंबन्धवारिणा ॥ १ ॥ पूर्वपुण्यतरोरद्य
फलं प्राप्तं मयाऽमलम् । सङ्गेनासङ्गचित्तानां साधूनां गुणधारिणाम् ॥ २ ॥ ” तथा गुणरागादेव 'उद्यच्छति' प्रयतते
'भावसारं' सद्भावसुन्दरं यथा भवति, ध्यानाध्ययनतपःप्रभृतियतिकृत्येविति गम्यते । किम् ? इत्यत आह—गुरुतराणि
क्षायिकभावभावित्वाद्यानि गुणरतानि क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां यो लाभस्तदर्थी तदभिलाषवान् । तथा हि—
भवत्येवोद्यमवतामपूर्वकरणक्षपकश्रेणिकमेण केनलज्ञानादिसंप्राप्तिः, सुप्रतीतमिदम् । इति गाथार्थः ॥ १२१ ॥

गुणानुरागस्यैव प्रकारान्तरेण लक्षणमाह—

सयणोत्ति व सीसोत्ति व उवगारिसि व गणित्रओ वत्ति । पडिवंधस्स न हेऊ नियमा एयस्स गुणहीणो १२३

स्वकीयो जनः 'स्वजनः' । इतिगब्दस्तद्रेदसूचकः । वाशब्दः समुच्चये । ह्रस्वत्वं तु प्राकृतशैल्या । 'शिव्यः' विनेयः ।
इतिवाशब्दौ पूर्ववत् । 'उपकारी' भक्तपानदानादिना पूर्वभुपकृतवान् । इतिवाशब्दाबुक्वत् । 'गणित्रओ वत्ति' एकग-
च्छीय एकगच्छवासी । वेतिशब्दौ पूर्ववदेव । एतेषामेकैकोऽपि प्रायः प्रतिबन्धकारणं संभवति । 'नियमात्' निश्चयेन
'एतस्य' गुणराणिणः पुनः प्रतिबन्धस्य नैव 'हेतुः' निमित्तमेकोऽपि भवतीति । किंविशिष्टः सन् ? इत्याह—'गुणहीनः'
निर्गुण इति । उक्तं च—“सीसो सङ्गिलओ वा गणित्रओ वा न सोगइं, निति । जे तत्थ नाणदंसणचरणा ते सोगई
मग्गो ॥ १ ॥ ” तथा—“परलोकविरुद्धानि कुर्वीणं दूरतरत्यजेत् । आत्मानं योऽभिसंधत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ?
॥ १ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ १२३ ॥

अथ चारित्रिणा तेषां स्वजनादीनां किं विधेयम् ? इत्याह—

करुणावसेण नवरं अणुसासइ तंपि सुद्धमगंगमि । अच्चंताजोगंगं पुण अरत्तदुट्टो उवेहेइ ॥ १२४ ॥

करुणा परदुःखनिवारणबुद्धिः । उक्तं च—“परहितचिन्ताः मैत्री परदुःखविनाशिनी तथा करुणा । परसुखतुष्टिर्मु-
दिता परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १ ॥ ” तद्वशेन तद्रसिकतया, 'नवरं' केवलं रागद्वेषपरिहारेण 'अनुशास्ति' शिक्षयति
'तमपि' स्वजनादिकं, अपिशब्दात्तदितरमपि । क्व ? इत्याह—'शुद्धमार्गं' यथावस्थितमोक्षाध्वविषये । तद्यथा—“किं
नारकतिर्यङ्गनरविबुधगतिविधित्रयोनिभेदेषु । वत् । संसरन्न सततं निर्विघ्नो दुःखनिलयेषु ॥ १ ॥ येन प्रमादमुद्धतमाश्रित्य
महाधिहेतुमस्वलितम् । संत्यज्य धर्मचिन्ता रतस्त्वमार्येतराचरणे ॥ २ ॥ यन्न प्रयान्ति पुरुषाः स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनि-
पातम् । तत्र निमित्तमनार्यः प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥ ३ ॥ सइ सासयम्मि धामे तस्सोवाए य परममुणिभणिए ।
एगस्स साहए सुपुरिसाण जत्तो तहिं जुत्तो ॥ ४ ॥ ” इत्यादिविधिववाचोयुक्तिभिरुपादितसंबेगं तं शुद्धधर्मे प्रवर्त्तयति
ज्ञापनीयश्चेदसौ स्यात् । 'अत्यन्तायोग्यं' वाढमप्रज्ञापनीयं पुनस्तं 'अरक्तद्विष्टः' रागद्वेषरहितः 'उपेक्षते' अवधीरयति
'उपेक्षा निर्गुणेषु' इति वाक्यमनुसृत्य । इति गाथार्थः ॥ १२४ ॥

गुणानुरागस्यैव फलमाह—

उत्तमगुणाणुराया कालाइदोसओ अपत्तावि । गुणसंपया परत्थवि न दुल्लहा होइ भवाणं ॥ १२५ ॥

उत्तमा उत्कृष्टाः, गुणाः ज्ञानादयः, तेष्वनुरागः प्रीतिप्रकर्षः, तस्माज्ज्ञेताः, कालो दुःखमारूपः, आदिशब्दात्संहननस-
हायाभावो त एव दोषा दूषणानि, विघ्नकारित्वात्, ततः 'अप्राप्तापि' आस्तां तावत्प्राप्तेत्यपेक्षार्थः । 'गुणसंपत्' परिपूर्ण-
धर्मसाधनसामग्री वर्त्तमानजन्मनीति गम्यते । 'परत्रेऽपि' भाविभवे, अपिः संभावने संभाव्यते । एतन्नैव 'दुर्लभा' दुरापा
भवति 'भव्याना' मुक्तिगमनयोग्यानाम् । इति गाथार्थः ॥ १२५ ॥

उक्तं गुणरागरूपं पद्यं भावसाधुलिङ्गम्, अधुना गुर्वानाराधनरूपं सप्तममाह—

गुरुपयसेवानिरओ गुरुआणाराहणंमि तल्लिच्छो । चरणभरधरणसत्तो होइ जई नन्नहा नियमा ॥१२६॥

अत्र कश्चिदाह—पूर्वाचार्यैश्चारित्रिणो लिङ्गपद्वैभोक्तम् । यतोऽवाचि—“मगणुसारी सहो पन्नवणिज्जो कियावरो
चेव । गुणरागी सकारंभसंगओ तह य चारिती ॥ १ ॥ ” तत्कुत एतत्सप्तमं लिङ्गम् ? इत्युच्यते, भणितमेवोपदेश-
पदशास्त्रे लिङ्गभणनानन्तरम्—“एयं च अस्थि लक्खणमिमस्स नीसेसमेव धन्नस्स । तह गुरुआणासंपाडणं च गमगं

इहं लिङ्गम् ॥ १ ॥ ” इत्यलं विस्तरेण । प्रस्तुतव्याख्यानमुच्यते—गुरुव उक्तम्बरूपास्तेषां पदानि चरणास्तेषां सेवा सम्यगाराधनम्, न पुनरासन्नवर्तित्वमात्रम् । यतः सूत्रम्—“गुरुमूलेवि वसंता अणुकूला जे न हुंति उ गुरुणं । एणसिं तु पयाणं दूरं दूरेण ते हुंति ॥ १ ॥ ” तस्यां निश्चयेन रतो निरतो नैहिकफलार्थमेव, न च क्वचिन्निपुरोक्तिभिर्निर्भर्त्सितोऽपि गुरुं जिहासति, केवलं गुरुषु बहुमानमेव विधत्ते । यथा—“धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी । गुरुवदनमलयनिसृतो वचनरसश्चन्दनस्पर्शः ॥ १ ॥ ” तथा—“लज्जादयासंजमवभवचरं कलाणभागिस्स विसोहिठाणं । जे मे गुरु मययं अणुसासयंति तेहं गुरु सययं पूययामि ॥ १ ॥ ” तथा ‘गुर्वाज्ञाराधने’ गुर्वादेशसंपादने ‘तद्धिप्सुः’ तमेवादेशं लब्धुमिच्छुर्गुरोरादेशं प्रतीक्षमाणः समीपवर्त्येव स्यात् । इत्थंभूतश्चरणभरधरणे चारित्रभारोद्धहने शक्तः समर्थो भवति ‘यतिः’ सुविहितो, ‘नान्यथा’ भणितविपरीतो ‘नियमात्’ निश्चयेन । इति गाथार्थः ॥ १२६ ॥

कथं पुनरेवं (५) निश्चयोऽवसीयते ? इत्याह—

सव्यगुणमूलभूओ भणिओ आयारपढमसुत्ते जं । गुरुकुलवासोवस्सं वसेज तो तत्थ चरणत्थी ॥१२७॥

सर्वे गुणा अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपास्तेषां मूलभूतः प्रथमकारणं ‘भणितः’ उक्तः, आचारः प्रथममङ्गं, तस्य प्रथम-सूत्रे—“सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं” इति धाचना प्रकारे । यद्यस्मात् ‘गुरुकुलवासः’ गुरुपदच्छायासेवनम् । अयमत्र भावार्थः—सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने कथयति स्म । श्रुतं मया वसता भगवतः समीपे तिष्ठता वक्ष्यमाणमर्थ-पदमिति । कः पुनरस्य कथनस्य भावार्थः ? सर्वेण धर्मार्थिना गुरुसेवा विधेयेति । तत्र व्याख्यानं यस्मादेवं तस्मादवश्यं ‘वसेत्’ तिष्ठेत् ‘तत्र’ गुरुकुले ‘चरणार्थी’ चारित्रकामी । तथा च गच्छे वसतो गुणः—“जइवि य निग्गयभावो तहावि रक्खिज्जई स अझेहिं । वंसकडिल्ले छिन्नोवि वेणुओ पावए न मही (हिं) ॥ १ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ १२७ ॥

नन्वागमे यतेराहारशुद्धिरेव मुख्यश्चारित्रशुद्धिहेतुरुद्बुध्यते । यत उक्तम्—पिंडं असोहयंतो अचरिन्ती पृथ संसओ नत्थि । चारित्तंमि असंते निरत्थिया चेव पव्जजा ॥ १ ॥ ” पिण्डविशुद्धिश्च बहूनां मध्ये वसताऽतिदुष्करैवेत्येकाकि-नाऽपि भूत्वा सैव विधेया, किं जानादिलाभेन कार्यं ? मूलभूतं चारित्रमेव पालनीयं, मूले सत्येव लाभचिन्ता ज्यायसी, इति पराभिप्रायमाशङ्क्याह—

एयस्स परिच्चाया सुद्धुंछाइवि न सुंदरं भणियं । कम्माइवि परिसुद्धं गुरुआणावत्तिणो विंति ॥१२८॥

‘एतस्य’ गुरुकुलवासस्य ‘परित्यागात्’ सर्वतो मोचनेन ‘शुद्धोच्छादि’ शुद्धभैक्षोपधिप्रमुखं न ‘सुन्दरं’ शोभनं भणि-तमागमजैरिति गम्यते । यतस्तदुक्तिः—“सुद्धुंछाइसु जत्तो गुरुकुलचागाडण्ह विन्नेओ । सवरमसरक्खपिच्छत्थघायपा-याच्छिवणतुल्लो ॥ १ ॥ ” अस्य व्याख्या—शुद्धोच्छं निर्दोषभैक्षम्, आदिशब्दात्कलहममत्वपरिहारे च यत्न उद्यमः, गुरुकुलत्यागेन, आदिशब्दात्सूत्रार्थहान्या ग्लानादित्यागेन चेह जिनमते विज्ञेयो बोद्धव्यः । कथंभूतः ? इत्याह—शव-रराजस्य सरजस्कस्य पिच्छार्थं घाते पादास्पर्शनतुल्यश्चरणासंघटनादेशकल्प इति । संविदानकसंप्रदायश्चेत्याह—

क्वचित्तंनिवेगे जवराभिधानः सरजस्कभक्तो राजा वभूव । तस्यैकदा दर्शनार्थमुपरि धार्यमाणमयूरपतत्रछत्रो गुरुरा जगाम । कृतसम्मानस्योपनिविष्टस्य च राजप्रियतमा तदातपत्रं चञ्चच्चाक्चिकयाऽनेकचन्द्रकराजिराजितमवलोक्य कुतूहलातिरेकतस्तं प्रार्थयितुमारभे । तत्र च देशे मयूराभावाद्गुर्भानि मयूरपिच्छानीत्यसावदित्सन्नृत्थाय स्वाश्रयमगमत् । ततो राज्ञी कृताभोजननिश्चया तदानयनाय राजानं प्रोत्साहयाञ्चकार । राज्ञाऽपि यदा पुनः पुनः प्रार्थितोऽपि न ददाति गुरुः, तदा दुर्वारप्रेमग्रहमोहितेन हठादेव गृहीत्वानयत तानि, इत्यादिष्टाः पदातयः प्रत्यूचुः—नासौ जीवन्नर्पयति, प्रहार्-रैश्चोपतिष्ठते । ततो राजोवाच दूरस्था एव तं वागैरचेष्टं कृत्वा गृहीत, किं तु तच्छरीराच्छरानुत्पाटयन्तः पादेन स्पर्शनं मा कृद्वं, यतो गुरोरवज्ञा महते पातकाय संपद्यत इति ॥

यादृशोऽस्य शवरराजस्य गुरोर्मारणं कारयतः पादस्पर्शं च वारयतो विवेकस्तादृग्गुरुकुलत्यागिनः शुद्धोच्छादिलाल-सस्य साधोरिति भावः । तथा कर्मशब्देनाधाकर्मोच्यते, आदिशब्देन सकलोद्गमोत्पादनैपणादोषपरिग्रहः । तत्रोद्गम-दोषाः—“आहाकम्मुद्देशिय पूईकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए पाहुयरकीयपामिच्चे ॥ १ ॥ परियट्टिए अभि-हडे उच्चिन्ने मालोहडेय । अच्छेजे अणिसहे अज्झोयरए य सोलसमे ॥ २ ॥ ” उत्पादनादोषाः—“घाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिकिच्छा य । कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥ १ ॥ पुब्धि पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न-जोगे य । उप्पायणाए दोसा सोलसमो मूलकम्मे य ॥ २ ॥ ” एपणादोषाः—“संकियमक्खियनिक्खित्तपिहियसाहरिय-दायगुम्मीसो । अपरिणयलित्तच्छ्रिय एसणदोसा दस हवंति ॥ १ ॥ ” एतदोषदुष्टमप्याहारादि ‘परिशुद्धं’ निर्दोषमेव, अपिशब्दस्यावधारणार्थस्येह योगात् ‘गुर्वाज्ञावर्त्तिनः’ आराध्यादेशविधायिनो, गच्छवासिन इति हृदयम् । ‘ब्रुवते’ प्रति-पादयन्त्यागमतत्त्वविदः । इति गाथार्थः ॥ १२८ ॥

अत एव गुर्वाज्ञाकारिणं विशेषतः स्तुवन्नाह—

ता धन्वो गुरुआणं न मुयङ् नाणाइगुणगणनिहा(या)णं। सुपसन्नमणो सययं कयन्नुयं मणसि भावितो १२९

यस्माद्गुर्वाज्ञा गरीयसे गुणाय, 'तस्मात्' हतोर्धन्य एव गुर्वाज्ञां 'न मुञ्चति' नोञ्जति । किंविशिष्टाय ? ज्ञानादिगुण-
गणस्य निदानं कारणम् । उक्तं च—“नाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं
न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥” सुष्ठु अतिशयेन प्रसन्नमना निर्मलमानसो निष्ठुरमपि शिक्षितो न कुप्यति, न कलुषयत्यन्तःकरणम् ।
केवलम्—“जं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फरुसेण वा । मम लाभोत्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे ॥ १ ॥” कथम् ? 'सततं'
अनवरतं 'कृतज्ञताम्' उपकाराविस्मृतिरूपां 'मनसि' हृदये 'भावयन्' अवस्थापयन् । तद्यथा—“टोली ष लोढुलंतो अहयं
वित्राणनाणनिलएण । देवो ष वंदणिज्जो कओम्हि गुरुसुत्तहारेण ॥ १ ॥” इत्थंभूत एव धन्यो भवति, धर्मधनार्हत्वात् ।
इति गाथार्थः ॥ १२९ ॥

आह—किं योऽपि सोऽपि गुरुगुणसंपत्तये सेवनीय आहोश्चेत्कश्चिद्विशिष्ट एव ? इति प्रश्ने प्रतिवचनमाह—

गुणवं च इमो सुत्ते जहत्यगुरुसद्भायणं इट्ठो । गुणसंपया दरिद्वो जहुत्तफलदायगो न मओ ॥ १३० ॥

चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् 'गुणवानेव' गुणगणालङ्कृत एव 'अयं' इति गुरुः 'सूत्रे' सिद्धान्ते, यथार्थः सान्वयो यो
गुरुशब्दस्तस्य भाजनसाधारः 'इष्टः' अभिप्रेतः । तथा हि गुरुशब्दस्य यथावस्थितं शास्त्रार्थं गृणातीति गुरुः, इत्यन्वयः ।

१ अन्यत्र "मणिनिहाण" इत्यस्ति । २ अन्यत्र "टोल व्व डुलडुलतो" इत्यस्ति ॥

स च संविग्रहैव गुण्यते, अतः संविग्र एव गुणवान्, नान्यः । तस्य च गुणाः प्राधान्येन—“वर्यल्लकं कार्यल्लकं अकंप्पो
गिह्भिंयणं । पलियंकेनिसिर्जाय सिर्णाणं मोहवर्जणं ॥ १ ॥ एभिर्विना गुरुत्वाभाव एव, तन्तुभिर्विना पटाभाववत् ।
शेषास्तु—“पडिरुधो तेयस्सी” इत्यादयो देशकुलजात्यादयोऽन्येऽपि गणिसंपदादयो विशेषगुणाः कादाचित्का, पटस्य
रक्तत्वादिवत् । तत्रेह प्रधानगुणैर्युक्तो गुणवानभिप्रेतः, कार्यसाधकत्वात् । सत्सु तेषु शेषगुणसंपयोगोऽपि घरीयानेवेति ।
विपर्यये पुनः किं स्यात् ? इत्याह—“गुणसंपदा” सद्गुणविभूत्या करणभूतया 'दरिद्रः' दुर्गतो यथोक्तं गुरुसंपयोगे फलं,
तस्य दायकः संपादयिता 'न मतो' नैव संमतो गीतार्थानाम् । अतो न निर्गुणो गुरुः सेवनीयः । इति गाथागर्थार्थः ॥ १३० ॥

ननु प्रमत्तेषु दुर्लभा सर्वगुणसंपत्, यतः कोऽपि कुतोऽपि केनापि गुणेन हीनोऽप्यन्येनाधिकः, इति तारतम्यभे-
देनानेकधा गुरुषु उपलभ्यन्ते, तेषां सामाचार्योऽपि नानारूपा एवेति तेषु कं गुरुमाश्रयामः ? कं वा न ? इति दोलाय-
मानमानसानामस्माकं किमुचितम् ? इति शिष्येण सप्रणयं पृष्टो गुरुराह—

मूलगुणसंपउत्तो न दोसलवजोगओ इमो हेओ । महुरो वक्कमओ पुण पवत्तियवो जहुत्तम्मि ॥ १३१ ॥

मूलगुणा महाव्रतानि व्रतपङ्ककायपङ्कादयो चाऽष्टादश, तैः सम्यक् सद्बोधप्रधानं प्रकर्षेणोद्यमातिशयेन युक्तोऽनुगतो
'मूलगुणसंप्रयुक्तः' गुरुरिति प्रस्तुतत्वाच्चैव दोषलवः स्तोकदोषस्तद्योगात्तत्संबन्धात् 'अयं' गुरुः 'हेयः' परित्याज्यः । उक्तं
चागमे—“जयावि मंदेसि गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुएत्ति नच्चा । हीलित्ति मिच्छं पडियज्जमाणा करेति आसायण ते
गुरूणं ॥ १ ॥ पगईए मंदावि हवंति एगे डहरावि य जे सुयवुद्धोववेया । आयारमंता गुणसुद्धियप्पा जे हीलिया सिहि-
रिव भासकुज्जा ॥ २ ॥ जेयावि नागं डहरंति नच्चा आमायए से अहिया य होइ । एवायरियं पिहु हीलयंतो नियच्छई
जाइपहं खु मंदे ॥ ३ ॥ गुरुगुणरहिओ य इहं ददुधो मूलगुणविउत्तो जो । न उ गुणमेत्तविहीणोत्ति चंडरुहो उदाहरणं
॥ ४ ॥” इत्याद्यागमवचनान्यनुसृत्य मूलगुणशुद्धो गुरुः सामाचारीनानात्वेऽपि न मोक्तव्यः । (कदाचित्) किंचित्प्रमा-
दवास्तु 'मधुरोपक्रमतः' इति तृतीयार्थे पञ्चमी । ततो 'मधुरोपक्रमेण' सुखदोषायेन प्रियवचनाञ्जलिप्रणामपूर्वमनुपकृतपर-
हितरतैर्भवद्भिः सुष्ठु वयं मोचिता गृहवासपाशात् । तदिदानीमुत्तरोत्तरमार्गप्रवर्त्तनेन निस्तारयतास्माद्धीमभवकान्तारात्,
इत्यादिप्रोत्साहनेन 'पुनः' भूयोऽपि प्रवर्त्तयितव्यो 'यथोक्ते' मार्गानुयायिन्यनुष्ठान इति शेषः । इति गाथार्थः ॥ १३१ ॥

किमित्येवमुपदिश्यते ? इत्याह—

पत्तो सुसीत्तसहो एव कुणंतेण पंथगेणावि । गाढप्पमाइणोवि हु सेलगसूरिस्स सीसेणं ॥ १३२ ॥

'प्राप्तः' लब्धः सुशिष्य इति शब्दो विशेषणम्, 'एवं' गुरोरनुवृत्तिं कुर्वता 'पन्थकेन' प्रसिद्धसाधुना, अपिशब्दादन्यै-
रपि तथाविधैः । यतोऽभाणि—“सीएज्ज कयाइ गुरु तंपि सुसीसा सुनिउणमहुरोहिं । मग्गे ठवंति पुणरवि जह सेलग-
पंथगो नायं ॥ १ ॥” तमेव विशिनष्टि—“गाढप्रमादिनोऽपि' अतिशयशैथिल्यवतोऽपि शैलकसूरेः शिष्येणेति व्यक्तमेवेति
गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकगम्यः ॥ १३२ ॥

तच्चेदम्—

अत्थि सुरट्ठाविसए बारवती नाम पुरवरी रम्मा । कंचणमणिमयमंदिरपायारा धणयनिम्मविया ॥ १ ॥ तत्थ य हरि-

कुलनहयलहरिणको अरिसमूहमयमहणो । कन्हो नामेण निषो हरि व विबुहृषिओ आसी ॥ २ ॥ तथेव सत्यवाही
थावच्चा नाम पायडाहेसि । कम्मवसाओ बालमि नंदणे जायपइमरणा ॥ ३ ॥ सोयभरनिग्भराए तीए बालस्त नो कयं
नामं । तो थावच्चापुत्तो सो विक्खाओ सयललोगे ॥ ४ ॥ कालेण कलाकुसलो तारुधं पायिओसि मायाए । परिणा-
विओ समं चिय वत्तीसमहेभकन्नाओ ॥ ५ ॥ ताहि समं सुहमसमं अणुहवमाणस्त विगयचित्तस्त । दोगुंदुगदेवस्त व सम-
इकंतो बहू कालो ॥ ६ ॥ अह अन्नया कयाई विहरंतो समणसंघपरिकिन्नो । भययं अरिठ्ठेनेमी समागओ तीए नयरीए
॥ ७ ॥ रेवयगनगसगासे उज्जाणे नंदणमि रमणीए । सुररइयसमोसरणे उवविट्ठो देसणं काउं ॥ ८ ॥ तत्तो निउत्तपुरिसा
नाऊणं बहलपुलयच्चिचइओ । चलिओ भरहद्धवई वंदणहेउं जिणिंदस्त ॥ ९ ॥ चलिया तेण समाणं दसवि दमारा
समुद्धविजयाई । तह चेव महावीरा पंचवि बलदेवपामोक्खा ॥ १० ॥ सोलसरायसहस्ता संभ्रडा उग्गसेणपामोक्खा ।
इगवीसत्तहस्ता तह वीराणं वीरसेणाई ॥ ११ ॥ बुद्धंतकुमाराणं सद्धिसहस्ता उ संवपमुहाणं । पज्जुअप्पमुहाओ कुमारकोटी
उ अट्टु ॥ १२ ॥ छप्पन्नं च सहस्ता महसेणाईण बलवगाणंपि । अन्नोवि सेट्टिमाई नागरलोगो अणेगविहो ॥ १३ ॥ दद्धं
कयसिगारं एगमुहं पत्थियं नयरिलोगं । नियपडिहारं पुच्छइ थावच्चानंदणो एवं ॥ १४ ॥ कत्थ इमो संभ्रओ कयसिगारो
जणो तुरियतुरियं । मो आहं नेमिनाहस्त वंदणतथंति नेमिसुयं ॥ १५ ॥ अह सोयि रहारूढो भत्तिभरनिग्भरो सह
निवेण । वंदइ तिलोयनाहं सुणेइ धम्मं च एगगो ॥ १६ ॥ नाऊण असारत्तं भवस्त नीसेसदुक्खपभवस्त । मोक्खं च

१ इतः परम् अन्यत्र तु “भुवणनाहस्त नेमिनाहस्त नमणत्वं” इत्यस्ति । २ “ते निसुयं” इत्यपि ॥

महासोक्खं सज्जं चारित्तधम्मस्त ॥ १७ ॥ संवेगभाविओ तो थावच्चानंदणो जिणं भणइ । आपुच्छिऊण जणणिं तुहं-
तिए पवइस्सामि ॥ १८ ॥ जुत्तमिणंति पवुत्ते जिणेण गंतूण मंदिरे जणणिं । विन्नवइ पायवडिओ अम्मो गिणहामि पवज्जं
॥ १९ ॥ सावि हु सिणेहमूढा रुयमाणी भणइ दुकरा सुहु । अन्नस्तवि पवजा विसेसओ तुज्ज सुहियस्त ॥ २० ॥
आसालगं जणणिं कह मुंचसि पुत्त ! निग्घिणो होउं । वत्तीसं भजाओ एयाओ विणयसज्जाओ ॥ २१ ॥ दाणोउभोगकज्जे
पज्जत्तं कुलकमागयं रिथं । पुबसुकएण पत्तं विलससु ता दाणधम्मरओ ॥ २२ ॥ बद्धियकुलसंताणो वयपरिणामे करेज्ज
हियइट्ठं । सो भणइ अणिच्चे जीवियंमि न हु एरिसं घडइ ॥ २३ ॥ अवि य—“अन्नह परिचित्तिज्जइ सहरिसकंडुज्जुएण
हियएण । परिणमइ अन्नह च्चिय कज्जारंभो विहिवसेण ॥ १ ॥” एमाइउत्तिपडिउत्तिभावणा सुद्धु निच्छिओच्छाहं । कलि-
ऊणं थावच्चा अणुमन्नइ तं अकामावि ॥ २४ ॥ गंतुं केसवमूलं कहेइ सयलंपि पुत्तवुत्तं । मगइ य रायच्चिंधे दिक्खाम-
हिमाकरणहेउं ॥ २५ ॥ तुट्ठो भणइ य कन्हो धन्नो सो जस्त निच्छओ धम्मे । ता चिट्ठ निहुया तं दिक्खामहिमं भलि-
स्सामि ॥ २६ ॥ गंतूण य तग्गेहं तीसे पुत्तं सयं भणइ कन्हो । भुंजसु वच्छ । सुहाइं भिक्खाचरिया महादुक्खा ॥ २७ ॥
सो पडिभणइ महापह ! भयाभिभूयाण केरिसं सोक्खं । ता सबभयपणासी धम्मो च्चिय जुज्जए काउं ॥ २८ ॥ रायाह—
महवाहुच्छायाए वच्छ ! वसंतस्त ते भयं नत्थि । अह अत्थि ता निवेयसु जेण निवारेमि तं तुरियं ॥ २९ ॥ इयरेण
वुत्तं—जइ एवं ता इंतं जरं च मच्चं च मे निवारेहि । जेण सुनिबुयहियओ भोगसुहं सामि । माणेमि ॥ ३० ॥ भणइ
नरिंदो सुंदर ! दुद्धारमिमं दुगंपि जियलोए । सुरनाहोवि न एए वारइ अम्हारिसो दूरे ॥ ३१ ॥ जओ—कम्मवसेण
जियाणं जरमरणाइं हवंति संसारे । इयरो भणइ अओ च्चिय कम्माइ निहंतुमिच्छामि ॥ ३२ ॥ नाऊण निच्छयं से नर-
नाहो भणइ साहु साहुत्ति । पवयसु धीर ! एवं पुज्जंतु मणोरहा तुज्ज ॥ ३३ ॥ कारेइ केसवो तो उग्घोसणयं पुरीए
सवाए । संसारभउविग्गो थावच्चानंदणो धन्नो ॥ ३४ ॥ पवयइ मोक्खकामी जइ ता अन्नोवि कोवि पवयइ । ता अणु-
मन्नइ कन्हो बहइ य तत्ति कुडंवस्त ॥ ३५ ॥ सोऊण घोसणं तं सहस्समेगं उवट्ठियं तत्थ । रायाईण सुयाणं थावच्चापु-
त्तनेहेण ॥ ३६ ॥ निक्खमणमहामहिमं राया तेसिं करेइ सव्वेसिं । इय थावच्चापुत्तो सहस्ससहिओवि निक्खंतो ॥ ३७ ॥
जाओ चोइसपुढी जिणेण सो चेव तस्त परिवारो । दिन्नो तो उग्गतवो विहरइ महिमंडलं एसो ॥ ३८ ॥ विहरंतो संपत्तो
कयाइ सेलगपुरंमि सो भययं । पंचसयमंतिसहियं सेलगरायं कुणइ सहं ॥ ३९ ॥ तत्तो य विहरमाणो पत्तो सोगंधियाए
नयरीए । तत्थवि पहाणसेट्ठिं सुदंसणं सावगं कुणइ ॥ ४० ॥ सो पुण सुयपरिवायगधम्मे पुढं किरासि अइभत्तो । सोऊण
सावगं तं समागओ तो सुओ तत्थ ॥ ४१ ॥ पत्तो सुदंसणगिहं दंसणमालिन्नभीरुणा तेण । नामुट्ठिओ न पणओ न
पेहिओ नेव संलत्तो ॥ ४२ ॥ चिंतइ तओ सुओवि हु अरिहइ एसो न ताव उवएसं । जाव न एयस्त गुरू पराइओ
एयपच्चक्खं ॥ ४३ ॥ तो भणइ भो सुदंसण ! पुढं तं मज्झ सासणे आसि । संपइ कस्त समीवे गहिओ अन्नारिसो धम्मो
॥ ४४ ॥ तो कयअणुडाणो पणामपुढं सिरत्थकरकमलो । सुमरंतो गुरुनामं सुदंसणो भणइ एवं तु ॥ ४५ ॥ सिरिथा-
वच्चापुत्तो सीसो तेलोकनाहनेमिस्त । नीलासोउज्जाणे विहरइ सो मज्झ धम्मगुरू ॥ ४६ ॥ भणइ सुओ तं मज्झवि दंसेहि
भवामि जेण तस्सीसो । अहवा पराजिणित्ता करेमि तं चेव नियसीसं ॥ ४७ ॥ चिंतइ सुदंसणो तो अमच्छरी एस

धम्मकामो य । गुरुवयणामयसित्तो लहिही बोहिं न संदेहो ॥ ४८ ॥ इय तं धेत्तूण गओ गुरुमूलं पुच्छई सुओ तत्थ । कुडिलाइं पसिणाइं सहच्छलगहणकज्जेसु ॥ ४९ ॥ सरिसवया तह मासा तुम्हं भक्खाउ किं कुलत्थी वा । धन्ननराई एमि दो दो अत्था ल पमिणाणं ॥ ५० ॥ नाऊण य तत्त्वावं वागरियाइं गुरुहि तह ताइं । सबच्चुनि मणे जह सुयस्स संपच्चओ जाओ ॥ ५१ ॥ पसिणाणमुत्तराइं न एत्थ वित्थरभयाउ भणियाइं । जाणित्कामेण दढं नाएसु निरुवियव्वाइं ॥ ५२ ॥ सोऊण सुओ धम्मं संविग्गो सूरिपायमूलंमि । सीससहस्सेण समं पव्वइओ सुद्धपरिणामो ॥ ५३ ॥ जाओ चोद्ध-
मपुवी गुरुहि दिन्नंमि पुद्धपरिवारो । विहरिउमारद्धो भूमिमंडले भव्वकयत्रोहो ॥ ५४ ॥ अह धावच्चापुत्तो सूरी सेलम्मि पंडरीयंमि । दोमासकयाणसणो नेवाणमणुत्तरं पत्तो ॥ ५५ ॥ इयरोवि विहरमाणो सेलगपुरमागओ नरिंदस्स । दिक्खा-
वसरोत्ति त्तिओ सुभूमिभागंमि उज्जाणे ॥ ५६ ॥ बुद्धो सेलगराया रज्जं दाऊण मड्डुगसुयस्स । पंचहि मंतिसएहि पंथग-
पमुहेहि परियरिओ ॥ ५७ ॥ निक्खंतो सुयविहिणा गुरुभाउयसुयमुणिंदपयमूले । एगारसअंगाइं अहिज्जिओ वज्जिया-
वज्जो ॥ ५८ ॥ पंथगपमुहाण तओ पंचणहसयाण नायगो ठविओ । सुयमुणिवरेण विहिणा सेलगसूरी महासत्तो ॥ ५९ ॥ सुयसूरीवि महप्पा समए आहारवज्जणं काउं । गिरिपुडरीयसिहरे सहस्ससहिओ सिवं पत्तो ॥ ६० ॥ अह सेलगराय-
रिसी अणुच्चियभत्ताइभोगदोमेण । दाहजराईतविओ समागओ सेलगपुरंमि ॥ ६१ ॥ उज्जाणंमि पसत्थे सुभूमिभागंमि तं
ममोसरियं । सोऊण हट्टतुट्टो विणिग्गओ मड्डुगो राया ॥ ६२ ॥ कयवंदणाइकिच्चो सरीरवत्तं वियाणितं गुरुणो । विन्नवइ
एहि भंते ! मम गेहे जाणसालासु ॥ ६३ ॥ भत्तोसहाइएहिं अहापवत्तेहि तत्थ तुम्हाणं । कारेमि जेण किरियं धम्मसरी-
रस्स रक्खट्ठा ॥ ६४ ॥ पडिवन्नमिणं गुरुणा पारद्धा तत्थ उत्तमा किरिया । निद्धमहुराइएहिं त्रियडेण य वेज्जवयणाओ
॥ ६५ ॥ वेज्जाण कुसत्थाए पच्छोसहपाणगाइधुवलाभा । धेवदियहेहि एसो जाओ निरुओ य वलवं च ॥ ६६ ॥ नवरं
निद्धुन्हाइआहारे पाणगे य अइग्गिओ । सुहसीलयं पव्वो नेच्छइ ठाणंतरविहारं ॥ ६७ ॥ बहुसोवि भणिजंतो विरमइ
नो जाव मो पमायाओ । ताहे पंथगवज्जा मुणिणो मंतंति एगत्थ ॥ ६८ ॥ कम्माइं नूण घणच्चिक्कणाइ कुडिलाइं वज्ज-
साराइं । नाणइयंपि पुरिसं पंथाओ उप्पहं नेति ॥ ६९ ॥ मोत्तूण रायरिद्धिं मोक्खत्थी ताव एस पव्वइओ । संपइ अइप्प-
माया विम्हारियपओयणो जाओ ॥ ७० ॥ काले न देइ सुत्तं अत्थं न कहेइ पुच्छमाणाणं । आवस्सगाइत्तं मोत्तुं बहु-
मन्नए निहं ॥ ७१ ॥ उवगारी दढमेसो अम्हाणं धम्मचरणहेउत्ता । मोत्तुं धेत्तुं च इमं जुत्तंति फुडं न याणामो ॥ ७२ ॥
अहवा किं अम्हाणं कारणरहिणं नीयवासेण । एयं पंथगसाहुं वेयावच्चे निजुंजेमो ॥ ७३ ॥ आपुच्छिऊण सूरिं विहरामो
उज्जया वयं सवे । कालहरणंपि कीरइ जा वेयइ एस अप्पाणं ॥ ७४ ॥ सामत्थिऊण एवं पंथगसाहुं ठवित्तु गुरुपासे ।
गुरुसम्मएण सवे अन्नत्थ सुहं पविहरंति ॥ ७५ ॥ पंथगमुणीवि गुरुणो वेयावच्चं अखंडियं कुणइ । भत्तिवहुमाणसारं
कुणइ अणूणं च नियकिरियं ॥ ७६ ॥ कत्तियचाउम्मासे सूरी भोत्तूण निद्धमहुराइं । पाऊण मज्जमहियं सुत्तो नीसट्टस-
वंगो ॥ ७७ ॥ आवस्समं कुणंतो पंथगसाहुंवि खामणनिमित्तं । सीसेण तस्स पाए घट्टेइ विणयनयनिऊणो ॥ ७८ ॥ तो
कुच्चिओ रायरिसी जंपइ को एस अज्ज निहज्जो । पाए आघट्टंतो निद्दाविग्घे मह पयट्टो ॥ ७९ ॥ रुट्टं दट्टूण गुरुं संविग्गो
पंथगो भणइ एवं । चाउम्मासियखामणकए मए दुमिया तुम्भे ॥ ८० ॥ ता एगं अवराहं खमह न काहामि एरिसं वीयं ।
हुंति खमामील च्चिय उत्तमपुरिसा जओ लोए ॥ ८१ ॥ इय पंथगमहुरगिं आयन्नंतस्स तस्स सूरिस्स । सूरुग्गमे तमं
पिव अन्नाणं दूरमोसरियं ॥ ८२ ॥ परिनिदिऊण सुइरं अप्पाणं जायसंजमुज्जोओ । खामेइ पंथगं पिहु पुणो पुणो सुद्ध-
परिणामो ॥ ८३ ॥ दुइयदिणे रायाणं आपुच्छिय दोवि सेलगपुराओ । निक्खंतंता पारद्धा उग्गविहारेण विहरेउं ॥ ८४ ॥
अवगयतत्तुत्तंता संपत्ता सेसमंतिमुणिणोवि । विहरिय चिरं सुविहिणा आरूढा पुंडरीयगिरिं ॥ ८५ ॥ धावच्चापुत्तो इव
काउं संलेहणं विहुयकम्मा उप्पन्नविमलनाणा सिद्धा परिनिबुया सवे ॥ ८६ ॥ इय मूलगुणविसुद्धो मोत्तवो नियगुरु न
गीएहिं । सम्ममणुवत्तियवो सुमाहुणा पंथगेणेव ॥ ८७ ॥

॥ शैलकराजर्षिकथानकं समाप्तम् ॥

एवं कुर्वतः साधोर्गुणमाह—

एवं गुरुबहुमाणो कयन्नुया सयलगच्छगुणवुद्धी । अणवत्थापरिहारो हुंति गुणा एवमाईया ॥ १३३ ॥

‘एवं’ गुरुमशुद्धता सन्मार्गोद्यमं च कारयता यतिना ‘गुरुबहुमानः’ मानसप्रीत्यतिशयः कृतो भवति । तथाहि—द्विविधो गुरुः, सामान्यगुरुः परमगुरुश्च । तत्र सामान्यगुरुरनन्तरो धर्माचार्यादिः । परंपरः पूर्वपूर्वतरपूर्वतमादिचिन्तयाऽनेकविधो यावत् सुधर्मस्वाम्यादिः । परमगुरुर्भगवास्तीर्थकरः । ततश्चानन्तरगुरुबहुमानेन येनासौ स्थापितस्तस्मिन् बहुमानकृतो भवति । तद्बहुमानेन पूर्वतरे यावदावलिक्कादिभूते गणधरे, ततस्तदाराध्ये भगवति परमगुरुतीर्थाधिनायके । अत एवोक्तं परमगुरुणा—‘जे गुरुं मन्नए से ममं मन्नए जे ममं मन्नए से गुरुं मन्नए’ । इत्येवमनेकभेदगुरुबहुमानकृतो भवतीति ।

यथा कृतज्ञता चाराधिता भवति । प्रधानश्चायं पुरुषस्य गुणो लोकेऽपि गीयते । यदुक्तम्—“दो पुरिने धरठ धरा अहवा दोहिंपि धारिया वसुहा । उवयारे जस्स मई उवयरियं जो न पम्हुसइ ॥ १ ॥” लोकोत्तरेऽप्येकत्रिंशत्तिगुणमध्ये पठित एवेति । तथा सकलगच्छस्य गुणानां वृद्धिराधिक्यं कृतं भवति गुरुममुश्रता । तथा हि—सम्यगाज्ञावर्त्तिनो गच्छस्य गुरुर्ज्ञानादिगुणान् वर्द्धयत्येव । यदि पुनस्ते शिष्याः—“वाइया संगहिया य भत्तपाणेहिं पोसिया । जायपंखा जहा हंसा पक्कमंति दिसोदिसं ॥ १ ॥” ततस्तान् खलुकप्राधानवबुद्धय न केवलं न शिक्षयति गुरुः तत्परित्यागं च विधत्ते, कालिकाचार्यवदिति । तथाऽनवस्था मर्यादाहानिस्तस्याः परिहारकृतो भवति गुरुममुश्रतेति । अयमभिप्रायः—य एकं गुरुमल्पदोषमपि मुञ्चति, तमन्येऽपि न संगृह्णन्ति, सूक्ष्मदोषाणां परिहर्तुमशक्यत्वात् । संगृहीतोऽपि न स्थिरो भवति, अत एकाकित्वमालम्बते । तं च स्वेच्छाचारसुखितमालोक्यान्वोऽप्यन्योऽपि तदेवाङ्गीकरोति । एवंप्रकारानवस्थापरिहृता भवति गुरुसेवकेनेति । ‘भवन्ति’ जायन्ते ‘गुणा एवमादयः’ अन्येऽपि गुरुज्ञानवालवृष्टादीनां विनयवैयावृत्त्यकरणादयः सूत्रार्थागमस्मारणादयोऽपि भूयांसः । इति गाथार्थः ॥ १३३ ॥

एवमकरणे पुनः किं स्यात् ? इत्याह—

इहरा बुत्तगुणाणं त्रिवज्जओ तह य अत्तउक्करिसो । अप्पञ्चओ जणाणं वोहिविघायाइणो दोसा ॥ १३४ ॥

‘इतरथा’ इतरगुरुपरित्यागरूपेण ‘उक्तगुणानां’ गुरुबहुमानादीनां ‘विपर्ययः’ अभावोऽवहुमानाकृतज्ञतादिदोषसन्नायो वा स्यात् । तथा ‘आत्मोत्कर्षश्च’ आत्मनि सौष्ठवाभिमानश्चानर्थपरंपराकारणं गुरुकुलवासत्यागिनः स्यात् । तथा ‘अप्रत्ययः’ अविश्वासश्च ‘जनानां’ लोकानां साधुविषये स्यात् । यदुत परस्परविभिन्नानामन्योन्यानुष्ठानदूषकाणामेतेषां न ज्ञायते कोऽपि सत्यवाद्यलीकवादी वेति । ततश्च को दोष ? इति चेदुच्यते, षोडशविघातः प्रेत्यजिनधर्मप्राप्त्यभावस्तेषां व्यलीकभाजा, तन्निमित्तभूतस्य यतेरपि, आदिशब्दाद्भावपातश्च । सम्यग्दर्शनाभिमुखानां चारित्र्याभिमुखानां च स्यात् । एते ‘दोषाः’ दूषणानि गुरुत्यागकारिणां भवन्ति । इति गाथार्थः ॥ १३४ ॥

ननु पूर्वं क्रियास्वप्रमादः चारित्रिणो लिङ्गमुक्तम्, इदानीं तु प्रमादवानपि गुरुश्चारित्रवानेवेति न मोक्तव्य इत्युच्यते तत्कथं न पूर्वापरविरोधः ? सत्यम्, अप्रमादश्चारित्रिणो लिङ्गं तदविनाभावित्वेनोक्तं, बह्वधूमवत् । इत्यते च क्वापि निर्दग्धेन्धनोऽवष्टब्धो वा धूमं विना वह्निः । एवं प्रमादिनोऽपि चारित्रमित्यत एवाह—

वकुसकुसीला तित्थं दोसलवा तेसु नियमसंभविणो । जइ तेहिं वज्जणिज्जो अवज्जणिज्जो तओ नरिथि ॥ १३५ ॥

यदि वेह पञ्चविधा यतयः—पुलाका, वकुशाः, कुशीलाः, निर्ग्रन्थाः, स्नातकाश्च । तत्र नियमेनाप्रमादिनो निर्ग्रन्थाः स्नातकाश्च, किं तु ते कदाचिदेव श्रेणिमस्तकारोहणे केवलज्ञानोत्पत्तौ च भवन्तीति न तीर्थप्रवाहहेतवः । पुलकोऽपि कदाचिदेव लब्धिसद्भावे संभवतीति चेतस्याध्याह—“वकुसकुसीला” गाहा । तत्र वकुशाः शरीरोपकरणविभूपाकारिणः । यदाह—“उवगरणदेहचोक्खा रिद्धीजसगारवा सिया निच्चं । बहुसवल्लेयजुत्ता निगंथा वाउसा भणिया ॥ १ ॥” कुशीलाः सातिचारज्ञानादिगुणाः । यदाह—“आसेवणा कसाए दुहा कुसीलो दुहावि पंचविहो । नाणे दंसण चरणे तवे य अह सुहुमए चव ॥ १ ॥ इह नाणाइकुसीलो उवजीवं होइ नाणमाईणि । अह सुहमो पुण तुस्सं एस तवस्सिच्चि संसाए ॥ २ ॥” एत एव सर्वतीर्थकृतां तीर्थसन्तानकारिणः संभवन्ति, अपरविकल्पानायभावात् । ततः किम् ? इत्याह—‘दोषलवाः’ सूक्ष्मदोषाः ‘तेषु’ वकुशकुशीलेषु नियमसंभविनः । यतस्तेषां द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताप्रमत्ताख्येऽन्तर्मुहूर्त्तकालावस्थायिनी । ततो यदा प्रमत्तगुणस्थानके वर्त्तते तदा प्रमाद्यपि चारित्रवानेव, यावत्सप्तमप्रायश्चित्तार्हापराधम् । ततः परमचारित्रः स्यात् । उक्तं च—“छेयस्स जाव दाणं ता वयमेगंपि नो अइकमइ । एगं अइकमतो अइकमे पंचमूलेण ॥ १ ॥” अत एव पार्श्वस्थादीनामपि केषांचिच्चारित्रमिष्यते । यतोऽभाणि—“पामत्थाईयाणं अबुहुत्ताण जेसि पच्छिच्चं । मूलाईर्यं भणियं ते निच्चरणा न उण अन्ने ॥ १ ॥” तदेवं वकुशकुशीलेषु नियमभाविनो दोषलवाः, यदि च तैर्वर्जनीयो यतिः स्यात्, अवर्जनीयस्ततो नास्त्येव । तदभावे तीर्थस्याप्यभावप्रसङ्गः । इति गाथार्थः ॥ १३५ ॥

अस्योपदेशस्य फलमाह—

इय भावियपरमत्था मज्झत्था नियगुरुं न सुंचंति । सवगुणसंपओगं अप्पाणंमिवि अपेच्छंता ॥ १३६ ॥

‘इति’ पूर्वोक्तप्रकारैर्भावितो मनसि परिणामितः परमार्थो यथावस्थितपक्षो यैस्ते तथा, ‘मध्यस्थाः’ कुग्राहाद्यदूषिताः ‘निजगुरुं’ आत्मीयधर्माचार्यं ‘न मुञ्चन्ति’ नैव व्युत्सृजन्ति, ‘सर्वगुणसंप्रयोगं’ समग्रगुणसामग्रीमात्मन्यपि ‘अपश्यन्तः’ अनवलोकयन्तः । इयमत्र भावना—मध्यस्थो बुद्धिमानालोचयति—“दुकरयं खु जहुत्तं जहुत्तवायट्टिया विसीयन्ति ।

एतन्न नियमो हु मगो जहससौए चरणसुद्धी ॥ १ ॥” इयमपि मदीयो गुरुरुत्सर्गापवादवेदी, यथाशक्तिक्रियापरः, शुद्ध-
मार्गोपदेष्टा, सद्भावतुलनासारः, प्रकृतकष्टकारिणागुपबृंहकः, साहाय्यकर्ता च पूजापात्रं ज्ञानवताम् । यत उक्तम्—“तुच्छं
वपुः संहननं कनिष्ठं वीर्यं न वर्यं किल कालदोषात् । तथाऽपि धर्माय कृतप्रयत्नाः कथं न पूज्या विदुषां मुनीन्द्राः ?
॥ १ ॥” अत एनं परमोपकारिणमादरेणाराधयामि । यत एवमागमः—“जहा हि यगी जलणं न मंसे नाणाहुई मंत-
पयाभिसिचं । एत्रारियं उवचिडएजा अणंतनाणोवगओवि सत्तो ॥ १ ॥ जस्संतिए धम्मपयाई सिक्खे तस्संतिए वेणइयं
पउंजे । सक्कारए सिग्गमा पंजलीओ कायग्गिराहो मणसावि निच्चं ॥ २ ॥” एवमागमवहुमानाजिजगुरुं सम्प्रगाराध-
यन्ति । इति गाथार्थः ॥ १३६ ॥

अन्यश्च गुरुत्यागकारी निश्चितं गुरोरेवज्ञा विधत्ते, ततश्चानर्थमागमस्मारणेन दर्शयन्नाह—

एयं अवमन्नंतो वुत्तो सुत्तंमि पावसमणोत्ति । महमोहबंधगोवि य खिसंतो अपडितपंपंतो ॥ १३७ ॥

‘धनं’ प्रस्तुतं गुरुं ‘अवमन्यमानः’ हीलयन् साधुरिति गम्यते, ‘उक्तः’ भणितः ‘सूत्रे’ सिद्धान्ते ‘पापश्रमणः’ कुत्सि-
तयतिः ‘इतिः’ उपप्रदर्शने । तच्चेदं सूत्रम्—“आयरियउवज्जाएहि सुत्तं त्रिणयं च गाहिए । ते चेव खिसइ बाले पावस-
मणेन्नि वुच्चइ ॥ १ ॥ आयरियउवज्जायाणं सम्मं नो पडितप्पइ । अप्पडिपूएए थद्धे पावसमणेत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥” तथा
‘महामोहबन्धकः’ प्रकृतमिथ्यात्वोपार्जकश्च, अपिशब्दः सूत्रान्तरं संभावयति, किं कुर्वन् ? ‘खिसंतो’ इति गुरोर्निन्दां
कुर्वन् ‘अपडितपंपंतो’ इति तेषा वैयावृत्त्यादावादरमकुर्वन्निति । सूत्रान्तरं चावश्यके त्रिशत्सु मोहनीयस्थानेषु पठ्यते—
“आयरियउवज्जाए खिसइ मंदवुद्धीए । तेसिमेव य नाणीणं सम्मं नो पडितप्पइ ॥ १ ॥” क्रियापदं च पर्यन्ते “महा-
मोहं पकुवइ” इति । तओ भणितम् । इति गाथार्थः ॥ १३७ ॥

आह गुरोः सामर्थ्याभावे यदि शिष्योऽधिकतरं तपः करोति तत्किं युक्तमाहोस्विदयुक्तं ? गुरोर्लाघवहेतुत्वात्, इत्यत्रो-
च्यते, गुरुसन्निधौ युक्तमेव, गुरोर्गौरवहेतुत्वात् । तथा हि सदाचारे चारिणि शिष्ये भवत्येव गुरोः साधुवादः, पुत्रे
पितुरिव । किन्तु—

सविसेसंपि जयंतो तेसिमवन्नं विवज्जए सम्मं । तो दंसणसोहीओ सुद्धं चरणं लहइ साहू ॥ १३८ ॥

‘सविशेषं’ शोभनतर, अपिशब्दात् समानमपि । किं मत्तोऽप्येपोऽधिकं करोतीति भावनया ‘यतमानः’ सद्गुणानो-
द्योगवान् ‘तेषां’ गुरूणां ‘अवज्ञा’ अभ्युत्थानाद्यकरणरूपां ‘वर्जयति’ न करोति ‘सम्यक्’ शुद्धपरिणामो भावसाधुरिति
प्रकृतत्वात् । ततश्च दर्शनशुद्धेहेतोः ‘शुद्धं’ अकलङ्कं ‘चरणं’ चारित्र्यं ‘लभते’ प्राप्नोति साधुः, भावमुनिरिति । अयमत्र
भावार्थः—सम्यक्त्वं ज्ञानचरणयोः कारणम् । यत एवमागमः—“नादंसणस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमुक्खस्स निवाणं ॥ १ ॥” तच्च गुरुवहुमानिन एव भवति, अतो दुष्करकारकोऽपि
तस्मिन्नवज्ञा न विदध्यात्, तदाज्ञाकारी च भूयात् । यत उक्तम्—“छद्धमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं । अक-
रंतो गुरुवयणं अणंतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥” इति गाथार्थः ॥ १३८ ॥

अथ साधुधर्मलिङ्गनिगमनं, तत्फलं चाभिधित्सुराह—

इय सत्तलक्खणधरो होइ चरिन्ती तओ य नियमेण । कल्लाणपरंपरलाभजोगओ लहइ सिवसोक्खं ॥१३९॥

‘इतिः’ उपप्रदर्शने । पूर्वोपदर्शितसप्तसंख्यलक्षणधरो भवति ‘चारित्री’ भावसाधुः । ‘तओ’ इति स कः ? चशब्दोऽव-
धारणे । स एव, नान्यः कल्याणपरंपरा सुदेवत्वसुमनुजत्वादिरूपा, तस्या लाभः प्राप्तिः, तद्योगात्तत्संबन्धत्वात् ‘लभते’
अवाप्नोति ‘शिवसोख्यं’ सिद्धिर्गामे । इति गाथार्थः ॥ १३९ ॥

उक्त श्रावकसाधुसंबन्धभेदाद्विधा धर्मरत्नम्, इदानीं कः कीदृगिदं कर्तुं शक्नोति ? इत्येतदाह—

दुविहंपि धम्मरयणं तरइ नरो घेत्तुमविगलं सो उ । जस्सेगवीसगुणरयणसंपया सुत्थिया अत्थि ॥ १४० ॥

‘द्विविधं’ द्विप्रकारं, न पुनरेकतरमेवेत्येपरर्थः । ‘तरति’ इत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां शक्नोति ‘नरः’ इति जातिनिर्देशान्नर-
जातीयो जन्तुः, न पुनः पुमानेवेति, ‘ग्रहीतुं’ उपादातुं अविकलं (संपूर्णं) स एव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् । यः
कथंभूतः ? इत्याह—यस्याप्येकविंशतिगुणरत्नसंपदादिप्रतिपादिता विशेषणविभूतिः ‘सुस्थिता’ कुबोधाद्यदूषितत्वाग्निरू-
पद्रवा ‘अस्ति’ विद्यत इति । ननु पूर्वमुक्तमेवैकविंशतिगुणसमृद्धो योग्यो धर्मरत्नस्येति, तत्किं पुनरिदमुच्यते ? सत्यं,
पूर्वं योग्यतामात्रमुक्तं, यथा बालत्वेऽपि वर्त्मानो राजपुत्रो राज्याहं उच्यते, संप्रति करणशक्तिरप्यस्याभिधीयते—यथा
प्रांढीभूतो राजपुत्रः कर्तुं शक्नोत्येतावद्राज्यम् । इति गाथार्थः ॥ १४० ॥

एवं च स्थिते विशेषतः पूर्वाचार्याणां श्लाघामाह—

ता सुद्ध इमं भणियं पुवायरिएहिं परहियरएहिं । इगवीसगुणोवेओ जोगो सइ धम्मरयणस्स ॥ १४१ ॥

यत् एभिर्गुणैर्युक्तो धर्मं कर्तुं शक्नोति । ततः 'सुप्तु' शोभनमिदं 'भणितं' उक्तं 'पूर्वाचार्यैः' अतीतसूरिभिः 'पश्चित्तैः' अन्यजनोपकारकरणलम्पटैः । किं तत् ? इत्याह—एकविंशतिभिर्गुणैरुपेतो युक्तो 'योग्यः' उचितः । 'सकृत्' सदा धर्मरत्नस्य' उक्तस्वरूपस्य । इति गाथार्थः ॥ १४१ ॥

अथ प्रकृतप्रकरणार्थमनुवदन्नुपसंहारगाथायुग्ममाह—

धम्मरयणोच्चियाणं देसचरितीण तह चरितीणं । लिंगाइं जाइं समए भणियाइं सुणियतत्तेहिं ॥ १४२ ॥
तेसि इमो भावत्थो नियमइविभवाणुसारओ भणियो । सपराणुग्गहहेउं समासओ संतिसूरीहिं ॥ १४३ ॥

'धर्मरत्नोचितानां' उक्तस्वरूपाणां 'देशचरित्रिणां' (देश) विरतानां, तथा 'चरित्रिणां' सर्वविरतानां 'लिङ्गानि' चिह्नानि यानि 'समये' सिद्धान्ते 'भणितानि' अभिहितानि 'मुनिततत्त्वैः' अथबुद्धसिद्धान्तसद्भाषैः । तेषां 'अर्थं' उक्तस्वरूपो 'भावार्थः' तात्पर्यं 'निजमतिविधानुसारतः' स्वबुद्धिसंपदानुरूपं 'भणितः' सिद्धान्ताम्भोधेः पारस्य लघुपञ्ज-क्यत्वात् यावदेवावबुद्धं तावदेव भणितमिति भावः । किमर्थं पुनरियान् प्रयासः कृतः ? इत्याह—स्वपरयोरनुग्रह उपकारः, स एव हेतुः कारणं यस्य भणनस्य तत् 'स्वपरानुग्रहहेतु' । सोऽध्यागमादेव भविष्यतीति चेन्न, तत्रागमे कोऽप्यर्थः क्वापि भणितः, तमत्पायुषोऽल्पमेधसश्चैदंयुगीना नावगन्तुमीशा इति समासतोऽल्पग्रन्थेन भणितः । कैः ? इत्याह—शान्ति-प्रधानैर्माध्यस्थ्यसुखचेतोभिः सूरिभिराचार्यैः । इति गाथायुग्मार्थः ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

१ "धम्मरयणरिथियाण देसचरितीण" इत्यपि । २ "धर्मरत्नार्थिनां" इत्यपि ॥

अथ शिष्याणामर्थित्वोत्पादनायोक्तशास्त्रार्थपरिज्ञानस्य फलमुपदर्शयन्माह—

जो परिभावइ एयं सम्मं सिद्धंतगवभजुत्तीहिं । सो मुत्तिसग्गलग्गो कुग्गहगत्तेसु न हु षडइ ॥ १४४ ॥

'यः' कश्चिद्व्युक्तर्मा 'परिभावयति' सम्यगालोचयति 'एनं' पूर्वोक्तं धर्मलिङ्गभावार्थं 'सम्यग्' मध्यस्थ्यभावेन सिद्धान्त-गर्भाभिरागमसाराभिर्युक्तिभिरुपपत्तिभिः 'सः' प्राणी मुक्तिमार्गं निर्वाणनगराध्वनि लघो गन्तुं प्रवृत्तः कुग्रहा दुष्पमाभा-विनो मतिमोहविशेषास्त एव गर्त्ता अवटा गतिविधातहेतुत्वादनर्थजनकत्वाच्च, तेषु नैव पतति । हुशब्दस्यावधारणार्थ-त्वात् । अत एव सुखेन सन्मार्गेण गच्छति । इति गाथार्थः ॥ १४४ ॥

उक्तं प्रकरणार्थपरिभावनस्यानन्तरफलम्, अधुना परंपरफलमाह—

इय धम्मरयणपगरणमणुदियहं जे मणंमि भावेंति । ते गलियकलिलपंका नेवाणसुहाइं पावेंति ॥ १४५ ॥

'इय' शब्द इतिशब्दार्थं प्राकृते दृश्यते । इत्यनन्तरोक्तं धर्मरत्नमुक्तान्वर्थम्, तत्प्रतिपादकप्रकरणं शास्त्रविशेषो धर्म-रत्नप्रकरणं 'अनुदिवसं' प्रतिदिनं, उपलक्षणत्वात् प्रतिसन्ध्यं प्रतिप्रहरमित्यपि द्रष्टव्यम् । 'ये' केचिदासन्नमुक्तिगमा 'मनसि' हृदये 'भावयन्ति' विवेकसारं चिन्तयन्ति 'ते' शुभशुभतराध्यवसायभाजो, गलितोऽपेतः कलिलपङ्कः पातकमलो-त्करो येभ्यस्ते तथाविधाः 'निर्वाणसुखानि' अपवर्गशर्माणि 'प्राप्नुवन्ति' लभन्ते । कीदृशानि पुनस्तानि ? इति चेवुच्य-ते—“नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं नवि य सबदेवाणं । जे सिद्धाणं सोक्खं अवावाहं उवगयाणं ॥ १ ॥ जह नाम कोइ मेच्छो नगरगुणे बहुविहेवि जाणंतो । न चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असंतीए ॥ २ ॥ इय सिद्धाणं सोक्खं अणो-वमं नत्थि तस्स ओवम्मं । किंचि विसेसेणेत्तो सारिक्खमिणं सुणह वोच्छं ॥ ३ ॥” तच्च सादृश्यमिदम्—“वेणुवीणासृद-ङ्गादिनादयुक्तेन हारिणा । श्लाघ्यस्मरकथावद्भगीतेन स्तिमितः सदा ॥ १ ॥ कुट्टिमादौ विचित्राणि दृष्ट्वा रूपाण्यनुत्सुकः । लोचनानन्ददायीनि लीलावन्ति स्वकानि हि ॥ २ ॥ चन्दनागुरुकर्पूरधूपगन्धान्वितस्ततः । पुटवासादिगन्धांश्च व्यक्तमा-घ्राय निस्पृहः ॥ ३ ॥ नानारससमायुक्तं भुक्त्वाऽन्नमिह मात्रया । पीत्वोदकं च तृप्तात्मा स्वादयन्स्वादिमं शुभम् ॥ ४ ॥ मृदुतूलीसमाक्रान्तदिव्यपथङ्गसंस्थितः । सहसाम्भोदसंशब्दश्रुतेर्भयघनं भृशम् ॥ ५ ॥ इष्टभार्यापरिष्वक्तस्तद्रतान्तेऽध-वानरः । सर्वेन्द्रियार्थसंप्राप्त्या सर्वावाधानिवृत्तिजम् ॥ ६ ॥ यद्वेदयति शं हृद्यं प्रशान्तेनान्तरात्मना । मुक्तात्मनस्ततोऽनन्तं सुखमाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥” इति संभाव्यते । एवमागमार्थपरिभावनपराणां संवेगातिरेकात्कालसंहननतथाभव्यत्वादि-साम्प्रतीवशात्पारंपर्येणापवर्गप्राप्तिः । इति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

॥ इति स्वोपज्ञवृत्तिसहितं धर्मरत्नप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्री शरुवेशुवर ढरुवर्नरुथरु नडु ॥

बृहदुगच्छीडु श्रीडुदु रतुनशुखरुसूरु सुंदुबुध

सुवुडुडुवृत्तु सहुतु

गुणरुडु नडुडुडुडुडुडु

डुनडुडुडुडु डुडुडुडुडु
दुवुडु डुडुडुडु डुडुडु
C/o कुडुडुडुडु डुडु डुडु
डुडु-गुलरुलवरुडुडु, डुडुडुडु-डुडुडुडु

वरुडु स २ॡ०ॢ
वरुडु स २०३ॢ

डुडुडु
ॡ-०० रु

प्राक्कथन (गुणस्थानक्रमारोह)

१४ गुणस्थानको के क्रम से आत्मविकास के निम्नस्तर से चरम उत्कर्ष का निरूपण यह जैन महर्षियों की अद्भुत देन है। विकास की कोई भी अवस्था इस प्रक्रिया में अस्पष्ट नहीं रह जाती। इस प्रक्रिया का सक्षिप्त किन्तु परिपूर्ण वर्णन करने वाली यह लघु कृति गुणस्थानक क्रमारोह आचार्य श्री रत्नशेखर सूरि महाराज की कीर्तिलता बनकर मुमुक्षुओं को आज तक सदबोध का फल वितीर्ण कर रही है।

मूलगाथा और उसके संस्कृत स्वोपज्ञ विवरण सहित यह ग्रंथ कई वर्ष पूर्व देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड (सूरत) इस संस्था से प्रकाशित किया गया था। जो कई वर्षों से अप्राप्य भी था। अध्येता वर्ग इसके पुनः प्रकाशन की आवश्यकता को महसूस कर रहा था। सिद्धान्त महोदधि स्व आचार्यदेव श्रीमद विजय प्रेम सूरीश्वर महाराज के पट्टालकार न्याय विशारद आ श्री विजय भुवन भानु सूरि महाराज की पुनीत प्रेरणा और आशीर्वाद से हम इस महत्त्वपूर्ण कृति का प्रकाशन करने में समर्थ हुये हैं। इस कार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता करने वाले सत्पुरुषों के प्रति हम पूर्णतया कृतज्ञ हैं। मुमुक्षु वर्ग इस ग्रन्थ का अध्ययन कर के उत्तरोत्तर गुणसंवर्धन करे यही एक मंगल कामना।



विषयानुक्रमः

| विषय | पृष्ठाङ्क | श्लोकाङ्क | विषय | पृष्ठाङ्क | श्लोकाङ्क |
|----------------------------|-----------|-----------|------------------------------|-----------|-----------|
| गुणस्थानाभिधानानि | १ | २-४ | ध्यातृस्वरूपम् | १२ | ५२-५३ |
| मिथ्यात्वगुणस्थाननिरूपणम् | २ | ५-९ | प्राणायामस्वरूपम् | १३ | ५४-५९ |
| सास्वादननिरूपणम् | ३ | १०-१२ | शुक्लध्यानाद्यभेदस्वरूपम् | १४ | ६०-६६ |
| मिश्रनिरूपणम् | ३ | १३-१७ | अनिवृत्तिस्वरूपम् | १५ | ६७-७१ |
| अविरतिसम्यग्दृष्टिनिरूपणम् | ४ | १८-२३ | शुक्लध्यानद्वितीयभेदस्वरूपम् | १६ | ७४-८० |
| देशविरतिनिरूपणम् | ६ | २४-२५ | सयोगिस्वरूपम् | १७ | ८१-१०२ |
| प्रमत्तनिरूपणम् | ७ | २६-३१ | अयोगिस्वरूपम् | २० | १०३-११८ |
| अप्रमत्तनिरूपणम् | ९ | ३२-३६ | सिद्धस्य गतिसिद्धि | २१ | ११९-१२४ |
| अपूर्वादिनिरूपणम् | १० | ३७-३८ | सिद्धस्वरूपम् | २२ | १२५-१२७ |
| उपशमकस्वरूपम् | १० | ३९-४७ | सिद्धस्वरूपम् | २२ | १२८-१३६ |
| क्षपकस्वरूपम् | १० | ४८-५१ | | | |

॥ अथ श्रीगुणस्थानक्रमारोहवृत्तिः प्रारभ्यते ॥

(कर्ता श्रीरजशेखरसूरिः)

अर्हपदं हृदि ध्यात्वा, गुणस्थानविचारिणाम् । अनुष्ठामियं वृत्ति-लिख्यते ऋषिर्णिवत् ॥ १ ॥ तत्रादौ षड्भक्तार्थमधी-
ष्टदेवतनमस्कारं सम्बन्धाविभाजकमाद्यपद्यमाह—

गुणस्थानक्रमारोह—हतमोहं जिनेश्वरम् । नमस्कृत्य गुणस्थान-स्वरूपं किञ्चिदुच्यते ॥ १ ॥

व्याख्या—यत्र यत्र पूर्वाभासगुणविशेषाविर्भावो भवति तत्तद्गुणस्थानमित्युच्यते, तानि गुणस्थानानि, तेषां स्वरूपं,
किञ्चिद्—अल्पमात्रमुच्यते इति सम्बन्धः किं कृत्वा ? 'नमस्कृत्य' प्रणिपत्य 'जिनेश्वरं' श्रीसर्वज्ञं, कथंभूत ? 'गुणस्थानक्रमारोहहतमोहं'
गुणस्थानानां क्रमो गुणस्थानक्रमः, गुणस्थानक्रमेणारोहणं गुणस्थानक्रमारोहः, गुणस्थानक्रमारोहेण—क्षपकश्रेण्यारोहलक्षणोऽनेन हतो

१ देवता प्र० । २ नमस्कारस्य प्र० । ३ आरोहण प्र० । ४ रोहणेन प्र० ।

मोहो येन स तथा तं गुणस्थानक्रमारोहहतमोहं, क्षपकश्रेण्यारोहक्रमेणैव मोहो हन्यते, यदाह वाचकमुख्यः—“पूर्वं करोत्यनन्ता-
नुबन्धिनाम्नां क्षयं कषायाणाम् । मिथ्यात्वमोहगहनं, क्षपयति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥ १ ॥ सम्यक्त्वमोहनीयं, क्षपयत्यष्टावतः
कषायांश्च । क्षपयति ततो नपुंसक-वेदं स्त्रीमेदमथ तस्मात् ॥ २ ॥ हास्यादि ततः षड्कं, क्षपयति तस्माच्च पुरुषवेदमपि ।
सज्वलनानपि हत्वा, प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ॥ ३ ॥ ” आह—ननु हतमोहमित्यत्रोक्तं, न ह्येकस्यैव मोहस्य घातेन जिनेश्वरत्व-
मुपपद्यते, किन्तु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामपि घाते जिनेश्वरत्वं स्यात् तत्कथमिति, अत्रोच्यते—अष्टस्वपि कर्मसु
मोहस्यैव प्राधान्यं, यत् *—“अक्रवाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण वंभवयं । गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति
॥१॥” मोहे हते शेषकर्माणि सुखहतान्येव, यदागमः*—“जह मत्थयमईए, हयाए इम्मए तलो । तह कम्माणि इम्मंति, मोहणिज्जे
स्सयं गए ॥१॥” ततो मोहघाते शेषघातिनां घातोऽवश्यंभाव्येवेति न दोषः ॥१॥ अथ चतुर्दशसंख्यानां गुणस्थानकानां नामान्येव
श्लोकचतुष्टयेनाह—

चतुर्दशगुणश्रेणि—स्थानकानि तदादिमम् । मिथ्यात्वाख्यं द्वितीयं तु, स्थानं साखादनाभिधम् ॥२॥

तृतीयं मिश्रकं तुर्यं, सस्यग्दर्शनमव्रतम् । श्राद्धत्वं पञ्चमं षष्ठं, प्रमत्तश्रमणाभिधम् ॥ ३ ॥

१ घाते प्र० । * अक्षणा रसना कर्मणा मोहनीय व्रताना तथा ब्रह्मव्रतम् । गुप्तिना च मनोगति चत्वारि दुखेन जीयन्ते ॥ १ ॥

* यथा मस्तकमूच्या हताया हन्यते ताल । तथा कर्माणि हन्यन्ते, मोहनीये क्षयं गते ॥ १ ॥ २ नामानि प्र० ।

सप्तमं त्वप्रमत्तं चा—पूर्वात्करणमष्टमम् । नवमं चानिवृत्त्याख्यं, दशमं सूक्ष्मलोभकम् ॥ ४ ॥

एकादशं शान्तमोहं, द्वादशं क्षीणमोहकम् । त्रयोदशं सयोग्याख्यसयोग्याख्यं चतुर्दशम् ॥५॥

चतुर्भिः कुलकम्

व्याख्या—इह हि भव्यजीवानां सिद्धिसौधाशिरोहणार्थं गुणश्रेणिरिव निःश्रेणिस्तस्यां च पदन्यासास्पदस्थानीयानि
यानि गुणाद्गुणान्तरमाप्तिरूपाणि स्थानानि—विश्रामधामानि चतुर्दशसंख्यानि, तेषां नामानि यथा—प्रथमं मिथ्यात्वगुणस्थानकं १,
द्वितीयं साखादनगुणस्थानकं २, तृतीयं मिश्रगुणस्थानकं ३, चतुर्थमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं ४, पञ्चमं देशविरतिगुणस्थानकं ५,
षष्ठं प्रमत्तसंयतगुणस्थानकं ६, सप्तमप्रमत्तसंयतगुणस्थानकं ७, अष्टमं निवृत्तिवादेर (अपूर्वकरण) गुणस्थानकं ८, नवमं अनि-
वृत्तिवादेरगुणस्थानकं ९, दशमं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं १०, एकादशमुपशान्तमोहगुणस्थानकं ११, द्वादशं क्षीणमोहगुणस्था-
नकं १२, त्रयोदशं सयोगिकेवल्लिगुणस्थानकं १३, चतुर्दशमयोगिकेवल्लिगुणस्थानकं १४ इति २-३-४-५॥ अथ प्रथमं व्यक्ताव्यक्त-
मिथ्यात्वस्वरूपमाह—

अदेवागुर्वधर्सेषु, या देवगुरुधर्मधीः । तन्मिथ्यात्वं भवेद्व्यक्त-सव्यक्तं मोहलक्षणम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—या स्पष्टचैतन्यानां संक्षिप्तचेन्द्रियादिजीवानामदेवागुर्वधर्मेषु क्रमेण देवगुरुधर्मबुद्धिः संपद्यते, तद्व्यक्तं मिथ्यात्वं

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

भवति, उपलक्षणात् — *जीवाइपयन्त्येमुं, जिणोवऽद्रेमु जा असदृहणा । सदृहणापि अ मिच्छा, विपरीतपररूपणा जा य ॥ १ ॥
संमयरूपं ज चिअ, जो तेयु अणायरो पयन्त्येमु । त पञ्चविहं मिच्छ, तदिद्वी मिच्छदिद्वी अ ॥ २ ॥ एतन्पञ्चविधमपि मिथ्यात्वं
व्यक्तमेव, अयथा—+आभिगगहिअमणाभि—गगहियं तहाभिनिनेमिअ चेव । ससदअगणाभोगं, मिच्छत्तं पंचहा होइ ॥ १ ॥
इत्यत्रापि यदेकमनाभोगिकमिथ्यात्वं तदव्यक्तं, शेषमिथ्यान्वचतुष्टयं तु व्यक्तमेव, तथा—।दसविहे मिच्छते पञ्चते, तंजहा—अधम्ये
धम्मसन्ना, धम्म्ये अधम्मसन्ना, उम्मगगे मगसन्ना, मगगे उम्मगगसन्ना, अर्जायेसु जीवसन्ना, जीवेसु अजीवसन्ना, असाहुसु साहुसन्ना,
साहुसु असाहुसन्ना, अमुत्तेसु मुत्तसन्ना, मुत्तेसु अमुत्तसन्ना । इत्येवमादिकमपि यन्मिथ्यात्वं तद्व्यक्तमेव, अपरं तु यदनादिकालं
यावन्मोहनीयप्रकृतिरूप मिथ्यात्वं सदृशनरूपात्मगुणाच्छादकं जीवेन सह सदाऽविनाभावि भवति, तदव्यक्तं मिथ्यात्वमिति ॥ ६ ॥
अथ मिथ्यात्वस्य गुणस्थानकृत्वमाह—

* जीवादिपदार्थेषु जिनेपदिष्टेषु या अध्रद्धा । ध्रद्धाऽपिच मिथ्या, विपरीतरूपणा या च । १ । सशयकरण यदेव, यन्तेषु अना-
दर पदार्थेषु । तत् पल्लविच मिथ्यात्व, तद्दृष्टिमिथ्यादृष्टिश्च ॥ २ ॥ + आभिप्रहिकमनाभिप्रहिक तथाऽऽभिनिवेशिकमेव । साशयिकमनाभोगिकं
मिथ्यात्वपञ्चवा भवति । १ । । दशविध मिथ्यात्व प्रज्ञसम्, तद्यथा—अधर्म धर्मसज्ञा १ धर्म अधर्मसज्ञा २ उन्मार्गे मार्गसज्ञा ३ मार्गे उन्मार्गसज्ञा
४ अर्जायेषु जीवसज्ञा ५ जीवेषु अजीवसज्ञा ६ असाधुषु साधुसज्ञा ७ साधुषु असाधुसज्ञा ८ अमूर्तेषु मूर्तसज्ञा ९ मूर्तेषु अमूर्तसज्ञा १०
१ अमग्य । प्र० । २ अजीवे । प्र० । ३ जीवे प्र० ।

अनाद्यव्यक्तमिथ्यात्वं, जीवेऽस्त्येव सदा परम् । व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्ति—गुणस्थानतयो-
च्यते ॥ ७ ॥

व्याख्या—अनादि च तदव्यक्तं च अनाद्यव्यक्तं, तच्च तन्मिथ्यात्वं च अनाद्यव्यक्तमिथ्यात्वं 'जीवे' प्राणिनि अख्यव-
हारराशिर्वर्तिनि 'सदा' सर्वदाऽप्यस्त्येव, परं व्यक्तमिथ्यात्वस्य—पूर्वोक्तस्वरूपस्य बीर्बुद्धिस्तत्प्राप्तिरेव गुणस्थानतयोच्यत इति । आह-
ननु * सवज्जिअठाण मिच्छे' इति मिथ्यादृष्टौ सर्वाण्यपि जीवस्थानानि लभ्यन्ते, तत्कथं व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्तिरेव प्रथमगुणस्थान-
तामाप्नोति ? इत्यत्रोच्यते 'सर्वे भावाः सर्वजीवैः प्राप्तपूर्वा अनन्तशः' इति वचनात् ये प्राप्तव्यक्तमिथ्यात्वबुद्धयो जीवा व्यवहार-
राशिर्वर्तिनस्त एव प्रथमगुणस्थाने लभ्यन्ते, न त्वव्यवहारराशिर्वर्तिनः, तेषामव्यक्तमिथ्यात्वस्यैव सद्भावमित्येदोषः ॥ ७ ॥ अथ
मिथ्यात्वदूषणमाह—

मद्यमोहाद्यथा जीवो, न जानाति हिताहितम् । धर्माधर्मो न जानाति, तथा मिथ्यात्व-
मोहितः ॥ ८ ॥

* सर्वजीवस्थानानि मिथ्यात्वे

१ गुणस्थानस्या । प्र० । २ अन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिप्रतिरविपर्यस्तापि भवति इति मध्यगिरिपादाः
पडशीतिवृत्तौ । कर्मस्तवविवरणादावप्येवमेवेतिष्येयम् ।

व्याख्या—यथा 'जीवो' मनुष्यादिप्राणी 'मद्यमोहाद्' मदिरोन्मादात् हितं वाऽहितं वा किमपि न जानाति, नष्टचैत-
न्यवत्, तथा मिथ्यात्वमोहितो जीवो धर्माधर्मो सम्यग्र जानात्यज्ञानत्वात्, यदाह—मिथ्यात्वेनालीढचित्ता नितान्तं, तच्चातत्त्वं जा-
नते नैव जीवाः । किं जात्यन्याः कुत्रचिद्वस्तुजाते, रम्यारम्यव्यक्तिमासादयेयुः ? ॥ १ ॥ इति ॥ ८ ॥ अथ मिथ्यात्वस्य
स्थितिमाह—

अभव्याश्रितमिथ्यात्वे—ऽनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत् । सा भव्याश्रितमिथ्यात्वे—ऽनादिसान्ता
पुनर्मता ॥ ९ ॥

व्याख्या—अभव्यजीवानाश्रित्य मिथ्यात्वे—सामान्यनाव्यक्तमिथ्यात्वविषयेऽनाद्यनन्ता स्थितिर्भवति, तथा सैव स्थिति-
र्भव्यजीवान् पुनराश्रित्यानादिसान्ता पुनर्मता—संमता, यदाह—*मिच्छत्तमभवाणं, तमणाइमणंतयं मुणेयवं । भवाणं तु अणाइ,
सपज्जवसियं तु मिच्छत्तं ॥ १ ॥ इयं च स्थितिः सामान्येन मिथ्यात्वमाश्रित्य दर्शिता, यदि पुनर्मिथ्यान्वगुणस्थानस्य स्थितिर्विचार्यते
तदा अभव्यानाश्रित्य साद्यनन्ता भव्यानाश्रित्य सादिसान्तेति । तदा मिथ्यात्वगुणस्थानस्थो जीवो विशत्युत्तरशतबन्धमायोग्यकर्म-
कृतीनां मध्यात्कीर्तकृत्कर्माहारकद्वयावन्धात्सप्तदशोत्तरशतबन्धकः, तथा द्वाविंशत्युत्तरशतोदयप्रायोग्यकर्मप्रकृतीनां मध्यात्
मिश्रसम्य-
क्त्वाहारकद्विकर्तार्थकृत्कर्मेतिपञ्चप्रकृतीनामनुदयात्सप्तदशोत्तरशतवेदिता, अष्टचत्वारिंशदधिकशतसत्ताको भवति ॥ ९ ॥ इति

१ मनुष्यादिक । प्र० । २ नष्टचैतन्यत्वात् । प्र० । ३ सम्पत्ते । प्र० । * मिथ्यात्वमभव्याना तदनाद्यनन्त गुणितव्यम् । भव्याना
दिमपर्यवति । मिथ्यात्वम् ॥ १ ॥

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

प्रथमं गुणस्थानम् ॥ १ ॥ अथ द्वितीयं—सास्वादनगुणस्थानमूलकारणभूतौपशमिकसम्यक्त्वस्वरूपमाह—

अनादिकालसंभूत—मिथ्याकर्मोपशान्तितः । स्यादौपशमिकं नाम, जीवे सम्यक्त्वमादितः ॥१०॥

व्याख्या—‘जीवे’ भव्यजीवविषये ‘अनादिकालसंभूतमिथ्याकर्मोपशान्तितो’ अनादिकालोद्भवमिथ्यात्वकर्मोपशमादादितो ग्रन्थिभेदकरणकालादौपशमिकं नाम सम्यक्त्वं स्यादिति सामान्योऽर्थः, विशेषार्थस्त्वयम्—औपशमिकं सम्यक्त्वं द्विधा, एकमन्तरकरणौपशमिकं, द्वितीयं स्वश्रेणिगतौपशमिकं, तथापूर्वकरणेनैव कृतग्रन्थिभेदस्याकृतत्रिपुञ्जीकरणस्य-मिथ्यात्वकर्मपुद्गलराशेरेवाविहिताशुद्धार्द्धशुद्धमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वस्वरूपान्निपुञ्जस्योदीर्णं मिथ्यात्वे क्षीणेऽनुदीर्णे चाप्राप्तस्य इति, अन्तरकरणान्तर्मुहूर्त्तकालं यावत्सर्वमिथ्यात्वावेदकस्य, अन्तरकरणौपशमिकसम्यक्त्वमेकवारमेव भवति, तयोपशमश्रेणिमपन्नस्य मिथ्यात्वानन्तानुवन्धिनामुपशमे सति स्वश्रेणिगतोपशमसम्यक्त्वं भवति, तथा चोच्यते—*अकथतिपुंजो जसर—ईलियदवदद्गुरुवखनापरि । अन्तरकरणुवस-मिओ, उवसमिओ वा ससेणिगमो ॥ १ ॥ तदेतद् द्विभेदमप्यौपशमिकसम्यक्त्वं सास्वादनोत्पत्तिमूलकारणमिति ॥ १० ॥ अथ सास्वादनस्वरूपं पद्यद्वयेनाह—

एकस्मिन्नुदिते मध्या—च्छान्तानन्तानुवन्धिनाम् । आद्यौपशमिकसम्यक्त्व—शैलमौलेः परि-

१ प्रत्यन्तरे मूलेति नास्ति । २ भव्येति नास्ति । प्र० । ३ सर्वथा । प्र० । * अङ्गत्रिपुञ्ज उपरेल्लिकादवदग्धवृक्षज्ञातै । अन्तरकरणौपशमिक औपशमिको वा स्वश्रेणिगत । १ ।

च्युतः ॥ ११ ॥ समयादावलीषट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतलम् । नासादयति जीवोऽयं, तावत्सास्वादनो भवेत् ॥ १२ ॥ युग्मम् ॥

व्याख्या—औपशमिकसम्यक्त्ववानयं जीवः शान्तानन्तानुवन्धिनाम् मध्यादेकस्मिन्नपि—क्रोधादावुदीर्णे सति आद्यौपशमिकसम्यक्त्वं शैलमौलिकल्पम्—गिरिशिवरतुल्यम्, ततः परिच्युतो—भ्रष्टो ‘यावन्मिथ्यात्वभूतलं नासादयति’ मिथ्यात्वभूमिषट्कं न प्राप्नोति तावत्समयादावलीषट्कान्तकालं सास्वादनगुणस्थानवर्ती भवति, यदाह⁺—उवसमअद्धा इओ, मिच्छ-कपचो तमेव गन्तुमणो । सम्यं आसायन्तो, सासायणमो मुणयथो ॥११॥ आह—ननु व्यक्तमिथ्यात्वधीमाप्तिरूपस्याद्यस्य मिश्रादीनां च गुणस्थानानामुत्तरोत्तरारोहरूपाणां गुणस्थानत्वं युक्तं, परं सम्यक्त्वात् प्रपातरूपस्य सास्वादनस्य गुणस्थानकत्वं कथमिति, अत्रोच्यते—मिथ्यात्वगुणस्थानमाश्रित्य सास्वादनस्याप्यूर्ध्वार्ध्वास्पदारोह एवास्ते (एवास्ति) यतो मिथ्यात्वगुणस्थानमभव्यानामपि भवति, सास्वादनं तु भव्यानामेव, भव्येष्वप्युपाद्पुद्गलपरावर्त्तवशेषसंसारणामेव, यदाह *अंतोमुहुत्तमिचंपि, फासियं हुज्ज जेहि सम्यत् । तेसि अवद्गुगल—परिअट्टो चैव ससारो ॥ १ ॥ इति सास्वादनस्यापि मिथ्यात्वगुणस्थानारोहरूप गुणस्थानत्वं भवतीत्यदोषः । तथा सास्वादनस्यो जीवो मिथ्यात्वनरकत्रिकैकेन्द्रियादिजातिचतुष्कस्थानरचतुष्कातपहुण्डसेवार्त्तनपुंसकवेदरूपषोडशमकृतीनां

+ उपशमादायां स्थित मिथ्यात्वमप्राप्त तदेव गन्तुमना । सम्यक्त्वमास्वादनं सास्वादनो ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

* अन्तर्मुहूर्त्तमात्रमपि स्पष्ट भव्यै सम्यक्त्वम् । तेषामपार्धपुद्गलपरावर्त्त एव ससार । १ ।

बन्धव्यवच्छेदादेकोत्तरशतबन्धकः, तथा सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वोदयव्यवच्छेदाभरकानुपूर्व्यनुदयाच्चैकादशोत्तरशतवेदयिता, तथा तार्थकृत्सप्तार्त्तसंभवात्सप्तचत्वारिंशदधिक(शत)सत्ताको भवति ॥ १२ ॥ इति द्वितीयं गुणस्थानकम् । अथ तृतीयं मिश्रगुणस्थानकमाह—

मिश्रकर्मोदयाजीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः । यो भावोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्या—तन्मिश्रस्थानमुच्यते ॥१३॥

व्याख्या—दर्शनमोहनीय (द्वितीय) प्रकृतिरूपमिश्रकर्मोदयात् ‘जीवे’ जीवविषये यः समकालं समरूपतया सम्यक्त्वे मिथ्यात्वे च मिलितो मिश्रितो भावोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवेत्, तन्मिश्रगुणस्थानमुच्यते, यस्तु सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोरेकतरे (तरस्मिन्) भावे वर्त्तते, त (न) मिश्रगुणस्थानस्थाने भवति, यतोऽत्र मिश्रत्वमुभयभावयोरेकत्वरूपं जात्यन्तरमेव ॥ १३ ॥ अत्रौभयभावयोरेकत्वे जात्यन्तरसमुद्भूतिं सद्यन्तां श्लोकद्वयेनाह—

जात्यन्तरसमुद्भूति—वडवाखरयोर्यथा । गुडदध्नोः समायोगे, रसभेदान्तरं यथा ॥ १४ ॥ तथा धर्मद्वये श्रद्धा, जायते समबुद्धितः । मिश्रोऽसौ भण्यते तस्मा—ज्ञावो जात्यन्तरात्मकः ॥ १५ ॥

व्याख्या—‘यथा’ येन प्रकारेण वडवाखरयोः समायोगे नाशो जायते, न रसभः, किंतु वेसररूपा जात्यन्तरसमुद्भूतिर्भवति; तयो गुडदध्नोः समायोगे न गुडरसो व्यक्तो भवति, न च दधिरसः, किंतु शिखरिणीरूपा रसभेदान्तरसमुद्भूतिर्भवति,

१ तीर्थकृत्कर्मसत्ता (प्र०). २ स्थानस्यो । प्र० । ३ अयो० । प्र० । ४ यथा । प्र० ।

‘तथा’ तेन प्रकारेण यस्य धर्मद्वये—सर्वज्ञासर्वज्ञप्रणीते समनुद्धितया श्रद्धा जायते, स जात्यन्तरभेदात्मकमिश्रगुणस्थानस्यो भवतीति, यदाह—*अहं गुह्यदहीणि महियाणि, भावसहिआणि हुंति मीसाणि । भुंजंतस्स तहोभय, तद्धिद्वी मीसद्विद्वी च ॥१॥ ॥१४-१५॥ अथ मिश्रगुणस्थानस्यो जीवो यश्च करोति तदाह—

आयुर्वभाति नो जीवो, मिश्रस्थो म्रियते न वा । सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वा मरणमभ्यनुते ॥१६॥

व्याख्या—मिश्रस्थो जीवो नायुर्वभाति परभवयोग्यायुर्वन्धं न करोति, न च मिश्रस्थो जीवो म्रियते—न मरणमप्याप्नोति, किन्तु सद्दृष्टिर्भूत्वा सम्यग्दृष्टिगुणस्थानमारुह्य म्रियते, ‘वा’ अयत्रा, कुदृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमागत्य म्रियते, न तु मिश्रस्थ एव म्रियते, तथा मिश्रे इव क्षीणमोहे सयोगिनि च वर्त्तमानो जीवो न म्रियते, परेष्वेकादशसु मिथ्यात्वसास्वादनाविरतदेश्चरित-प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणनिवृत्तिसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहायोगिकेवलिरूपेषु गुणस्थानकेषु वर्त्तमानो म्रियते, तथा तेष्वेकादशसु मरणगुणस्थानकेषु मिथ्यात्वसास्वादनविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि त्रीणि गुणस्थानकानि जीवेन सह परभवमप्यनुयान्ति, न चापराण्यष्टौ गुणस्थानानि, यदाह—*मीसे खीणे सजोगे, न मरइ अवरेसु मरइगारससु । अविरयमिच्छदुगसदं, परभवमनुजंति नो अह ॥ १ ॥ १६ ॥ अथ बद्धायुषो मिश्रस्थस्य मूर्तिं गतिं चाह—

१ समनुद्धित. । प्र० । २ न च । प्र० । *यथा गुह्यदहिनी मथिते, भावसहिते भवतो मिश्रे । मुञ्जानस्य तहोभय, तद्दृष्टिर्मिश्रदृष्टिश्च । १ । २ मरणं प्राप्नोति प्र० ४ अपरे० प्र० । * मिश्रे क्षीणे सयोगिनि, न म्रियते अपरेषु म्रियते एकादशसु । अविरतिमिथ्यात्वद्विक्रमस्य च, परभवमनुयाति न अष्टौ ॥ १ ॥

सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये, ह्यायुर्येनार्जितं पुरा । म्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम् ॥१७॥

व्याख्या—‘येन’ बद्धायुषा जीवेन मिश्रभावावस्थायाः ‘पुरा’ पूर्वं ‘येन’ सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोरेकतरेण भावेन कृत्वायुःकर्म बद्धं, स जीवो मिश्रभावमनुभूयापि पुनस्तनैव भावेन म्रियते, तदाश्रितां गतिं च ‘याति’ गच्छति । तथा मिश्रगुणस्थानस्यो जीवस्तिर्यक्कृत्रिकस्त्यानद्धिक्त्रिकदुर्भंगदुःस्वरानादेयानन्तानुबन्धिमध्येकृतिमध्यसंहननचतुष्कनीचैर्गोत्रोद्योतामशस्तविहायोगनिस्तीवेदरूपश्चविंशतिप्रकृतिबन्धव्यवच्छेदान्मनुष्यदेवायुषोरबन्धाच्च चतुःसप्ततेर्वन्धक, तथाऽनन्तानुबन्धिस्थानैरेकेन्द्रियविकलत्रिकोदयव्यवच्छेदादेवमनुष्यतिर्यगानुपूर्व्यनुदयाच्च मिश्रोदयाच्च शतस्य वेदयिता, सप्तचत्वारिंशदधिकशतसत्ताको भवति ॥१७॥ इति तृतीयं गुणस्थानकम् । अथ चतुर्थमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं, तत्र प्रथमं सम्यक्त्वप्राप्तिस्वरूपमाह—

यथोक्तेषु च तत्त्वेषु, रुचिर्जीवस्य जायते । निसर्गादुपदेशाद्वा, सम्यक्त्वं हि तदुच्यते ॥१८॥

व्याख्या—‘जीवस्य’ भव्यस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमाणिनो ‘यथोक्तेषु’ यथावत्सर्वद्विप्रणीतेषु ‘तत्त्वेषु’ जीवादिपदार्थेषु ‘निसर्गात्’ पूर्वभवाभ्यासविशेषजनितान्यन्तनैर्मलयगुणात्मकात्मस्वभावात्, ‘उपदेशाद्वा’ सद्गुरूपदिष्टशास्त्रध्वणात् वा या श्रद्धा रुचिरूपा भावना ‘जायते’ समुत्पद्यते, ‘हि’ स्फुटं तत्सम्यक्त्वं सम्यक्श्रद्धानलक्षणमुच्यते, यदाह—“रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते । जायते तन्निर्गणेन, गुणैरधिगमेन वा ॥१॥” ॥१८॥ अथाविरतसम्यग्दृष्टित्वं यथा स्यात्तथाऽऽह—

१ या यथोक्तेषु प्र० २ तदाह प्र०

द्वितीयानां कषायाणासुदयाद्भवति तद्वर्जितम् । सम्यक्त्वं केवलं यत्र, तच्चतुर्थं गुणास्पदम् ॥१९॥

व्याख्या—‘द्वितीयानां कषायाणां’ अपत्याख्यानासञ्ज्ञितानां क्रोधादीनामुदयाद्, ‘व्रतवर्जितं’ विरतिरहितं, अत एव ‘केवलं’ सम्यक्त्वमात्रं, यत्र भवति, ‘तच्चतुर्थं गुणास्पदं’ अविरतसम्यग्दृष्टिनामकं गुणस्थानकं भवति, अयमर्थः—यथा कश्चित्पुरुषो न्यायोपपन्नधनभोगविलाससुखसौन्दर्यालिकुलसमुत्पन्नोऽपि दुरन्तघृतादिव्यसर्वाचीर्णनिकान्यायोत्पादितापराधलब्धराजदण्डखण्डिताति(धि)-मानश्चण्डण्डपाशिकैर्विदम्ब्यमान स्वकं व्यसनजनितं कुत्सितं कर्म विरूपं जानन् स्वकुलसुखसौन्दर्यसंपदमभिलषन्नप्यारक्षकाणां सकाशादुच्छ्वसितुमपि न शक्नोति; तथाऽयं जीवोऽविरतत्वं कुत्सितकर्मरूपं जानन् विरतिमुखसौन्दर्यमभिलषन्नपि आरक्षककल्पद्वितीयकषायाणां सकाशाद् व्रतोत्साहमपि कर्तुं न शक्नोति, अविरतसम्यग्दृष्टित्वमनुभवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ चतुर्थगुणस्थानकस्थितिमाह—

उत्कृष्टाऽस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरा साधिका स्थितिः । तदर्द्धपुद्गलावर्त्त—अवैर्भव्यैरवाप्यते ॥२०॥

व्याख्या—‘अस्य’ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकस्योत्कृष्टा स्थितिलयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा सातिरेका भवति, सा च सर्वार्थतिद्धयादिविमानस्थितिरूपा मनुष्यायुरधिका ज्ञेया, तथैतत्सम्यक्त्वमर्द्धपुद्गलपरावर्त्तशेषभवैरेवावाप्यते, नान्यैरिति प्रतीतमेव ॥२०॥ अथ सम्यग्दृष्टिलक्षणान्याह—

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

कृपाप्रशमसंवेगनिर्वेदास्तिक्यलक्षणाः । गुणा भवन्ति यच्चित्ते, स स्यात्सम्यक्त्वभूषितः ॥२१॥

व्याख्या—दुःखितेषु जन्तुषु दुःस्वापहारचिन्ता कृपा १, कोपादिकारणेषु त्वेषु तीव्रानुशङ्गाभावः प्रशमः २, सिद्धिसौ-
धाभिरोहसोपानसमानसम्यग्ज्ञानादिसाप्रनोत्साहलक्षणो मोक्षाभिलाषः संवेगः ३, अत्यन्तकुत्सिततरसंसारचारकनिर्गमद्वारोपमपरम-
बैराग्यप्रवेशरूपो निर्वेदः ४, श्रीसर्वज्ञप्रणीतसमस्तभावानामस्तित्वनिश्चयचिन्तनमास्तिक्यं ५, तदेते कृपाप्रशमसंवेगनिर्वेदास्तिक्यल-
क्षणा गुणा यस्य चित्ते भवन्ति, स भग्यजन्तुः सम्यक्त्वालङ्कृतो भवति ॥ २१ ॥

अथ सम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्तिनां गतिमाह—

क्षायोपशमिकी दृष्टिः, स्यान्नरामरसंपदे । क्षायिकी तु भवे तत्र, त्रितुर्ये वा विमुक्तये ॥ २२ ॥

व्याख्या—अत्र जीवपरिणामविशेषरूप करणमुच्यते, तत्रिधा—यथाप्रवृत्तिकरणं, अपूर्वकरणं, अनिवृत्तिकरणं चेति, तत्र
गिरिसरिज्जलाभ्यालोड्यमानपापाणवद् घोलनान्यायेन जीव आयुर्वर्जकर्माणि किञ्चिद्नैककोट्यकोटिसागरस्थितिकानि कुर्वन्
येनाध्यवसायविशेषेण ग्रन्थिदेशं यावदायाति तद्यथाप्रवृत्तिकरणमुच्यते १। तथा येन अपामपूर्वेण अध्यवसायविशेषेण तं ग्रन्थि-घन-
रागद्वेषपरिणतिरूपं भेतुमारभते तद् अपूर्वकरणमुच्यते २। येनाध्यवसायविशेषेणानिवर्तकेन ग्रन्थिभेदं कृत्वाऽतिपरमालहादजनकं

१ ०णेऽप्युत्पत्ते प्र० २ क्रोधाभाव

सम्यक्त्वमाप्नोति तदनिवृत्तिकरणमिति, यदाहुः श्रीजिनभद्रगणिकामश्रमणाः— * अंतिमकोटाकोटी, सवकम्माणमाउबज्जाणं ।
पलिभासंखिज्जइमे, भागे खीणे ह्वइ गंठी ॥ १ ॥ गंठिचि सुदुरुभेओ, कक्खहवणरूढगूढगंठिव । जीवस्स कम्मजणिओ, घणरा-
गद्वोसपरिणामो ॥ २ ॥ भिञ्मि तस्मि लामो, समत्ताइण मुक्खहेऊणं । सो उदुलभो परिसमचित्तविद्यायाइनिग्घेहि ॥ ३ ॥
जा गंठी ता पदमं, गंठि समइच्छओ भवे चीअं । अनियट्टिकरण पुण, संमत्तपुरक्खहे जीवे ॥ ४ ॥ अथवा पथिकत्तयदृष्टान्तेन
करणत्रययोजना यथा— +जह वा तिण्णि मणूसा, जंतहविपहं सहावगमणेणं । वेलाइकमभीआ, तुरंति पत्ता य दो चोरा
॥ १ ॥ इदुं मगतहत्थे, तत्थेगो मग्गओ पडिनियत्तो । नीओ गहिओ तइओ, समइकंतो पुरं पत्तो ॥ २ ॥ अदवी भवो मणू-
सा, जीवा कम्मइद्विं पढो दीहो । गंठी अ भयट्ठाणं, रागद्वोसा य दो चोरा ॥ ३ ॥ भग्गो ठिइपरिघुट्ठी, गहिओ पुण गंठिओ

* अन्त्यकोटीकोटया सर्वकर्मणामायुर्वर्जानाम् । पल्यासरव्याततमे भागे क्षीणे भवति ग्रन्थि । १ । ग्रन्थिरिति सुदुर्भेद कर्तव्यमस्मिन्कूढ-
ग्रन्थिरिवाजीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणाम । २ । भिन्ने तस्मिन् लाभ सम्यक्त्वादीना मोक्षहेतूनाम् । स एव दुर्लभः परिश्रमचित्तविद्यातादि-
विद्यै ॥ ३ ॥ यावत् ग्रन्थि तावत् प्रथमं, ग्रन्थि समतिक्रामतो भवेद्वितीयम् । अनिवृत्तिकरणं पुनः प्रवृत्तिसम्यक्त्वे जीवे । ४ । १ ०कोटीइ.

+ यथा वा त्रयो मनुष्या यान्तोऽऽवीपन्थानं स्वभावगमनेन । वेलातिक्रमभीता त्वरन्ते प्राप्ती च द्वौ चौरौ । १ । दृष्ट्वा मार्गपार्श्वस्थौ
तत्रैकं पृष्ठतः प्रतिनिवृत्त । द्वितीयो गृहीतस्तृतीयः समतिक्रान्तः पुरं प्रास । ३ । अटवी भवो मनुष्या जीवा कर्मस्थिति पन्था दीर्घं । ग्रन्थिश्च
भयस्यानं, रागद्वेषौ च द्वौ चौरौ । ४ । भग्न स्थितिपरिवृद्धिर्गृहीतः पुनर्ग्रन्थिको गतस्तृतीयः । सम्यक्त्वं पुर एव योजयेत् त्रीणि करणानि । १ ।
गओ तइओ । सम्मत्तपुरं एवं, जोइज्जा तिन्नि करणाइं ॥ ४ ॥ अथवा पिपीलिकोपमानेन करणत्रययोजना— + खिइसाभावि-
अगमणं, थाणूसरणं तओ समुप्पयणं । ठाणं थाणुसिरे वा, ओसरणं वा मुइगाणं ॥ १ ॥ सिहगमणं पिव पदमं, थाणूसरणं च
करणमपुहं । उप्पयणं पिव तत्तो, जीवाणं करणमनिअट्ठी ॥ २ ॥ थागूव गंठिदेसो, गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाण । ओयरण
पिव तत्तो, पुणोवि कम्मइद्विइविदुं ॥ ३ ॥ इत्यादि, ततो जीवो यथाप्रवृत्तिकरणेन ग्रन्थिदेशं संपाद्यापूर्वकरणेन ग्रन्थिभेदं
विधाय कश्चिन्मिध्यात्वपुद्गलराराशं विभज्य मिध्यात्वमिश्रसम्यक्त्वरूपं पुद्गलत्रयं कुरुते, ततोऽनिवृत्तिकरणेन विधुद्वेषमान उदीर्णं
मिध्यात्वे क्षीणेऽनुदीर्णं चोपशान्ते क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमाप्नोति, यदाह— + पावति खवेऊणं, कम्माइ अहापवसकरणेणं।
उवलनाएण कहमवि, अभिक्खपुहं तओ गंठि ॥ १ ॥ तं गिरिवरं व भित्तुं, अपुव्वकरणुग्गवज्जधाराए । अंतोमुहुत्तकालं, गंतुं अनि-
यट्टिकरणंमि ॥ २ ॥ पइसमयं सुज्झंतो, खविउं कम्माइं तत्थ बहुयाइं । पिच्छत्तंमि उइभे, खीणे अणुअंमि उवसंते ॥ ३ ॥ संसार-

+ क्षितित्वाभाविक्रामनं स्याणूसरणं ततः समुत्पन्नम् । स्थानं स्याणुशिरसि वा, अपसरणं वा पिपीलिकानाम् ॥१॥ क्षितिगमनवत् प्रथमं,
स्याणूसरणं करणमपूर्वम् । उत्पन्नवत् ततः जीवानां करणमनिवृत्तिः । २। स्याणुवत् ग्रन्थिदेशो, ग्रन्थिकमत्त्वस्य तत्रावस्थानम् । अवनरणमिव ततः
पुनरपि कर्मस्थितिविवृद्धिः । ३। - प्राप्नोति क्षपयित्वा कर्माणि यथाप्रवृत्तिकरणेन । उपलब्धतेन कथमपि अभिन्नपूर्वततो ग्रन्थिम् । १। त गिरि-
वरमिव भित्त्वा, अपूर्वकरणोपवज्जधारया । अन्तर्मुहूर्त्तकालं, गत्वाऽनिवृत्तिकरणे । २। प्रतिसमयं शुध्यन् क्षपयित्वा कर्माणि तत्र बहुकानि । मिध्यात्व
उदीर्णं क्षीणेऽनुदीर्णं उपशान्ते । ३। संसारग्रन्थिपतसत्ततो गोशीर्षचन्दनरसवत् । अतिपरमनिर्वृत्तिकरं, तस्यान्ते लभते सम्यक्त्वम् । ४।

गिम्हतविओ, ततो गोसीसचंदणरसुह । अहपरमनिचुइकरं, तस्संते लहइ सम्पत्तं ॥ ४ ॥ अन्यच्च—*अप्पुत्तकयतिपुंजो, मिच्छसुइण्णं खन्निनु अणुइण्णं । उवमापिय अनियट्ठी—रुणउ परं खओवसमी ॥ १ ॥ ततोऽसौ क्षायोपशमिकी दृष्टिः समुत्पन्ना सती जीवानां 'नरामरसंपदे' देवमानवद्वये 'स्याद्' भवेत्, तथाऽपूर्वकरणेनैव कृतत्रिपुञ्जस्य जीवस्य चतुर्थगुणस्थानादारभ्य क्षपकत्वे प्रारब्धेऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य पिथ्वात्वमिश्रसम्यक्त्वरूपपुञ्जत्रयस्य च क्षये क्षायिकं सम्यक्त्वं भवति, ततोऽसौ क्षायिकीदृष्टिम्तु पुनरबन्धायुष्कस्य तत्रैव 'भवे' । 'द्युक्तये' भोक्षाय स्यात्, वद्वायुष्कस्य तु जीवस्य तृतीये भवे असंख्यातजीविनां प्रायोग्यबन्धा-युष्कस्य चतुर्थे भवे द्युक्तये स्यात्, तथा चाह—*मिच्छाइत्तए खइओ, सो सत्तगि खीणि ठाइ यन्नाऊ । चउत्तिभवभाविमुक्खो, तन्नवसिद्धी अ इअरो अ ॥ १ ॥ ॥ २२ ॥ अथाविरतगुणस्थानवर्तिनो जीवस्य कृत्यमाह—

देवे गुरो च सद्धे च, सन्नक्तिं शासनोच्चतित्म् । अवतोऽपि करोत्येव, स्थितस्तुर्ये गुणालये ॥ २३ ॥

व्याख्या—'तुर्ये' चतुर्थे 'गुणालये' गुणस्थाने अविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणे वर्त्तमानो जीवः 'अवतो' व्रतनियमरहितो 'देवे' देवविषये, 'गुरो' गुरुविषये, 'सद्धे' सद्धैविषये 'सन्नक्ति' पूजाप्रणतिवात्सल्यादिरूपां, करोति, तथा 'शासनोच्चति'

* अपूर्वकृतत्रिपुञ्जो मिथ्यात्वमुदीर्ण क्षपयित्वा अतुदीर्णम् । उपशमय्य अनिवृत्तिकरणत पर क्षयोपशमी । १ ।

× मिथ्यात्वाद्दौ क्षीणे क्षायिकं स सप्तके क्षीणे तिष्ठति वद्वायुष्क । चतुस्त्रिभवाविमोक्षान्तद्रवसिद्धिश्च इतरश्च । १ ।

१ ० रहिनोऽपि प्र० २ श्रीसङ्गविषये प्र०

शासनप्रभावनां, करोत्येव, प्रभावकश्रावकत्वात्, यदाह—'जो अविरओऽवि संघे, भक्तिं तित्थुण्णइं सया कुणइं ॥ अविरयसम्मद्विटी, पभावगो सावगो सोवि ॥ १ ॥ तथाऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानस्यो जीवस्तीर्थकृदायुर्द्विकस्य वन्धात् सप्तसप्ततेर्वन्धकः, तथा मिश्रोदयव्यवच्छेदादानपूर्वाचतुष्कसम्यक्त्वोदयाच्च चतुरत्तरशतस्य वेदयिता अष्टत्रिंशदैधिकशतसत्ताको भवति, उपशमकस्तु चतुर्था-देकादशान्तं सर्वत्राष्टाचत्वारिंशदधिकशतसत्ताको लभ्यते, क्षपकस्य तु सत्ता प्रतिगुणस्थानं दर्शयिष्यते ॥ २३ ॥ इत्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं चतुर्थम् ॥ अथ पञ्चमगुणस्थानस्वरूपमाह—

प्रत्याख्यानोदयाद्देशविरतिर्यत्र जायते । तच्छ्राद्धत्वं हि देशोनपूर्वकोटिगुरुस्थिति ॥ २४ ॥

व्याख्या—जीवस्य सम्यक्त्वावबोधजनितवैराग्योपचयात्सर्वविरतिवाञ्छां कुर्वतोऽपि सर्वविगतिघातकप्रत्याख्यानाव-रणाख्यकषायाणामुदयात्सर्वविरतिप्रतिपत्तिशक्तिर्न समुत्पद्यते, किंतु जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपा देशविरतिरेव जायते, तत्र जघन्या विर-तिराशुद्धिस्थूलहिंसादित्यागन्धमांसादिपरिहारात्परमेष्ठिनमस्फुटितस्मृतिनियममात्रंधारणात्, यदाह—*आउट्थिल्लहिंसाहमज्जमंसाइ-चायओ । जहन्तो सावओ होइ, जो नमुक्कारधारओ ॥ १ ॥ तथा मध्यमा विरतिरशुद्धादिभिर्न्यायसंपन्नविभव इत्यादिभिर्वा

† योऽविरतोऽपि सद्धे भक्तिं तीर्थोच्चतिं सदा करोति । अविरतिसम्यग्दृष्टि प्रभावक श्रावक-सोऽपि । १ ।

१ काल प्र० २ सुरनारकतिर्यगायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कदर्शनमोहत्रिकाविनाशात् (चरमशरीरिणमाश्रित्य क्षायिकसम्यक्त्ववन्तन्)

३ ० रतिर्यायते प्र० ४ नेदम् प्र० * आकुट्टीमूलहिंसादिमधमासादित्यागात् । जघन्य- श्रावको भवति, यो नमस्कारधारक ॥ १ ॥

धर्मयोग्यतागुणैराकार्णरय गृहस्थोचितषड्कर्मनिरतस्य द्वादशव्रतपालकस्य सदाचारस्य भवति, यदाह—*धम्मजुग्गुणाइण्णो, छक्कम्मो वारत्तवओ । गिहत्थो य सयायारो, सावओ होइ मच्चिमो ॥ १ ॥ तथोत्कृष्टा विरतिः सच्चित्तहारवर्णकस्य सर्वैव कृतैक-भक्तस्यानिर्धर्मब्रह्मव्रतपालकस्य मराव्रताङ्गीकारस्पृहवाल्लतया त्यक्तगृहद्वन्द्वस्य श्रमणोपासकस्य भवति, यदाह—'उक्कोसेण तु सद्धोउ, सच्चित्तहारवज्जओ । एगासणगभोई अ, वंभयारी तहेव य ॥ १ ॥ इत्येवंविधा त्रिविधाऽपि देशविरतिरेव यत्र भवति 'हि' स्फुटं तत् 'श्राद्धत्वं' श्रावकत्वं स्यात्, तत्कथंभूतं ? देशोना पूर्वकोटिर्गुर्वी स्थितिर्यत्र तत् देशोनपूर्वकोटिगुरुस्थिति, यद्भाष्यम्—* छावलियं सासायण समहिअतित्तीससागर चउत्थ । देसूणपुव्वकोही, पंचमगं तेरसं च पुणो । १ । ॥ २४ ॥ अथ देशविरतौ ध्यानसंभवमाह—

आर्त्तं रौद्रं भवेदन्न, मन्दं धर्म्यं तु मध्यमम् । षट्कर्मप्रतिश्राद्ध-व्रतपालनसंभवम् ॥ २५ ॥

व्याख्या—'अन्न' देशविरतिगुणस्थानके अनिष्टयोगार्त्तं, इष्टवियोगार्त्तं, रोगार्त्तं, निवृत्तार्त्तमिति चतुष्पादमार्त्तस्थानं, रौद्रध्यानं च हिंसानन्दरौद्रं, मृषावादानन्दरौद्रं, चौर्यानन्दरौद्रं, संरक्षणानन्दरौद्रं चेति चतुष्पादं रौद्रध्यानं च मन्दं भवति, कोऽर्थः? यथा यथा देशविरतिरधिकाऽधिकतरा च भवति, तथा तथाऽऽर्त्तौ रौद्रध्याने मन्दे मन्दतरे च स्यातां, तु पुनर्धर्मध्यानं यथा यथा

× धर्मयोग्यगुणाकीर्णं षट्कर्मा द्वादशव्रत । गृहस्थश्च सदाचार श्रावको भवति मध्यम ११ । १ धर्म० प्र० २ अनिष्टव्रत० प्र०

† उत्कृष्टेन तु श्राद्धस्तु सच्चित्तहारवर्णक । एकासनकभोजी च ब्रह्मचारी तथैव च ॥ १ ॥ ३ ० रतिर्यत्र प्र०

* षडावली सास्वादनं समधिकत्रयस्त्रिंशत्सागराणि चतुर्थम् । देशोनपूर्वकोटी पञ्चमक त्रयोदश च पुन ११ । ४ धर्म्यं प्र०

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

देशविरतिरधिकाऽधिका स्यात्तथा तथा मध्यमं यात्रदधिकाधिकं भवति, नतूच्छं धर्मध्यानं स्यादित्यर्थः, यदि पुनस्तत्राप्युच्छं धर्मध्यानं परिणमति, तदा भावतः सर्वविरतिरेव संजायते, कथंभूतं धर्मध्यानं ? 'षट्कर्मप्रतिमाश्राद्धव्रतपालनसंभवं' षट्कर्माणि देवपूजादीनि, यदुच्यते—देवपूजा गुरुपास्तः, स्वाध्यायः सयमस्तपः । दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥ प्रतिमा अभिग्रहत्रिगोषा दर्शनप्रतिमाया एकादश, यदाह—† दंसणवयंसामादुअपोसहंपडियो अर्धधर्मसधित्ते । आरंभपेसेउहिदं वज्जए समणभूअ ॥ १ ॥ श्राद्धव्रतान्यणुव्रतादीनि द्वादश, यदाह—* पाणिवहंसुसावारे, अदत्तैमेहुणंपरिग्गहे' चेव । दिस्सिभोगंदई-समईभे देये' पोसई तह विभागे' ॥ १ ॥ षट्कर्मादिविस्तरो ग्रन्थान्तरादवमेयः, तथैतेषां पालनात्संभवतीति षट्कर्मप्रतिमा-श्राद्धव्रतपालनसंभवं धर्मध्यानं मध्यममिति । तथा देशविरतिगुणस्थानस्थो जीवोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्कनरत्रिकाद्यसंहननौदारिकद्वयरूपप्रकृतिदशकवन्धव्यवच्छेदात्सप्तपट्टेर्वन्धकः, तथाऽप्रत्याख्यानकषायनरतिर्यगानुपूर्वीद्वयनरकत्रिकदेवत्रिकवैक्रियद्वयदुर्भगाना-देयायशोरूपसप्तदशमकृतीनामुदयव्यवच्छेदात्सप्ताशोतेर्वेदयिता, अष्टत्रिंशदधिकशतसत्ताको भवति ॥ २५ ॥ इति देशविरतिगुणस्थानकं पञ्चमम् ॥ अथातः परं सप्तगुणस्थानानां समानामेव स्थितिमाह—

अतः परं प्रमत्तादिगुणस्थानकसप्तके । अन्तर्मुहूर्त्तमेकैकं, प्रत्येकं गदिता स्थितिः ॥ २६ ॥

† दर्शनव्रतसामायिकगोपधप्रतिमाऽत्रसप्तसञ्चितानि । आरम्भपैपोद्विष्टवर्जकः श्रमणभूतश्च ॥ १ ॥

* प्राणिवधमृषावादादत्तमेधुनपरिग्रहाश्चैव । दिग्भोगदण्डसामायिकदेशोपधानि तथा विभागः ॥ १ ॥ १ ० ट्टिक० प्र०

व्याख्या—'अतः परं' देशविरतिगुणस्थानादनन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिदृष्टिर्बादरसूक्ष्मसपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहा-रूपसप्तगुणस्थानानां प्रत्येकमेकैकमन्तर्मुहूर्त्तं गुरुस्थितिर्गदिता-प्रोक्तेति ॥ २६ ॥ अथ प्रमत्तसंयतगुणस्थानकस्वरूपमाह—

कषायाणां चतुर्थानां, व्रती तीव्रोदये सति । भवेत्प्रमादयुक्तत्वात्प्रमत्तस्थानगो मुनिः ॥ २७ ॥

व्याख्या—'मुनि' सर्वविरतिः साधुः 'प्रमत्तस्थानगो भवेत्,' प्रमत्ताख्यस्थानकस्थो भवति, कथंभूतो मुनिः ? 'व्रती' व्रतान्यहिसादीनि महाव्रतानि विद्यन्ते यस्यासौ व्रती, कस्मात्प्रमत्तः ? 'प्रमादयुक्तत्वात्,' तत्र प्रमादाः पञ्च, यदाह—* मज्ज तिसय कसाया, निहा त्रिगहा य पंचमी भणिया । एण पच पमाया, जीवं पाडति संसारे ॥ १ ॥ इत्येतैः प्रमादैर्युक्तत्वात्, नव सति ? 'चतुर्थानां कषायाणां' संज्वलनाख्यकषायाणां तीव्रोदये सति, अयमर्थः—यदा मुनेर्महाव्रतिनोऽपि संज्वलनकषायै-स्तीव्रो भवति, तदाऽवश्यमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावन्सप्रमादत्वात् प्रमत्त एव भवति, यदा अन्तर्मुहूर्त्तादुपरि सप्रमादो भवति तदा प्रमत्त-गुणस्थानादधस्तात्पतति, यदा त्वन्तर्मुहूर्त्ताद्दुर्ध्वमपि प्रमादरहितो भवति, तदा पुनरपि अप्रमत्तगुणस्थानमारोहतीति ॥ २७ ॥ अथ प्रमत्तसंयतगुणस्थाने ध्यानसंभवमाह—

अस्तित्वाद्भोक्तषायाणामत्रार्त्तस्यैव मुख्यता । आज्ञाद्यालम्बनोपेतधर्मध्यानस्य गौणता ॥ २८ ॥

* मद्य विषया कषाया निद्रा विरुथा च पञ्चमी भणिता । एते पञ्च प्रमादा जीव पातयन्ति संसारे ॥ १ ॥

१ ० चिन्तनगत० प्र० २ ० कषायोदय०

व्याख्या—'अत्र' प्रमत्तगुणस्थानके 'मुख्यता' मुख्यत्वं 'आर्त्तस्य' ध्यानस्पर्शोपलक्षणत्वाद्गोद्वयस्यापि, कस्मात् ? 'नोकषायाणां' हास्यषट्कादीना 'अस्तित्वाद्' विद्यमानत्वात्, तथा 'आज्ञाद्यालम्बनोपेतधर्मध्यानस्य गौणता' आज्ञादी-न्याज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणान्यालम्बनानि आज्ञाद्यालम्बनानि तैरुपेतं च तद्धर्मध्यानं चाज्ञाद्यालम्बनोपेतधर्मध्यानं तस्य, अत्र धर्मध्यानमपि चतुष्पादं यथा—आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात् । इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ १ ॥ आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य, सर्वज्ञानामवाधिताम् । तच्चतश्चिन्तयेदर्थान्, तदाज्ञाध्यानमुच्यते ॥ २ ॥ रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत् । यत्रापायास्तदपायविचयध्यानमुच्यते ॥ ३ ॥ प्रतिक्षणं समुद्भूतो, यत्र कर्मफलोदयः । चिन्त्यते चित्ररूपः स, विपाकविचयो मतः ॥ ४ ॥ अनाद्यन्तस्य लोकस्य, स्थित्युत्पादव्ययात्मनः । आकृतिं चिन्तयेद्यत्र, संस्थानविचयः स तु ॥ ५ ॥ इत्याज्ञाद्यालम्बनोपेतधर्मध्यानस्य गौणता अत्र प्रमादत्वादुच्यते इति ॥ २८ ॥ अथ ये प्रमत्तस्था निरालम्बनमपि धर्मध्यानं समी-हन्ते, तान् प्रति तन्निषेधमाह—

यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति । धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥ २९ ॥

व्याख्या—'जिनभास्करा' जिनसूर्या 'इत्युचुः' इत्येतेदेव कथयन्ति स्म, किं तदित्यहं—यः साधुर्यावत्प्रमादसंयुक्तो भवति, तावत्तस्य साधोगोचरे निरालम्बं ध्यानं न तिष्ठतीति निश्चयः, यतोऽत्र प्रमत्तगुणस्थाने मध्यमधर्मध्यानस्यापि गौणत्वोक्ता,

१ विचिन्तनगत ० २ ० त्वान्न मुख्यतेति प्र० ३ इतीति किम् १-प्र०

न तु मुख्यता, ततोऽत्र निरालम्बनोक्तृधर्मध्यानम्यासंभवं एव ॥ २९ ॥ अथ योऽष्टमेवार्थं न मन्यते तं प्रत्याह—

प्रमादावश्यकत्यागाद्विश्रलं ध्यानमाश्रयेत् । योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ॥३०॥

व्याख्या—‘यः’ साधुः ‘प्रमादी’ प्रमादयुक्तोऽपि ‘आवश्यकत्यागात्’ सामायिकादिपटावश्यकता यत्कानुष्ठानपरिहारात् ‘निश्रलं’ निरालम्बं ध्यानमाश्रयेत्, ‘असौ’ साधुः ‘मिथ्यात्वमोहितो’ मिथ्याभावमूढः सन् ‘जैनागम’ श्रीमर्वज्रमणीत-
सूत्रं, नैव वेत्तीति, यतोऽसौ व्यवहार न करोति निश्रयं नाप्नोति, जिनागमविद्विस्तु व्यवहारपूर्वक एव निश्रयः साध्यः, यदागमः—
+ जइ जिनमयं पयज्जइ, ता मा ववहारनिच्छए सुअइ । ववहारनउच्छेए, तित्तुच्छेओ अओ भणिओ ॥ १ ॥ इष्टान्तश्चान्न—यथा
कश्चित्पुरुषः स्वस्मिन् गृहे सदैव कदन्नमात्रमास्नादयन् केनापि निमन्त्रितस्तस्य गृहेऽभुक्तोऽपि मिष्टान्नाहारं मुक्तवान्, ततोऽस्मात् तदा-
स्वादरसलोलुपतया स्वगृहकदम्बं निरास्वादमिति कृत्या न भुङ्क्ते, तमेवातिदुष्प्रापं मिष्टान्नेवाभिलषति, ततः स्वगृहे कदन्नादिकमभुञ्जन्
मिष्टान् चामानुवञ्चुभयाभावनया सीदति, तथाऽयमपि कदाग्रहगृहीतो जीवः प्रमत्तगुणस्थानसाध्य स्थूलमात्रपुण्यपुष्टिकारणं पटा-
वश्यकादिकप्रक्रियाकर्माकुर्वाणः कदाचित् अप्रमत्तगुणस्थानलभ्यं निर्विकल्पमनोजनितसमाधिरूपनिरालम्बध्यानाशममृताहारकल्पं
लब्धवान्, ततस्तज्जनितपरमानन्दसुखास्वादतया प्रमत्तगुणस्थानगतं पटावश्यकतादिकप्रक्रियाकर्म कदम्बकल्प मन्वानो न सम्पद्यक

१ संभवात् प्र० + यदि जिनमत प्रपथेयास्तन् मा व्यवहारनिश्रयो मुच । व्यवहारनयोच्छेदे तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यम् ॥ १ ॥

२ अमुद्भूक्त अपूर्वमिष्टान्नाहारं प्र० ३ ततस्तदा० प्र० ४ ०द्विकप्रक्रियामकु० प्र०

साधयति, मिष्टान्नाहारकल्पं निरालम्बध्यानं तु प्रथमसंहरनार्थं भावाभित्यं नाप्नोति, ततः पटावश्यकमकुर्वन् निरालम्बध्यानमप्राप्तु-
वंश्च स कदाग्रहगृहीतो जीयोऽप्युभयभ्रष्टतया ध्रुवं सीदति, तथा चाप्रेतनैर्विद्वद्भिः परमसंवेगागिरिशिखरमारूढैर्निरालम्बध्यान-
साधनमनोरथा एव कृताः श्रूयन्ते, तथा च पूर्वमहर्षयः—वेतोदृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वैसं, तत्संहत्य गतागतं च मरुतो
धैर्यं समाश्रित्य च । पर्यङ्गेन मया शिवाय विधिवन्नुन्यैरुभूद्वरीमध्यस्थेन कदाचिदपि तदृशा स्यातव्यमन्तर्मुखम् ॥ १ ॥ चित्ते
निश्रलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामदे, विद्राणेऽक्षकुण्डम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमाम्भके । आनन्दं प्रविजृम्भते जिनपते ज्ञाने
समुन्मीलिते, मां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमथितः शस्ताशैयाः श्वापदाः ? ॥ २ ॥ तथा श्रीसूरप्रभाचार्याः—चिदावदार्तैर्भ्रवदागमानां,
वाग्भेषजै रागरुजं निवर्ष्य । मया कदा प्रौढसमाधिलक्ष्मीनिर्वर्त्यते निर्वृतिनिर्विषक्षा ॥ १ ॥ रागादिहव्यानि मुहुर्लिहाने, ध्यानानले
साक्षिणि केवलश्रीः । कलत्रतामेप्यति मे कदैवा, वपुर्व्यपायेऽप्यनुयायिनी या ॥ २ ॥ तथा श्रीहेमचन्द्रसूरयः—वने
पद्मासनासीनं, क्रोडस्थितमृगार्भकम् । कदा प्रास्यन्ति वक्त्रे मां, जरन्तो मृगयूथपाः ॥ १ ॥ शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रणे,
स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि । मोक्षे भवे भविष्यामि, निर्विशेषमतिः कदा ? ॥ २ ॥ तथा मन्त्री वस्तुपालः—संसारव्यव-
हारतोऽरतमतिर्व्यावृत्तैर्कृतेव्यतावार्तामप्यपहाय चिन्मयतया त्रैलोक्यमालोकयन् । श्रीशत्रुञ्जयशैलगह्वरसुहामध्ये निवद्धस्थितिः,
श्रीनाभेय ! कदा लभेय गलितज्ञेयाभिमानं मनः ॥ १ ॥ स्वामिन् ! रैवतकाद्रिसुन्दरदरीकोणमणीतासनः, प्रत्याहारमनोहरं

१ ०ध्यानाश च प्र० २ ०नाभा० प्र० ३ ०योद्धस प्र० ४ ०क्षरुदम्बके प्र० ५ रक्षन्ति प्र० ६ दुष्टाशया प्र० ७ निरी-
क्ष्यते प्र० ८ ०निर्व्यपेक्षम् प्र० ९ ०व्यावृत्त० प्र०

मुकुलयन् कलोललोलं मनः । त्वां चन्द्रशुभ्रमराचिमण्डलरुचिं साक्षादेवालोकयन्, सपद्येयकदा चिदात्मकपरानन्दोर्मिसंघर्मितम् ॥२॥
तथा परसमयेऽपि भर्तृहरिः—गङ्गातीरे हिमगिरिशिलावद्धपद्मासनस्य, ब्रह्मज्ञानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य । किं तैर्भाव्यं मम
सुद्विषसैर्यत्र ते निर्विशङ्का, संप्रास्यन्ते जरठहरिणाः शङ्करण्डविनोदम् ॥१॥ त्रितीर्णे सर्वस्वं तरुणकरुणापूर्णहृदयाः, स्मरन्तः
संसारे विगुणपरिणामाचधिगतिम् । कदा पुण्येऽरण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणां, त्रियामां नेष्यामो गुरुगदिततत्रैकशरणाः ॥ २ ॥
तदेवं स्वसमयपरसमयप्रसिद्धैः पूर्वापुरैः परान्मतत्रसवित्तिमनोरथा एव कृता, मनोरथाश्च लोके दुष्प्राप्यवस्तुन एव क्रियन्ते.
नतु सुप्राप्यस्य, न खलु कोऽपि सदैव मिष्टान्नाहार भुञ्जन् मिष्टान्नाहारमनोरथान् कुरुते, न च कश्चित्प्राज्यं साम्राज्यमनुभव-
न्नपि कदाऽहं राजा भविष्यामीति चिन्तयति, तस्मात्सर्वप्रकारेण प्रमत्तान्तगुणस्थानस्थैर्विवेकिभिः परमसंवेगारूढैः प्राप्तप्रौढप्रम-
त्तगुणस्थानस्थै वशतोऽपि श्रुद्धपरमात्मतत्त्वसवित्तिमनोरथाः कार्यः, न तु षट्कर्मपटावश्यकतादिव्यवहारक्रियाकर्मपरिहारः कार्यः,
यतः—योगिनः समतामेता, प्राप्य कल्पलतामिव । सदाचारमयीमस्यां, वृत्तिमातन्वतां बहिः ॥ १ ॥ ये तु योगग्रहग्रस्ताः,
सदाचारपराद्भुक्ताः । एवं नेपां न योगोऽपि, न लोकोऽपि जटात्मनाम् ॥ २ ॥ इति ॥ ३० ॥ तस्माद्यत्करणीयं तदाह—

तस्मादावश्यकैः कुर्यात्, प्राप्तदोषनिवृत्तनम् । यावज्जाप्नोति सद्धान्भ्रममत्तगुणाश्रितम् ॥३॥

व्याख्या—‘तस्मात्’ पूर्वोक्तहेतुकारणात्साधुस्तावत् ‘प्राप्तदोषनिवृत्तनं’ दैवसिकाद्यासेवितातिचारच्छेदनं ‘आवश्यकैः’

१ चण्डाशु० प्र० २ स्वगुण० प्र० ३ दर्शवशतोऽपि प्र० ४ हेतुत्वात् प्र० (हेतो)

श्रीगुणस्थानरुमारोहः

सामायिकादिभिरेव 'कुर्यात्' करोतु, 'यावत्प्रमत्तगुणाश्रितं' अप्रमत्तगुणस्थानसाध्यं 'सद्धानं' निरालम्बध्यानं 'नाप्नोति' नासादयतीत्यर्थः, तथा तिर्यग्गतितिर्यगायुर्नाचैर्गोत्रोद्योतप्रत्याख्यानरूपाष्टप्रकृत्युदयव्यवच्छेदाहारकद्वयोदयाच्चैकार्शितेर्वेदयिता अष्ट-
त्रिंशदधिकशतसत्ताको भवति ॥ ३१ ॥ इति प्रमत्तगुणस्थानकं षष्ठम् । अथाप्रमत्तगुणस्थानमाह—

चतुर्थानां कपायाणां, जाते मन्दोदये सति । भवेत्प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥ ३२ ॥

व्याख्या—महाव्रतानि विद्यन्ते यस्यासौ महाव्रती साधुः, 'अप्रमत्तो' अप्रमत्तगुणस्थानस्थो भवति, कस्मात् ? 'प्रमा-
दहीनत्वात्' पूर्वोक्तप्रकारप्रमादरहित्वान्, क सति ? 'मन्दोदये जाते सति' मन्दोऽतीवत्रिपाक उदयोऽस्तित्वमात्रलक्षणो
यत्रासौ मन्दोदयस्तस्मिन्मन्दोदये, केषां ? 'चतुर्थानां कपायाणां' संज्वलनाभिधानक्रोधादीनामुपलक्षणत्वान्नोकपायाणां च,
अयमर्थः—संज्वलनकपायाणां नोकपायाणां च यथा यथा मन्दोदयो भवति, तथा तथा साधुरप्रमत्तो भवति, यदाह—यथा
यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ १ ॥ यथा यथा समायाति, संवित्तौ
तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥ २ ॥ ३२ ॥ अथ यथाऽप्रमत्तस्थ एव मोहनीयकर्मोपशमक्षपण-
निपुणः सद्धानारम्भकत्वं कुरुते, तथा श्लोकद्वयेनाह—

नष्टाशेषप्रमादात्मा, व्रतशीलगुणान्वितः । ज्ञानध्यानधनो मौनी, शमनक्षपणोन्मुखः ॥ ३३ ॥

सप्तकोत्तरमोहस्य, प्रशमाय क्षयाय वा । सद्धानसाधनारम्भं, कुरुते मुनिपुङ्गवः ॥ ३४ ॥ युग्मम्

व्याख्या—नष्टाशेषप्रमादो—निर्द्धातिताखिलप्रमादः अत्मा—जीवो यस्यासौ नष्टाशेषप्रमादात्मा, व्रतानि—महाव्रतार्दाब्धि,
शीलगुणा—अष्टादशसहस्रशीलाङ्गलक्षणास्तैरन्वितः सयुक्तो व्रतशीलगुणान्वितः, ज्ञानं—सदागमाभ्यासलक्षणं, ध्यानम्—एकाग्रतास्यं
तद्, ज्ञानं च ध्यानं च धनं सर्वस्वं यस्यासौ ज्ञानध्यानधनः, अत एव 'मौनी' मौनवान्, यतो मौनवानेव ध्यानधनः स्यात्,
यदाह—तत्र मनोगृहीताखिल—कालत्रयगतजगन्नयव्याप्तिः । यत्रास्तमेति सहसा, सकलोऽपि हि वारूपरिस्पन्दः ॥ १ ॥ ततो
ज्ञानध्यानधनो मौनी 'शमनाय' शमनार्थं, 'क्षपणाय' क्षपणार्थं वा 'उन्मुखः' संमुखः कृतोद्यम इत्यर्थः, शमनक्षपणोन्मुखः,
एवंविधो मुनिपुङ्गवः, 'सप्तकोत्तरमोहस्य' पूर्वोक्तसप्तैकातिरिक्तैकविंशतिप्रकृतिरूपस्य मोहनीयस्य शमनोन्मुखः प्रशमाय क्षपणो-
न्मुखः क्षयाय वा 'सद्धानसाधनारम्भं' निरालम्बध्यानप्रवेशप्रारम्भं कुरुते, निरालम्बे ध्यानप्रवेशे हि योगिनस्त्रिविधा भवन्ति—
यथा प्रारम्भकाः, तच्चिष्टाः, निष्पन्नयोगाश्च, यदाह—सम्यग्मैसर्गिकी वा विरतिपरिणति प्राप्य सांसर्गिकी वा, क्वाप्येकान्ते निविष्टाः
कपिचपलचलन्मानसस्तम्भनाय । शश्वन्नासाग्रपालीघनघटितदृशो धीरवीरासनस्था, ये निष्कम्पाः समाधेर्विदधति विधिनारम्भमारम्भ-
कास्ते ॥ १ ॥ कुर्वाणो मरुदासनेन्द्रियमनःशुचर्षनिद्राजयं, योऽन्तर्जल्पनिरूपणाभिरसकृत्तत्त्वं समभ्यस्यति । सत्त्वान्मामुपरि प्रमोद-
करुणामैत्रीर्षुं मन्यते, ध्यानाप्रिष्टितचेष्टयाऽभ्युदयते तस्येह तन्निष्ठता ॥ २ ॥ उपरतवाहिरन्तर्जल्पकल्लोलमाले, लसद्दयिकलविद्याप-
धिनीपूर्णमध्ये । सततममृतमन्तर्मानसे यस्य हंसः, पिवति निरुपलेपः स्यात्तुं निष्पन्नयोगी ॥ ३ ॥ ३४ ॥ अथाप्रमत्तगुणस्थाने
ध्यानसंभवमाह—

१ तनमत प्र० २ व्याप्तिम् प्र० ३ सत् प्र० ४ ० सम्यक्तमिश्रमित्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणसप्तकव्यतिरिक्ते० प्र० ५ निष्पाणा प्र० ६ सोऽत्र प्र०

धर्मध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम् । रूपातीततया शुक्लमपि स्यादशमात्रतः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—'जिनोदित' जिनमणीतं 'धर्मध्यानं' मैत्र्यादिभेदभिन्नमनेकविधं, यदाह—मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेदं, यदाऽऽज्ञादि-
चतुर्विधम् । पिण्डस्थौदि चतुर्धा वा, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥ तत्र—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि नियोजयेत् । धर्मध्या-
नमुपस्कृत्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥ ३ ॥ आज्ञापापविपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात् । इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम्
॥ ३ ॥ इति पूर्वमेव प्रैर्दशितं—स्यात्पिण्डस्थं ध्यानमात्माङ्गसङ्घि, स्वान्तं स्वान्तव्याप्यरूपं पदस्थम् । रूपस्थं संकल्पितात्मस्वरूपं,
रूपातीतं कल्पनामुक्तमेव ॥ १ ॥ तदेवंविधं जिनोदितं धर्मध्यानं 'अत्र' अप्रमत्तगुणस्थाने 'मुख्यवृत्त्या' प्रधानतया भवति, तथा
रूपातीततया कृत्वा 'शुक्लमपि' शुक्लध्यानमपि 'अंशमात्रत' अत्र गौणतया स्यादेवेति ॥ ३५ ॥ अथावश्यज्ञानामभावेऽपि
शुद्धिमाह—

इत्येतस्मिन् गुणस्थाने, नो सन्त्यावश्यकानि षट् । संतनध्यानसद्योगाच्छुद्धिः स्वाभाविकी यतः ॥ ३६ ॥

व्याख्या—'इतीति' पूर्वोक्तस्वरूपे 'एतस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थाने 'आवश्यकानि' नामायिकादीनि षटपि 'नो
सन्ति' न विद्यन्ते, कोऽर्थः ? सामायिकादीनां पण्णामप्यावश्यकानां व्यवहारक्रियारूपाणामत्र गुणस्थाने निवृत्तिः. तेषां द्वात्मगण

त्वान्. * आया सामाहए, आया सामाहअस्स अट्टे ' इत्याद्यागमवचनादिति, कुतः कारणादावपफानि नो सन्ति ? ' यतो ' यस्मान्काण्णादत्र ' सनतध्यानसद्योगात् ' निरन्तरसद्धानसद्भावत् ' स्वाभाषिकी ' सहजनितैव संकल्पविकल्पमान्नाऽभावादान्यै-
कस्वभावरूपा निर्मलता भवति, अत्र गुणस्थाने वर्तमानो जीवो भारतीयान्नाहनात्परया शुद्धिमाप्नोत्येव, यदाह—* दादोयसमं
तण्हाडडेअणं मलपवाहणं चेव । निहिं अत्थोहिं निउत्तं, तम्हा तं ददओ तित्थं ॥ १ ॥ कोटम्मि उ निग्गहिप, दाहस्सोवसमणं हवइ
तित्थ । लोहंमि उ निग्गहिप, तण्हाए छेअणं जाण ॥ २ ॥ अट्टविहं कम्मरयं, बहुण्णि भवेहं सच्चिअं जम्हा । तत्रमंजमेण
भोअइ, तम्हा तं भावओ तित्थं ॥ ३ ॥ अन्यच्च—रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिने सवृतेऽक्षप्रपञ्चे, नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुप-
गतेऽन्तर्िकलयेन्द्रजाले । भिक्षे मोहान्धकारे प्रसरति महमि कापि विश्वप्रदीपे, धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दभिन्धो
प्रवेशम् ॥ १ ॥ इति । तथाऽप्रमत्तगुणस्थानस्थो जीवः शोकारत्यस्थिराशुभायशोऽस्मात्तव्यवच्छेदादाहारकद्विकवन्धाचैकोनपट्टेर्बन्धको
भवति, तयो न यदि देवायुरपि न घथ्यते, तदाऽष्टपंचाशतो बन्धकः, तथा स्थानद्वित्रिकाहारकद्विकोदयव्यवच्छेदात् षःसप्ततंत्रेण-
यिता, अष्टत्रिंशदधिकशतसत्ताको भवति ॥ ३६ ॥ इत्यप्रमत्तगुणस्थानकं समाप्तम् । अथापूर्वकरणानिवृत्तिचाट्टमृक्षमसंपरायोपशान्त-

* आत्मा सामायिकम् आत्मा सामायिकस्यार्थः ।

× दाहोपशम तृष्णाछेदन मलप्रवाहणं चेव । विभिर्यैर्नियुक्त तस्मात्तद्भावतस्तीर्थम् ॥ १ ॥ क्रोधे तु निगृहीते, दाहस्योपशमनं भवति
तीर्थम् । लोभे तु निगृहीते तृष्णायाच्छेदनं जानीहि ॥ २ ॥ अष्टविधं कर्मरजं बहुकैरपि भवे सचितं यस्मात् । तपस्यमेन क्षालयति, तस्मान्
द्भावतस्तीर्थम् ॥ ३ ॥ १ तथा प्र० २ सप्तमं प्र०

मोहक्षीणमोहाख्यानां पञ्चानामपि गुणस्थानानां नामार्थं प्रथमं सामान्येन श्लोकरूपेणाह—

अपूर्वात्मगुणासित्वात्पूर्वकरणं मतम् । भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदम् ॥ ३७ ॥

अभिनत्वात्सूक्ष्मलोभस्य, भवेत्सूक्ष्मकपायकम् । शमनाच्छान्तमोहं स्यात्, क्षपणात्क्षीणमोहकम् ३८ ॥

व्याख्या—य एवमप्रमत्तसंयतः सप्तमगुणस्थानवर्त्ती दर्शितः, स एव संज्वलनकपायाणां नोकपायाणां वात्यन्त मन्दोदये
सति प्राप्तापूर्वपरमाह्लादैकमयं करण परिणामरूपं यत्र तदपूर्वकरणनाम गुणस्थानमष्टमं मतं, कस्मात्, ? ' अपूर्वात्मगुणासित्वात् '
अपूर्वाणामात्मगुणानामाप्तिः समाप्तिस्त्वस्या भावोऽपूर्वात्मगुणासित्वं तस्मात्, तथा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाहक्षादिसंकल्पविकल्परहित-
निश्चलपरमात्मैकतयैः काग्रध्यानपरिणतिरूपाणां भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदं गुणस्थानं भवति, तच्चानिवृत्तिवादरं यदुच्यते
तदत्र वादराणां कपायाणामपत्याख्यानाद्विद्वादशानां नवानां नोकपायाणां च शमकः शमनाय क्षपकः क्षपणाय प्रगुणो भवतीत्यतः
कारणादनिवृत्तिचाट्टमित्युच्यते, तत्रैव गुणस्थानं, तथा सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनावलेन विंशतिप्रकृतिरूपे मोहे शान्ते क्षीणे वा सूक्ष्म-
खण्डीभूतस्य लोभस्यैकस्योस्तित्वं यत्र तत्सूक्ष्मकपायकं दशमं गुणस्थानं भवति । तथा उपशमकस्यैव परमोपशममूर्त्तः निजसहज-
स्वभावसंविद्भलेन सकलमोहस्य शमनात् उपशान्तमोहं एकादशं गुणस्थानं भवति ११, तथा क्षपकस्यैव क्षपकश्रेणिमार्गेण दशमगु-
णस्थानादेव निष्कपायशुद्धात्मभावनावलेन सकलमोहस्य क्षपणात्क्षीणमोहं द्वादशं गुणस्थानं भवति इति सामान्यार्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

१ - कर्मरजं १० २ नेद १०

अथापूर्वकरणार्थंशादेव श्रेणिहयारोहमाह—

तत्रापूर्वगुणस्थानाद्यांशादेवाधिरोहति । शमको हि शमश्रेणिं, क्षपकः क्षपकावलीम् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—' तत्र ' तस्मिन्पूर्वगुणस्थानारोहसमयेऽपूर्वकरणस्यैवाद्यांशादेव शमकः शमश्रेणिमारोहति, क्षपकः क्षपकावलीं
क्षपकश्रेणिमधिरोहति ॥ ३९ ॥ अथ प्रथममुपशमश्रेण्यारोहयोग्यतामाह—

पूर्वज्ञः शुद्धिमान् युक्तो, ह्याथैः संहननैस्त्रिभिः । संध्यायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वां श्रेणीं शमकः श्रयेत् ॥ ४० ॥

व्याख्या—अत्रोपशमको मुनिराद्यशुक्लांशं शुरुध्यानस्य प्रथमं पादं वक्ष्यमाणलक्षणं संध्यायन् ' स्वां श्रेणीं ' उपशमश्रेणीं
शमकः ' श्रयेत् ' प्रतिपद्येत, कथंभूतः ? ' पूर्वज्ञः ' पूर्वगतश्रुतवरः, ' शुद्धिमान् ' निरतिचारचारित्रः, ' आद्यैस्त्रिभिः संहननैः '
वज्ररूपभनाराचक्रुपभनाराचनाराचलक्षणैर्धुक्तः, एवंविधो मुनिरुपशमश्रेणीं श्रयेदिति ॥ ४० ॥ अथोपशमश्रेण्यारोहस्याल्पायुषो गतिं
दीर्घायुषः कृत्यं चाह—

श्रेण्यारूढः कृते कालेऽहमिन्द्रेण्वेव गच्छति । पुष्टायुस्तूपशान्तान्तं, नयेच्चारित्रमोहनम् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—यो मुनिरल्पायुषोपशमश्रेणिमारोहति, स श्रेण्यारूढः ' काले ' आयुस्तुष्टिलक्षणे कृते सति ' अहमिन्द्रेण्वेव '

सर्वार्थसिद्धादिद्वेषेव प्रयाति, परं वः प्रथमसंहननो भवति, अपरसंहनानामनुचरेषु यमनासंभवात्, यदाह—† छत्रद्वेण उ गम्पड, चतुरो जा कप्प कीलिआईसुं । चउसु दुदुकप्पवुड्डी, पढमेणं जाव सिद्धीवि ॥ १ ॥ तथा यः सप्तलवाधिकायुक्तो मुक्तियोग्यश्च भवति, स एव सर्वार्थसिद्धादौ याति, यदाह—सत्तलवा जइ आउं, पहुप्पमाणं तथो हु सिज्झंता । तत्तिअमितं न हुअं, तत्तो लवसत्तमा जाया ॥ १ ॥ सव्वट्टिसिद्धनामे, उक्कोसठिईसु विजयमाईसुं । एगावसेसगन्भा, हवंति लवसत्तमा देवा ॥ २ ॥ आह— तत्र उपशमश्रेणिकः कथं मुक्तियोग्यः स्यात् ? उच्यते—सप्त लवा मूहूर्त्तस्यैकादशभागरूपा भवन्ति + लव सत्तहत्तरीए, होइ मूहुत्तो ' इति वचनात्, ततो लवसप्तकावशेषायुरेवोपशमकः खण्डश्रेणिक एव पराद्मूखो वलति, सप्तमं गुणस्थानमागत्य पुनः क्षपकश्रेणिमारुह्य सप्तलवान्तरे च क्षीणमोहान्तं गत्वाऽन्तकृत्केवलीभूत्वा मुक्तिं गच्छतीत्यदोषः, तथा यस्तु पुष्टायुरुपशमश्रेणीं प्रतिपद्यते, स चाखण्डश्रेणिकः ' चारित्रमोहनं ' चारित्रमोहनीयं कर्म ' उपशान्तान्तम् ' एकादशगुणस्थानप्रान्तं ' नयेद् ' उपशमं प्रापयेदिति ॥ ४१ ॥ अथोपशमक एवापूर्वादिगुणस्थानकेषु यत्करोति तदाह—

अपूर्वादिद्वयैकैकगुणेषु शमकः क्रमात् । करोति विंशतेः शान्तिं, लोभाणुत्वं च तच्छमम् ॥४२॥

† सेवार्त्तं तु गम्यते चतुरो याक्त् कल्पान् कीलिकादिषु । चतुर्षु द्विद्विकल्पवृद्धिं प्रथमेन यावत्सिद्धिरपि ॥ १ ॥

+ सप्त लवा यदि आयुः प्राभविष्यत् तदाऽसेत्स्यन्नेव । तावन्मात्रं नाभूत् ततो ह्वसप्तमा जाता ॥ १ ॥ सर्वार्थसिद्धनासि (विमाने) उत्कृष्टस्थितिषु विनयादिषु । एकावशेषार्था भवन्ति लवसप्तमा देवा ॥ २ ॥

व्याख्या—शमकः सप्तकोत्तरमोहसंज्वलनलोभवर्जप्रकृतिविंशतेरपूर्वानिष्टचित्तलक्षणे गुणस्थानद्वये ' शान्तिं ' शमनं करोति, ततः क्रमेण सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने सज्वलनलोभस्य सूक्ष्मत्वं करोति, ततः क्रमेणोपशान्तमोहगुणस्थानके ' तच्छमं ' तस्य सूक्ष्मलोभस्य शमं सर्वथोपशमं करोति, तथाऽत्रोपशान्तमोहगुणस्थाने जीव एकमकृतेर्बन्धक एकोनषष्टिप्रकृतिवेदयिता, अष्टचत्वारिंशदधिकशतसत्ताको भवति ॥ ४२ ॥ अथोपशान्तमोहगुणस्थाने यादृशं सम्यक्त्वचारित्रभावलक्षणं त्रयं भवति तदाह—

शान्तदृग्बृत्तमोहत्वादत्रौपशमिकाभिधे । स्यातां सम्यक्त्वचारित्रे, भावश्चोपशमात्मकः ॥४३॥

व्याख्या—' अत्र ' उपशान्तगुणस्थानके दर्शनचारित्रमोहनीयस्योपशमात् सम्यक्त्वचारित्रे औपशमिके एव भवतः तथाऽत्र भावोऽप्युपशमान्मकः, न तु क्षायिकक्षायोपशमिकौ भावविति ॥ ४३ ॥ अथोपशान्तमोहाच्च्यवनमाह—

बृत्तमोहोदयं प्राप्योपशमी च्यवते ततः । अधःकृतमलं तोयं, पुनर्मालिन्यमश्नुते ॥ ४४ ॥

व्याख्या—उपशमी ' वृत्तमोहोदयं ' चारित्रमोहनीयोदयं प्राप्य ' तत ' उपशान्तमोहात् ' च्यवते ' पुनर्मोहजनितप्रमादकालुष्ये पतति, युक्तोऽयमर्थः, यस्मात्कारणात् ' तोयं ' जलं ' अधःकृतमलं ' तलोपविष्टमलत्वादुपरि निर्मलमपि किमपि प्रेग्णानिमित्तं प्राप्य पुनः ' मालिन्यमश्नुते ' मलिनभावं प्राप्नुयादिति, यदाह—† सुअकेवलि आहारग, उज्जुमई उवसंतगाविहु पमाया ।

१ ० स्थानके प्र० २ व्रत० प्र०

† श्रुनकेवलिन आहारका ऋजुमतय उपशान्तका अपिच प्रमादान । हिण्डन्ति भवमनन्ता तदनन्तरमेव चतुर्गतिका ॥ १ ॥

हिंदति भवमणंतं, तयणंतरमेय चउगइआ ॥ ४४ ॥

अथोपशमकानां गुणस्थानकेष्वारोहावरोहावाह—

अपूर्वाद्यास्त्रयोऽप्युद्धर्ध्वमेकं यान्ति शमोद्यताः । चत्वारोऽपि च्युतावाद्यं, सप्तमं वाऽन्त्यदेहिनः ॥४५॥

व्याख्या—' अपूर्वाद्यास्त्रयोऽपि शमोद्यताः ' त्रयोऽप्युपशमका उद्धर्ध्वमारोहमाश्रित्य एकमेव गुणस्थानं यान्ति, कोऽर्थः ? अपूर्वगुणस्थानादनिष्टचित्त्वाद् यान्ति, तद्दर्शनः सूक्ष्मसंपरायं यान्ति, तद्दर्शनश्चोपशान्तमिति, तथाऽपूर्वाद्याश्चत्वारोऽप्युपशमकाः ' च्युतो ' च्यवनविषये ' आद्यं ' मिथ्यात्वगुणस्थानं यान्ति ' वा ' अथवा ' अन्त्यदेहिनः ' चरमशरीराः सप्तमगुणस्थानं यावद्यान्ति, ते च सप्तमात्पुनः क्षपकश्रेणिमारोहन्ति, परमेकवारं कृतोपशमा एव क्षपकत्वं कुर्वन्ति, न तु तत्रैव भवे द्विवेलं कृतोपशमाः, यदाह—* जीवो हु एगजम्ममि इक्कसि उवसामगो । खयंपि कुज्जा नो कुज्जा, दोवारे उवसामगो ॥ १ ॥ ४५ ॥ अथोपशमश्रेणीनां संभवमस्यामाह—

आसंसारं चतुर्वारमेव स्याच्छमनावली । जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते ॥ ४६ ॥

व्याख्या—' शमनावली ' शमश्रेणी ' जीवस्य ' प्राणिन ' आसंसार ' अनादिसान्तं संसारं यावत् ' चतुर्वारं ' वारचतुष्टयमेव स्यात्, सा चोपशमश्रेणिर्जीवस्य ' एकभवे ' एकभवमध्ये ' यदि ' कदाचिज्जायते, तदा चारद्वयं, यदाह—

* जीवशैकजन्मनि एकदा उपशमकः । क्षयमपि कुर्यात् नो कुर्यात् द्विकृत्व उपशमकः ॥ १ ॥

† उवसमसेणिवचकं, जायद् जीवस्त आभवं नृणं । सा पुण दो एगमे, खडगस्सेणी पुणो एगा ॥ १ ॥ उपशमश्रेणिस्यापना
वेयं— * अणदंसनपुसित्थी, वेअल्लकं च पुरिसवेयं च । दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवममेड ॥ १ ॥ अयंख्य०
सं० संख्य० अ० प्र० लोभ २ सं० माया १ अ० प्र० माया २ सं० मान १ अ० प्र० मान २ सं० क्रो० १ अ० प्र०
क्रो० २ पुरु० १ हास्यादि० ६ स्त्री० १ नपुं० १ दर्शन० ३ अनन्ता० ४ ॥४६॥ इत्युपशमश्रेणिः । अथ क्षपकश्रेणिलक्षणमाह—

अतो वक्ष्ये समासेन, क्षपकश्रेणिलक्षणम् । योगी कर्मक्षयं कर्तुं, यासारुह्य प्रवर्तते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अतः परं 'समासेन' संक्षेपेण तस्याः क्षपकश्रेणिलक्षणं वक्ष्ये, यां क्षपकश्रेणीं समाह्वय 'योगी' क्षपको मृनिः
कर्मक्षयं कर्तुं प्रवर्तते ॥ ४७ ॥ अथाष्टमगुणस्थानादर्वाक् याः कर्मप्रकृतीः क्षपकः क्षपयति ता श्लोकत्रयेणाह—

अनिचन्द्रायुषः प्रान्त्यदेहिनो लघुकर्मणः । असंयतगुणस्थाने, नरकायुः क्षयं व्रजेत् ॥४८॥ तिर्यगायुः
क्षयं याति, गुणस्थाने तु पञ्चमे । सप्तमे त्रिदशायुश्च, दृग्मोहस्यापि सप्तकम् ॥४९॥ दशैताः प्रकृतीः
साधुः, क्षयं नीत्वा विशुद्धधीः । धर्मध्याने कृताभ्यासः, प्राप्नोति स्थानमष्टमम् ॥५०॥ त्रिभिर्विशेषकम् ५०॥

† उपशमश्रेणिवचकं जायते जीवस्याभव नृत्न । सा पुनर्द्वे एकमे, क्षपकश्रेणि पुनरेका ॥ १ ॥

* अणदर्शनपुसकखीवेद (हास्यादि) पदं च पुरुषवेद च । द्वो द्वौ (अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानी) एकन्तरिती (सञ्जलान्तरिती)
सदशे सदशं (क्रोधमानमायालोभान्) उपशमयति ॥ १ ॥ १ श्रेण्या ल० प्र०

व्याख्या—'प्रान्त्यदेहिनः' चरमशरीरस्य 'अचन्द्रायुषः' अकृतायुर्वन्धस्य 'लघुकर्मणः' अल्पकर्मणां श्लेषकमाश्रय
क्षपकस्य 'असंयतगुणस्थाने' चतुर्थे गुणालये 'नरकायुः क्षयं व्रजेत्' नरकयोग्यायुः क्षयं याति, तथा पञ्चमे गुणस्थाने तिर्य-
गायुः क्षयं याति, सप्तमे गुणस्थाने 'त्रिदशायुः' देवायुरपि क्षयं याति, तथा तत्र सप्तमे गुणस्थाने दृग्मोहस्य सप्तकमपि क्षयं याति,
ततः क्षपकः साधुरष्टाचत्वारिंशदधिकशतकर्मप्रकृतिमध्यादेना दश प्रकृतीः क्षयं नीत्वाऽष्टत्रिंशदधिकशतप्रकृतिसत्ताकोऽष्टमं स्थानं
'प्राप्नोति' लभते, कथंभूतः ? 'धर्मध्याने' कृताभ्यासः 'उत्कृष्टे धर्मध्याने रूपातीतलक्षणे कृतोऽभ्यासो येन स तथा, अभ्यासः—
पुनः पुनरासेवनं, तेनैवाभ्यासयोगेन तस्मात्प्राप्तिः स्यात्, यदाह—अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितामनः । अभ्यासेन
जितभ्यासोऽभ्यासेनैवानिलगुष्टिः ॥ १ ॥ अभ्यासेन स्थिरं विचमभ्यासेन जितेन्द्रियः । अभ्यासेन पगानन्दोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनम् ।
॥ २ ॥ अभ्यासमर्जितध्यानैः, शास्त्रस्थैः फलमस्ति न । भवेन्न हि फलैस्तृप्तिः, पानीयप्रतिविम्बितैः ॥ ३ ॥ ततोऽभ्यासादेव
'विशुद्धधीः' निर्मलतत्त्वानुयायियुद्धिरिति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ अथाष्टमगुणस्थाने क्षपकस्य शुकध्यानारम्भमाह—

तत्राष्टमे गुणस्थाने, शुकसद्ध्यानमादिमम् । ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहननान्वितः ॥ ५१ ॥

व्याख्या—क्षपकः साधुस्तत्राष्टमे गुणस्थाने 'शुकसद्ध्यानं' शुकनामकं प्रधानं ध्यानं, आद्यं—प्रथमं पृथक्त्रवितर्कसप्र-
विचारलक्षण वक्ष्यमाणं ध्यातुं प्रक्रमते, कथंभूतः साधुः ? 'आद्यसंहननान्वितो' वज्रर्षभनाराचनामकप्रथमसंहननयुक्त इति

१ अत्र प्र० २ ध्यानकृता० प्र०

॥ ५१ ॥ अथ ध्यातुरेव स्वरूपं श्लोकद्वयेनाह—

निष्प्रकल्पं विधायार्थ, दृढं पर्यङ्मासनम् । नासाग्रदत्तसंज्ञेन, किञ्चिदुन्मीलितेक्षणः ॥ ५२ ॥

विकल्पत्रागुराजालापूरोत्सारितमानसः । संसारोच्छेदनोत्साहो, योगीन्द्रो ध्यातुमर्हति ॥ ५३ ॥

व्याख्या—'अथ' अनन्तरं 'योगीन्द्रः' क्षपकमुनीन्द्रः व्यवहारमाश्रित्य ध्यातुमर्हति—ध्यानारम्भयोग्यो भवतीति
सम्बन्धः, किं कृत्वा ? पर्यङ्मासनं 'दृढं' निविडवन्धं विधाय; कथंभूतः ? 'निष्प्रकल्पं' निश्चलं, यत् आसनजय एव ध्यान-
स्य मथमेः प्राणः, यदाह—आहारासणनिहाजयं च काऊण जिणवरमणं । झाइज्जइ निअअप्पा, उवइहं णिणवरिन्देणं ॥ १ ॥
तत्र पर्यङ्मासनं 'स्याज्जइयोरधोभागे, पादोपरि कृते सति । पर्यङ्को नाभिगोचानदक्षिणोत्तरपाणिकः ॥ १ ॥' किञ्चित्सि-
द्धाननमित्युच्यते, यथा—योनिं वामपदा परेण निविडं संपीडय शिश्रं ह्यु, न्यस्योरस्यचलेन्द्रियः स्थिरमना लोलां च ताल्व-
न्तरे । व्रतस्थैर्यतयाऽर्धनिश्चलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरं, योगी योगत्रिधिसाधनकृते सिद्धासनं साधयेत् ॥ १ ॥ अथवाऽऽसन-
नियमो नास्ति, यदाह—यस्मिन् यस्मिन्नासनेऽभ्यस्यमाने, चेतःस्थैर्यं जायते तत्र तत्र । कार्यो यत्नः पद्मपर्यङ्कायोत्सगै-
काद्विद्वेषहिवज्जासनादौ ॥ १ ॥ कथंभूतो योगीन्द्रः ? 'नासाग्रदत्तसंज्ञेनः' नासाग्रे दत्ते न्यस्ते सती प्रवक्षे नेत्रं लोचने

१ प्रथमे प्राणा प्र०

२ आहारासननिद्राजय च कृत्वा जिनवरमतेन । ध्यायते निजक आत्मा उपदिष्ट जिनवरेन्द्रेण । १ ।

३ माह्वन् णिय अप्पा प्र०

४ सुनिश्चलतया प्र०

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

वस्य स तथा, नासाग्रन्व्यस्तलोचनो हि ध्यानसाधको भवति, यदाह ध्यानदण्डकस्तुतौ—नासावंशाग्रभागस्थितनयनयुगो मृक्त-
 ताराप्रचारः, शेषासलीगणवृत्तिस्त्रिभुवनविबरोद्धान्तयोगैकचक्षुः । पर्यङ्गातङ्गुन्यः परिकलितघनोच्छ्वासनिःभासवातः, स ध्याना-
 र्हेदमूर्त्तिश्चिरमवतु जिनो जन्मसंभूतिर्भाते ॥ १ ॥ पुनः कथंभूतः ? 'किञ्चिदुन्मीलितेक्षणः' किञ्चिदुन्मीलिते अर्द्धविकसिते ईक्षणे यस्य स
 तथा, योगिनः समाधिसमये किञ्चिदुन्मीलिते अक्षिणी भवतः, यदाह—गम्भीरस्तम्भमूर्त्तिर्व्यपगतकरणव्यापृतिर्मन्दमन्दं, प्राणा-
 यामो ललाटस्यलनिमित्तमना दत्तनासाग्रदृष्टिः । नाप्युन्मीलक्ष्मीलक्षणमतितरां षट्पर्यङ्कवन्धो, ध्यानं प्रध्याय शुक्लं सकल-
 विदनेत्रयः स पायाजिनो वः । ? । पुनरपि कथंभूतः ? 'दूरोत्सारितमानसो' त्रिरलीकृतचित्तः, कस्मात् ? 'विकल्पवायु-
 राजालात्' कल्पनावागुरिकावन्धात्, यतो विकल्पा एव बाहं कर्मवन्धनहेतवः, यदाह—अशुभा वा शुभा वाऽपि, विकल्पा
 यस्य चेतसि । स एवं बध्नात्ययःस्वर्णवन्धनाभेन कर्मणा ॥ १ ॥ वरं निद्रा वर मूर्छा, वरं विकलतापि वा । न त्वार्त्तरीद्रदु-
 ल्लेभ्याविकल्पाकुलितं मनः ॥ २ ॥ भूयः कथंभूतः ? 'संसारोच्छेदनोत्साहः' संमारोच्छेदनार्थं भवपरिहारार्थमुत्साह उद्यमो
 यस्य स तथा, भवच्छेदकध्यानार्थमुत्साहवंतां हि योगसिद्धिः स्यात्, यदाह—उत्साहाभिश्रयाद्द्वैयात्संतोषात्तत्त्वदर्शनात् । मुनेर्ज-
 नपदत्यागात्, षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति ॥ १ ॥ ५३ ॥ अथ प्राणायाममाह—

अपानद्वारमार्गेण, निस्सरन्तं यथेच्छया । निरुन्व्योर्ध्वप्रचारासिं, प्रापयस्यनिलं मुनिः ॥ ५४ ॥

१ ० रम्भमूर्त्ति प्र०

व्याख्या—'मुनिः' योगीन्द्रोऽनिलं—पवनं 'ऊर्ध्वप्रचारासिं' दक्षमद्वारगोषरतामसिं प्रापयति, किं कृत्वा ? 'अपा-
 नद्वारमार्गेण' पायुवर्त्मना पवनं यथेच्छया 'निस्सरन्तं' स्वस्वभावेन गच्छन्तं 'निरुन्व्य' संकोच्य, मूलवन्धयुक्तयाऽपानपवन-
 माकुञ्चयेत्यर्थः, मूलवन्धश्चायं—पार्ष्णि भागेन संपीडय, योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् । अपानमूर्ध्वमाकुण्ठय, मूलवन्धो निगद्यते
 ॥ १ ॥ इदमाकुञ्चनकर्मैव प्राणायामस्य मूलं, यदुक्तं ध्यानदण्डकस्तुतौ—संकोचयापानरन्ध्रं हुनवहसदृशं तद्वृत्तमूर्ध्वरूपं, धृत्वा
 हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम् । नीत्वा शून्यातिशून्यां पुनरपि स्वगति दीप्यमानां समन्ताल्लोकालोकाव-
 लोकां कलयति स कला यस्य तुष्टो जिनेशः ॥ १ ॥ ५४ ॥ अथ पूरकप्राणायाममाह—

द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं, समाकृष्य समीरणम् । पूरयत्यतियत्नेन, पूरकध्यानयोगतः ॥ ५५ ॥

व्याख्या—योगी पूरकध्यानयोगाद् 'अतियत्नेन' अतिप्रयत्नेन कोष्ठं सकलदेहगतं नाडीगण वा पवनेन पूरयति, किं
 कृत्वा ? 'द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं समीरणं समाकृष्य' द्वादशाङ्गुलप्रमाणं घृष्टात्पवन समन्तादाकृष्य, अत्रायमर्थः—पवनो नभ-
 स्तत्त्वे वहमाने नासान्तःस्थ एव भवति, तेजस्तत्त्वे वहमाने चत्वार्यङ्गुलानि घृष्टात्पदूर्ध्वगः स्फुरति, वायुतत्त्वे वहमाने षडङ्गु-
 लानि घृष्टात्पितृश्रीनश्चरति, पृथ्वीतत्त्वे वहमानेऽष्टाङ्गुलानि यावद्दहिर्मध्यमभावेन तिष्ठति, जलतत्त्वे वहमाने द्वादशाङ्गुलानि
 यावदधस्ताद्गृहति, यदाह—नासान्तर्नभसोऽन्वयं ह्यष्टोर्केसंख्याद्गुलोत्तरा । तेजोवायुपृथिव्यम्बुवह्निर्गतिरुदाहृता ॥ १ ॥ ततो
 द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं वारुणं मण्डलं प्रचारावसरेऽतमयं पवनं समाकृष्येत्यर्थः, एतच्च पूरकध्यानं कर्मतया केचिदाहुः—वक्रघ्रा-
 णप्राणमाकृष्य तेन, स्थानं भिष्वा ब्रह्मपूरीश्वराणाम् । रथूलाः सृष्टमा नाटिकाः पूरयेद्यद्, विज्ञातव्यं कर्म तत्पूरकाख्यम् ॥ १ ॥
 ॥ ५५ ॥ अथ रेचकप्राणायाममाह—

निस्सार्यते ततो यत्नात्त्राभिपद्मोदराच्छनैः । योगिना योगसामर्थ्याद्रेचकाख्यः प्रभञ्जनः ॥ ५६ ॥

व्याख्या—'ततः' पूरकादनन्तरं 'योगिना' साधकेन 'योगसामर्थ्यात्' प्राणायामाभ्यासवलाद् 'रेचकाख्यः प्रभ-
 ञ्जनो' रेचकनामा पवनो 'नाभिपद्मोदरात्' नाभिपद्मजकोदरात् 'शनैः' मन्दमन्दं 'यत्नाद्' आदरात् 'निस्सार्यते' घृष्टिः
 क्षिप्यते, तद्रेचकध्यानं, यदाह—वज्रासनारिधरचपुः रिधरधीः स्वचित्तमारोप्य रेचकसमीरणजन्मचक्रे । स्वान्तेन रेचयति नादिगवं
 समीरं, तत्कर्म रेचकामिति प्रतिपत्तिमेति ॥ १ ॥ ५६ ॥ अथ कुम्भकध्यानमाह—

कुम्भवत्कुम्भकं योगी, श्वसनं नाभिपद्मजे । कुम्भकध्यानयोगेन, सुस्थिरं कुरुते क्षणम् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—योगी 'कुम्भकं' कुम्भकाख्य 'श्वसनं' पवनं 'नाभिपद्मजे' नाभिकमले 'कुम्भकध्यानयोगेन' कुम्भक-
 कर्मप्रयोगेण 'कुम्भवद्' घटवद्वटाकारं कृत्वा सुतरा रिधरं कुरुते, यदाह—चेतसि श्रयति कुम्भकचक्र, नाटिकासु निविदीकृतवातः ।
 कुम्भवन्नरति यज्जलमध्ये, तद्वदन्ति किल कुम्भककर्म ॥ १ ॥ ५७ ॥ अथ पवनजयेन मनोजयमाह—

इत्येवं गन्धवाहानामाहुःश्चनविनिर्गमौ । संसाध्य निश्चलं धत्ते, चित्तमेकाग्रचिन्तनं ॥ ५८ ॥

व्याख्या—यत्र मनस्तत्र पवनो यत्र पवनस्तत्र मनो वर्त्तते, यदाह—दुग्धास्त्रुवसंमिलितो मूदेव, तुल्यजियां मानगमारुतो

हि । यावन्मनस्तत्र मरत्प्रवृत्तिर्यादन्मस्सत्र मनःप्रवृत्तिः ॥१॥ तत्रैकनाशादपरस्य नाश, एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः । विप्रस्तयो विन्द्रियवर्गशुद्धि-
स्तद्भ्रंसनान्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥ २ ॥ इति, तत ' इत्येवं ' अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण पूरकनेचककुम्भक्रमेण ' गन्ध्याहानां ' पव-
नानां ' आकुञ्चनविनिर्गमौ संसाध्य ' वातानां संग्रहमोक्षावभ्यस्य ' चित्तं ' मनः ' एकाग्रचिन्तने ' समाधिविषये निश्चलं धत्ते,
परुजये हि मनोनिश्चलता स्यादेव, यदाह—प्रचलति यदि क्षोणीचक्रं चलन्त्यचला अपि, प्रलयपवनमेद्गालोलाश्चलन्ति पयोधयः ।
पवनजयिनः सावष्टम्भप्रकाशितशक्तयः, स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाच्चलन्ति न योगिनः ॥ १ ॥ ५८ ॥ अथ भावस्यैव प्राधान्यमाह—

प्राणायामक्रमप्रौढिरत्र रुढ्यैव दर्शिता । क्षपकस्य यतः श्रेण्यारोहे भावो हि कारणम् ॥५९॥

व्याख्या—' अत्र ' श्रेण्यारोहे क्षपकश्रेण्यारोहविषये ' प्राणायामक्रमप्रौढिः ' पवनाभ्यासक्रमप्रगल्भता ' रुढ्यैव ' प्रसिद्धि-
मात्रतयैव दर्शिता, ' यतः ' यस्मात्कारणात् ' हिः ' स्फुटं क्षपकस्य भाव एव केवलोद्गमकारणं, न तु प्राणायामादिदम्बरः, यदुक्तं
चर्पटिनापि—नासाकण्ठं नार्हादृन्दं, वायोश्चारः प्रत्याहारः । प्राणायामो बीजग्रामो, ध्यानाभ्यासो मन्त्रन्यासः ॥ १ ॥ इत्यस्य
भ्रमध्यस्थं, नासाग्रस्थं श्वासान्तःस्थम् । तेजःशुद्धं ध्यानं बुद्धं, अकाराख्यं सूर्यप्रख्यम् ॥ २ ॥ ब्रह्माकाशं शून्याभासं, मिथ्याजन्यं
चिन्ताकल्पम् । कायाक्रान्तं चित्तभ्रान्तं, त्यक्त्वा सर्वं मिथ्या गर्वम् ॥३॥ गुर्वादिष्टं चिन्तोत्सृष्टं, देहातीतं भावोपेतम् । त्यक्तदृन्दं नित्या-
नन्दं, शुद्धं तत्त्वं जानीहि त्वम् ॥ ४ ॥ अन्यच्च—अकाराभ्यसनं विचित्रकरणैः प्राणस्य वायोर्जयात्, तेजश्चिन्तनमात्मकायक्रमले

१ वायुना प्र०

शून्याम्बरोलम्बनम् । त्यक्त्वा सर्वमिदं कलेवरगतं चिन्तामनोविभ्रमं, तत्त्वं पश्यत जल्पकल्पनकलातीतं स्वभावस्थितम् ॥ १ ॥ ५९ ॥
अथाद्यशुक्रध्यानस्य नामाह—

सवितर्कं सविचारं, सपृथक्त्वमुदाहृतम् । त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्रं सुनिर्मलम् ॥६०॥

व्याख्या—' त्रियोगयोगिनः साधोः ' मनोवचःत्रययोगवतो मुनेः ' आद्यं ' प्रथमं शुक्रध्यानं ' उदाहृतं ' प्रोक्तं, तत्कथं-
भूतं ? मह वितर्कणं वर्त्तत इति सवितर्कं, सह विचारेण वर्त्तत इति सविचारं, सह पृथक्त्वेन वर्त्तत इति सपृथक्त्वं, इति विशेषणत्र-
योपेतत्वात् पृथक्त्ववितर्कसविचारनामकं प्रथमं शुक्रध्यानमिति ॥ ६० ॥ अथ तद्विशेषणत्रयस्य स्वरूपमाह—

श्रुतचिन्ता वितर्कः स्यात्, विचारः संक्रमो मतः । पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं, भवत्येतन्नयात्मकम् ॥६१॥

व्याख्या—एतत्प्रथमं शुक्रध्यानं त्रयात्मकं, क्रमोत्क्रमगृहीतविशेषणत्रयरूपं, तत्र श्रुतचिन्तारूपो वितर्कः, अर्थशब्दयोगान्तरेषु
संक्रमो विचारः, द्रव्यगुणपर्यायादिभिरन्यत्व पृथक्त्वं ॥ ६१ ॥ अथैतन्नयस्य क्रमेण व्यक्तार्थं व्याचिख्यासुः प्रथमं वितर्कमाह—

स्वशुद्धात्मानुभूतात्मभावश्रुतावलम्बनात् । अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्, यस्मिंस्तत्सवितर्कजम् ॥६२॥

व्याख्या—यस्मिन् ध्यानेऽन्तर्जल्पोऽन्तरङ्गध्वनिरूपो वितर्को विचारणात्मकस्तत्सवितर्के ध्यानं स्यात्, कस्मात् ? ' स्वशुद्धा-

१ ० न्यान्तरा० प्र०

२ ० मात्रमाह प्र०

३ ० विशेषणत्रय० प्र०

४ ० भूत्या० प्र०

त्मानुभूतात्मभावश्रुतावलम्बनात् ' स्वकीयनिर्मलपरमात्मतत्त्वानुभवगयान्तरङ्गभावगतागमावलम्बनतः, इत्युक्तं सवितर्कं ध्यानम् ॥६२॥
अथ सविचारमाह—

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः । योगाद्योगान्तरे यत्र, सविचारं तदुच्यते ॥ ६३ ॥

व्याख्या—यत्र ध्याने स एव पूर्वोक्तो वितर्को विचारणात्मकोऽर्थान्तरे संक्रमते, योगाद्योगान्तरे संक्रमते तद्ध्यानं सवि-
चारं ससंक्रमणमुच्यत इति ॥ ६३ ॥ अथ सपृथक्त्वमाह—

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति, गुणाद्याति गुणान्तरम् । पर्यायादन्यपर्यायं, सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥६४॥

व्याख्या—यत्र ध्याने स एव पूर्वोक्तो वितर्कः सविचारोऽर्थव्यञ्जनयोगान्तरसंक्रमणरूपोऽपि निजशुद्धात्मद्रव्यान्तरं याति,
अथवा गुणाद् गुणान्तरं याति, यदा पर्यायान्तरं याति, तत्र—सहजाता गुणा द्रव्ये, सुवर्णे पीतता यथा । क्रमभूतास्तु पर्याया,
मुद्राकुण्डलनादयः ॥ १ ॥ तेषु द्रव्यगुणपर्यायान्तरेषु अन्यत्वं—पृथक्त्वं तदस्ति यत्र ध्याने तत्सपृथक्त्वम् ॥ ६४ ॥ अथाद्यशुक्रध्यान-
जनितां शुद्धिमाह—

इति त्रयात्मकं ध्यानं, प्रथमं शुक्रमोरितम् । प्राप्नोत्यतः परां शुद्धिं, सिद्धिं श्रीसौख्यवर्णिकाम् ॥६५॥

१ ० भूत्या० प्र०

२ पृथक्त्व० प्र०

३ त्ववदद्रव्यान्त० प्र०

४ ध्यायन् योगी समाहित । सप्राप्नोति प्र०

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

व्याख्या—इति त्रयात्मकं पृथक्त्ववितर्कसन्निगरात्मकं प्रथमं शुद्ध्यान् कथितं, तस्माच्चानात् 'परं' प्रकृष्टं शुद्धिं प्राप्नोति, कथंभवां ? 'मिद्धि श्रीसौख्यार्णिकां' मुक्तिलक्ष्मीमुत्तनिर्देशनिकामासादयतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥ अथेतस्यैव विशेषस्वरूपमाह—

यद्यपि प्रतिपात्येतदुक्तं ध्यानं प्रजायते । तथाप्यतिविशुद्धत्वादूर्ध्वस्थानं समीहते ॥ ६६ ॥

व्याख्या—यद्यप्येतदुक्तं ध्यानं 'प्रतिपाति' पतनशीलं 'प्रजायते' समुत्पद्यते, तथापि 'अतिविशुद्धत्वाद्' अतिनैर्मल्यत 'ऊर्ध्वस्थानं' अग्रेतन गुणस्थानं 'समीहते' तदारोहाय धारतीत्यर्थः । तथाऽपूर्वगुणस्थानस्थो जीवो निद्राद्विकदेवाद्विकपञ्चेन्द्रियत्वप्रशस्तविहायोगतित्रसनत्रकत्रैक्रियाहारकृतेजसकार्मणैरि योपाङ्गआहारकोपाङ्गआद्यसंस्थाननिर्माणतीर्थकृत्त्रवर्णचतुष्कागुरुलघुपघातपराप्रायोच्छ्रयामरूपद्वाविंशत्प्रकृतियवच्छेदात् प विंशतिर्वन्धकः, अन्त्यसंहनन्त्रिकसम्यक्त्रोदयव्यवच्छेदात् द्वासप्ततर्वेदयिताऽऽष्टविंशदधिकशतमत्ताको भवति ॥ ६६ ॥ इति क्षपकस्याष्टमम् । अथ क्षपकोऽनिवृत्तिगुणस्थानमारोहन् याः प्रकृतीर्भ्रं यथा सिर्पानि तत्र तास्तथा श्लोकपञ्चकेनाह—

अनिवृत्तिगुणस्थानं, ततः समधिगच्छति । गुणस्थानस्य तस्यैव, भागेषु नवसु क्रमात् ॥ ६७ ॥

गतिः श्वाध्री च तैरश्री, द्वे तयोरानुपूर्विके । साधारणत्वमुद्योतः, सूक्ष्मत्वं विकलत्रयम् ॥ ६८ ॥

१ योगी 'समाहित' समाधिमान् 'इति' पूर्वोक्त प्र० २ ध्यायन् परा ३ शुद्ध्यान् ४ शुद्ध्यान् ५ ०शतेर्वन्धकः

एकेन्द्रियत्वमातापस्तानगृह्यादिकत्रयम् । स्थावरत्वमिहाद्यशे, क्षीयन्ते षोडशत्यमूः ॥ ६९ ॥

अष्टौ मध्यकषायाश्च, द्वितीयेऽथ तृतीयके । पण्डत्वं तुर्यके स्त्रीत्वं, हास्यपट्टकं च पञ्चमे ॥ ७० ॥

चतुर्ष्वशेषु शेषेषु, क्रमेणैवातिशुद्धितः । पुंवेदश्च ततः क्रोधो, मानो माया च नश्यति ॥ ७१ ॥

पञ्चभिः कुलकम्

व्याख्या—'ततः' तस्मादष्टमगुणस्थानादनन्तरं क्षपकोऽनिवृत्तिगुणस्थानं नवमं समारोहति समधिगच्छति, तन्मन्थयन् गुणस्थानस्य नवसु भागेषु कृतेषु आद्येऽशे प्रथमे भागे 'इत्यमूः' इत्येताः षोडश कर्मप्रकृतयः क्षीयन्ते, इत्यमूः काः ? श्वाध्री गतिः नरकगतिः, 'तैरश्री' तिर्यग्गतिः, तयोर्नरकतिरश्चोर्द्वे आनुपूर्विके नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी चेति 'साधारणत्वं' साधारणनाम 'उद्योत' उद्योतनाम 'सूक्ष्मत्वं' सूक्ष्मनाम 'विकलत्रयं' द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणं 'एकेन्द्रियत्वं' एकेन्द्रियजातिरूपं, 'आताप' आतपनाम, 'स्त्यानगृह्यादिकत्रयं' निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानङ्घ्रितिरिकं, 'स्थावरत्वं' म्थावगनामरूपेति षोडश कर्मप्रकृतयोऽनिवृत्तिगुणस्थानस्य प्रथमे भागे क्षीयन्ते, तथाऽष्टौ मध्यकषाया-अप्रत्याग्यानमत्याख्यानलक्षणा द्वितीये भागे क्षीयन्ते, तृतीये भागे 'पण्डत्वं' नपुंसकत्वं क्षीयते, 'तुर्यके' चतुर्थके भागे 'स्त्रीत्वं' स्त्रीवेदः क्षीयते, पञ्चमे भागे हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सेतिषट्कं च क्षीयते, शेषेषु 'चतुर्ष्वशेषु' पष्ठादिनवमान्येषु 'क्रमेणैवातिशुद्धितो' ध्यानस्यातिनैर्म-

१ निवृत्तिगु० प्र०

त्यतः पुंवेदः सञ्ज्वलनक्रोधो मानो माया च नश्यति, अयमर्थः—पष्ठे भागे पुंवेदः क्षीयते, सप्तमे भागे सञ्ज्वलनक्रोधो क्षीयते, अष्टमे सञ्ज्वलनमानः क्षीयते, नवमे भागे सञ्ज्वलनमाया च क्षीयते, तथा चानिवृत्तिगुणस्थानस्थो जीवो हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साव्यवच्छेदाद् द्वाविंशतेर्वन्धकः, हारयपट्टकोदयव्यवच्छेदात् षट्षष्टेर्वेदयिता, नवमाशे मायान्तपञ्चविंशत्प्रकृतिसनाव्यवच्छेदात् द्युत्तरशतसत्ताका भवति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ इति क्षपकस्य नवमम् । अथ क्षपकस्य दशमगुणस्थानमाह—

ततोऽसौ स्थूललोभस्य, सूक्ष्मत्वं प्रापयन् क्षणात् । आरोहति मुनिः सूक्ष्मसंपरायं गुणास्पदम् ॥ ७२ ॥

व्याख्या—'ततो' नवमगुणस्थानादनन्तरं 'असौ' क्षपको मुनिः 'सूक्ष्मसंपरायस्पद' (राय गुणास्पदं) सूक्ष्मपरायनामकं गुणस्थानमारोहति, किं कुर्वन् ? 'क्षणात्' क्षणमात्रात् 'स्थूललोभस्य' स्थूलरूपस्य सञ्ज्वलनलोभस्य सूक्ष्मत्वं प्रापयन् । तथा सूक्ष्मसंपरायस्थो जीवः पुंवेदसञ्ज्वलनचतुष्कवन्धव्यवच्छेदाद् कर्मप्रकृतीनां सप्तदशकत्रय वन्धकः, त्रिवेदत्रिसञ्ज्वलनोदयव्यवच्छेदात्षष्टेर्वेदयिता मायासत्ताव्यवच्छेदात् द्युत्तरशतसत्ताका भवति ॥ ७२ ॥ इति क्षपकस्य दशमम् । अथ क्षपकस्यैकादशं गुणस्थानं न भवतीत्याह—

एकादशं गुणस्थानं, क्षपकस्य न संभवेत् । किंतु स सूक्ष्मलोभांशान्, क्षपयन् द्वादश व्रजेत् ॥ ७३ ॥

व्याख्या—क्षपकस्यैकादशं गुणस्थानकं 'न' नैव भवेत्, किंतु दशमादेव गुणस्थानान्तक्षपकः सूक्ष्मलोभांशान् यथा त-

लोभखण्डान् क्षपयन् सन् 'द्वादशं' क्षीणमोहाख्यं गुणस्थानं 'व्रजेद्' गच्छेदिति, अत्र क्षपकश्रेणी च ममर्धयति, तत्प्रपञ्चार्थं—
अणमिच्छमीमसम्पं, अहनपुमित्थिवेअच्छकं च । पुंवेयं च खवेइ. कोहाइए अ संजलणे ॥ १ ॥ ७३ ॥ अथ तत्र शुकुस्थानस्य
द्वितीयांशश्रयणमाह—

भूत्वाऽथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायतिः । पूर्ववद्भावसंयुक्तो, द्वितीयं शुकुमाश्रयेत् ॥७४॥

व्याख्या—अथ चानन्तरं स क्षपकः 'क्षीणमोहात्मा भूत्वा' क्षीणमोहगुणस्थानाद्वापरिणमिभयो भूत्वा द्वितीयं शुकुस्थानं
'पूर्ववत्' मथमशुकुस्थानरीत्या 'श्रयेद्' भजेत्, कथंभूतः क्षपकः? 'वीतरागो' विशेषेण इतो रागो यस्मात्स तथा, पुनरपि
कथंभूतः? 'भावसंयुक्तो' विशुद्धतरभाषोपेतः, एवंविधः क्षपको द्वितीयं शुकुस्थानं श्रयेदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

अथ तदेव शुकुस्थानं सनापविशेषणमाह—

अपृथक्त्वमचीचारं, सवितर्कगुणान्वितम् । स ध्यायत्येकयोगेन, शुकुस्थानं द्वितीयकम् ॥७५॥

व्याख्या—'स' क्षपकः क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती द्वितीयं शुकुस्थानं 'एकयोगेन' एकतरयोगेन संध्यायति, यदाह—
एकं त्रियोगभाजामात्रं स्यादपरमेकयोगवताम् । तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगानां चतुर्थं तु ॥ १ ॥ कथंभूतं? 'अपृथक्त्वं'

× अणमिच्छात्वमिश्रमप्यत्त्वानि अहनपुमकस्त्रीवेदपदक च । पुवेद च क्षपयति क्रोधादिकल च सज्जनान् ॥ १ ॥

१ स प्र० २ अथानन्तरं प्र० ३ हि प्र०

पृथक्त्ववर्जितं, 'अविचार' विचाररहितं, 'सवितर्कगुणान्वितं' वितर्कमात्रगुणोपेतं, द्वितीयं शुकुस्थानं ध्यायतीत्यर्थः ॥ ७५ ॥
अथापृथक्त्वमेव व्यक्तमाह—

निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम् । निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं त्रिदुर्बुधाः ॥७६॥

व्याख्या—'युग' ज्ञाततराः 'तदेकत्वम्' अपृथक्त्वं 'त्रिदुः' अवधारयन्ति स्म कथंयन्ति स्म, तर्किक?—ध्यायकेन
यन्निजात्मद्रव्यं 'एक' केवल स्वकीयैश्चिशुद्धपरमात्मद्रव्यं, 'वा' अथवा तस्यैव परमान्मद्रव्यस्य एकं केवल पर्यायं, 'वा'
अथवा एकमद्वितीयं गुणं वा, तदत्र गुणपर्यायविशेषः पूर्वोक्त एव, एतदेवंविधमेकं द्रव्यमेकं गुणं वा एकं पर्यायं वा, 'निश्चलं'
चलनवर्जितं यत्र ध्यायते तदेकत्वमिति ॥ ७६ ॥ अथाविचारत्वमाह—

यद्भ्यञ्जनार्थयोगेषु, परावर्त्तविवर्जितम् । चिन्तनं तदविचारं, स्मृतं सद्भ्यानकोविदेः ॥ ७७ ॥

व्याख्या—सम्पत्ति सद्भ्यानकोविदत्वं शास्त्राभ्यायविशेषादेवास्ति, न त्वनुभवात्, यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः—अनवि-
च्छिन्त्याऽऽभ्यासः. समागतोऽस्येति कीर्त्त्यनेऽस्माभिः । दुष्करमप्याधुनिकैः, शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ॥ १ ॥ तैः सद्भ्यानकोविदैः—
शास्त्राभ्यासागतशुक्ल-यानरहस्यैस्तद् 'अविचारं' अविचारविशेषणोपेतं द्वितीयं शुक्लं स्मृतं प्रज्ञप्तं, तर्किक?—यत्पूर्वोक्तस्वरूपेषु
'व्यञ्जनार्थयोगेषु' शब्दार्थिप्रयोगरूपेषु 'परावर्त्तविवर्जितं' शब्दाच्छब्दान्तरमित्यादिसम्क्रमेण रहितं चिन्तनं श्रुतानुसारादेव

१ १० प्र० २ व्यञ्जन्य० प्र० ३ शब्दार्थ० प्र०

क्रियते तदविचारमिति ॥ ७७ ॥ अथ सवितर्कत्वमाह—

निजशुद्धात्मनिष्ठं हि, भावश्रुतावलम्बनात् । चिन्तनं क्रियते यत्र, सवितर्कं तदुच्यते ॥ ७८ ॥

व्याख्या—यत्र 'निजशुद्धात्मनिष्ठ' स्वकीयातिविशुद्धपरमान्मलीनं 'हि' स्फुटं चिन्तनं सूक्ष्मविचारणात्मकं क्रियते,
तत्सवितर्कैरगुणोपेतं द्वितीयं शुक्लध्यानं, कस्मात्? 'भावश्रुतावलम्बनात्' सूक्ष्मान्तर्जल्परूपभावागमेश्रुतावलम्बनमात्रचिन्तनादिति
॥ ७८ ॥ अथ द्वितीयशुक्लचिन्तनममरसीभावमाह—

इत्येकत्वमविचारं, सवितर्कमुदाहृतम् । तस्मिन् समरसीभावं, धत्ते स्वात्मानुभूतितः ॥ ७९ ॥

व्याख्या—'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण एकत्वाविचारसवितर्करूपविशेषणत्रयोपेतं द्वितीयं शुक्लध्यानं 'उदाहृतं' कथितं,
'तस्मिन्' द्वितीये शुक्लध्याने वर्त्तमानो ध्यानी—यानात् समरसीभावस्तदेकीकरणं मतं । आत्मा यदपृथक्त्वेन, लीयते पर-
धात्मनि ॥ १ ॥ तं समरसीभाव 'धत्ते' धारयति, कुतः? 'स्वान्मानुभूतितः' स्वस्यात्मनोऽनुभूतिरनुभवनं स्वात्मानुभूतिस्तस्याः
॥ ७९ ॥ अथ क्षीणमोहगुणस्थानाद्वाऽवमाने यत्करोति तदाह—

इत्येतद्भ्यानयोगेन, प्लुष्यत्कर्मन्धनोत्करोः । निद्राप्रचलयोर्नाशमुपान्त्ये कुरुत क्षणे ॥ ८० ॥

व्याख्या—इत्येतत्पूर्वोक्तध्यानयोगेन द्वितीयशुक्लध्यानसमायोगेन 'प्लुष्यत्कर्मन्धनोत्करो' दक्षमानकर्मसमिदुत्करो योगीन्द्रः

१ ०८माह २ ०८वर्गनाथल० प्र० ३ सौ० प्र०

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

‘उपान्त्ये’ अन्त्यसर्मापममये निद्राप्रचलयोः ‘नाशं करोति’ क्षयं कुरुते ॥ ८० ॥ अथान्त्यसमये यत्करोति तदाह—

अन्त्ये दृष्टिचतुष्कं च, दशकं ज्ञानविघ्नयोः। क्षपयित्वा मुनिःक्षीणमोहः स्यात्केवलात्मकः ॥ ८१ ॥

व्याख्या—क्षपको मुनिः क्षीणमोहस्यान्त्ये समये ‘दृष्टिचतुष्कं’ चतुर्दर्शनादिदर्शनचतुष्कं ज्ञानान्तर्गतदशकं चेत्येताश्चतुर्दश प्रकृतीः क्षपयित्वा क्षीणमोहंशः सन् केवलात्मकः स्यादिति। तथा क्षीणमोहगुणस्थानस्थो जीवो दर्शनचतुष्कज्ञानान्तराय-दशकं शयशो रूपो दशवन्धव्यवच्छेदादेकसातवेद्यवन्धकः, तथा संज्वलनलोभक्रुपभनाराचनाराचोदयव्यवच्छेदात्सप्तपञ्चाशत्प्रकृतेर्वद-यिता, लोभपक्षाक्षपकत्वादेकोत्तरशतसत्ताको भवति ॥ ८१ ॥ इति क्षपकस्य द्वादशम् ॥ ८१ ॥ अथ क्षीणमोहान्तप्रकृतीनां संख्यापाह—

एवं च क्षीणमोहान्ता, त्रिपष्टिप्रकृतिस्थितिः। पञ्चाशीतिर्जरद्वस्त्रप्रायाः शेषाः सयोगिनि ॥ ८२ ॥

व्याख्या—‘एवं’ पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिपष्टिप्रकृतीनां स्थितिः क्षीणमोहान्तैव, कोऽर्थः?—चतुर्थगुणस्थानादारभ्य क्षीयमाणानां प्रकृतीनां त्रिपष्टिः क्षीणमोहे संपूर्णा, यथैकस्याः प्रकृतेश्चतुर्थगुणस्थाने क्षयः, पुनरेकस्याः पंचमे, अष्टानां सप्तमे, पदत्रिंशत्प्रकृतीनां नवमे, सप्तदशप्रकृतीनां द्वादशे क्षयः, इत्येव त्रिपष्टिप्रकृतीनां क्षीणमोहान्तैव स्थितिरुक्ता, तथा शेषास्त्रिपष्टिव्यतिरिक्ताः पञ्चाशी-तिप्रकृतयो ‘जरद्वस्त्रप्राया’ अत्यर्थं जीर्णचीवरकल्पा सयोगिगुणस्थाने भवन्ति ॥ ८३ ॥ अथ सयोगिनि यो भावो भवति, ये च सम्यक्त्वचारित्रे भवतस्तदाह—

१ ०गुणस्थान प्र० २ अत्यन्तजी० प्र०

भावोऽत्र क्षायिकः शुद्धः, सम्यक्त्वं क्षायिकं परम्। क्षायिकं हि यथाख्यातचारित्रं तस्य निश्चितम् ॥ ८३ ॥

व्याख्या—‘तस्य’ केवलात्मनो भगवतः, ‘अत्र’ सयोगिगुणस्थाने भावः क्षायिक एव ‘शुद्धः’ अतिनिर्मलो भवति, सम्यक्त्वं ‘परं’ प्रकृतं क्षायिकमेव ‘हि’ स्फुटं चारित्रं क्षायिकं यथाख्यातनामकं निश्चितं भवति, कोऽर्थः? अत्रोपशमिकक्षायोपश-यिकभावयोरभावत्वात् क्षायिको भावः, तथा दर्शनमोहनीयस्य चारित्रमोहनीयस्य क्षयत्वात्क्षायिके सम्यक्त्वचारित्रे इति ॥ ८३ ॥ अथ तस्य केवलात्मनः केवलज्ञानवल्पाह—

चराचरमिदं विश्वं, हस्तस्थामलकोपमम्। प्रत्यक्षं भासते तस्य, केवलज्ञानभास्वतः ॥ ८४ ॥

व्याख्या—‘तस्य’ केवलज्ञानभास्वतः केवलाधिगमभार्तण्डस्य ‘चराचरं विश्वं’ सचराचर जगत् ‘हस्तस्थामलकोपमं’ हस्ततलगृहीतामलकफलोपमं ‘प्रत्यक्षं’ साक्षात्कारेण ‘भासते’ दीप्यत इति, अत्र भास्वतः सूर्यस्योपमानं व्यवहारमात्रेणैव दर्शितं, न निश्चयतो, यतो निश्चयनयेन केवलज्ञानसूर्ययोर्षदन्तरं, यदाह—‘चंद्राड्जगहाणं पहा पयासेइ परिमियं रिक्त । केवलिनाना-णलंभो, लोभालोभं पयासेइ ॥ १ ॥ ८४ ॥ अर्थाजिततीर्थकृत्कर्मणो विशेषमाह—

विशेषात्तीर्थकृत्कर्म, येनास्त्यर्जितमूर्जितम्। तत्कर्मोदयतोऽत्रासौ, स्याज्जिनेन्द्रो जगत्पतिः ॥ ८५ ॥

व्याख्या—‘विशेषाद्’ अर्हद्भक्तिप्रमुखविशतिपुण्यस्थानकविक्षेपागधनाद् ‘येन’ जन्तुना ‘जितं’ स्मृतं तीर्थकृत्कर्म

१ ०वोऽथ प्र० २ ०भामान् ३ क्षयात् ४ चन्द्राऽज्यग्रहाणा प्रभाप्रक शयति परिमित क्षेत्रम् । केवलज्ञानलभो लोकालोक प्रकाशयति ॥ १ ॥ ‘अर्जितम्’ उपाजितयस्ति, तीर्थकृत्कर्मार्जने हि हेतुभूतान्यर्हद्भक्तिमुख्यानि विशतिस्थानान्यतानि, यदाह—*अरिहत सिद्ध पव-यण गुरु धेर बहुस्सुर तवस्सीसुं । वच्छलया एरैसि, अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ १ ॥ दंसणविणए आवस्सए अ सील-वए निरइयारे । खणलवतवच्चियए, पेयावचे समाही अ ॥ २ ॥ अप्पुव्वनाणगहणे, सुअभत्ती पवयणे पभावणया । एएहि कारणेहि, नित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥ ततः ‘अच’ सयोगिनि गुणस्थाने ‘तत्कर्मोदयतः’ तीर्थकृत्कर्मोदयात् ‘असौ’ केदली ‘जगत्पतिः’ त्रिभुवनाधिपतिः ‘जिनेन्द्रः’ स्यात्, जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेपामिन्द्र इव जिनेन्द्रः ॥ ८५ ॥

अथ तीर्थकृतो माहमानमाह—

स सर्वातिशयैर्युक्तः, सर्वाभरनरनतः। चिरं त्रिजयते सर्वोत्तमं तीर्थं प्रवर्त्तयन् ॥ ८६ ॥

व्याख्या—‘स’ भगवांस्तीर्थकरः, +चउरो जम्पप्पभिड, इकारस कम्पसंखए जाए । नव दस य देवजणिए, चउ-तीसं अइसए वंदे ॥ १ ॥ इत्येवंविधैश्चतुस्त्रिंशत्सख्यैरतिशयैर्युक्तः, तथा ‘सर्वाभरनरनतः’ सकलदेवमानवनमस्कृतः, ‘सर्वो-

१ ०न्येव प्र० २ ०एसु प्र० ३ ०दतिशयै० प्र०

अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरहृद्भुते तपस्विषु । वात्सल्यमेतेषु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगौ च ॥ १ ॥ दर्शनविनयो आवश्यकानि च शीलव्रते निरतिचारता । क्षणव्रतपस्थागा वैयावृत्त्य समाधिश्च ॥ २ ॥ अपूर्वज्ञानग्रहण श्रुतभक्ति प्रवचने प्रभावना । एतै कारणैस्तीर्थकरत्वं लभते जीव ॥ ३ ॥

+ चत्वारो जन्मप्रभृति एकादश कर्मसक्षये जाते । नव दश च देवचनिताश्चतुस्त्रिंशत्मातिशयान्वन्दे ॥

चमं ' सकलशासनप्रवरं ' तीर्थं ' शासनं ' प्रवर्तयन् ' प्रकटयन् ' चिरं ' देशानां पूर्वकोटिं यावदुत्कृष्टतो विजयते ॥ ८६ ॥

अथ तत्तीर्थकृत्कर्म यथा वेद्यते तदाह—

वेद्यते तीर्थकृत्कर्म, तेन सद्देशनादिभिः । भूतले भव्यजीवानां, प्रतिबोधादि कुर्वता ॥ ८७ ॥

व्याख्या— ' तेन ' तीर्थकृता तत्कर्म ' वेद्यते ' अनुभूयते किं कुर्वता ? ' भूतले ' पृथ्वीमण्डले भव्यजीवानां प्रतिबोधादि कुर्वता, आदिशब्दाद्देशविरतिसर्वविरत्यारोपादि विदधता, काभिः ? ' सद्देशनादिभिः ' तत्रोपदेशादिभिः कृत्वा वेद्यते, यदुक्तं—^१तं च कहां वेदज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहि ॥ इति ॥ ८७ ॥

अथ केवलानां स्थितिमाह—

उत्कर्षतोऽष्टवर्षोन्नं, पूर्वकोटिप्रमाणकम् । कालं यावन्महीपीठे, केवली विहरत्यलम् ॥ ८८ ॥

व्याख्या— ' केवली ' केवलज्ञानवान् ' महीपीठे ' पृथ्वीमण्डले उत्कर्षतोऽष्टवर्षोन्नं पूर्वकोटिप्रमाणं कालं यावत् ' अलं ' अत्यर्थं विहरति, काञ्चभकमलेषु पदन्गास कुर्वन् अष्टप्रातिहार्यविभूतिकलितः अनेकसुरासुरकोटिसंसेवितो विचरति, अयं च सामान्यकेवलिबिहारकालसंभवो दर्शितः, जिनास्तु मध्यमायुष एव भवन्ति ॥ ८८ ॥

अथ केवलिसमुद्रातरणमाह—

१ तच्च कः वेद्यते ' अगलान्या र्मदेशनादिभिः १ षज्जइ त तु भगवओ, नइयभवे मज्जइताण प्र०

चेदायुषः स्थितिर्न्यूना, सकाशाद्देवकर्मणः । तदा तत्तुल्यतां कर्तुं, समुद्रघातं करोत्यसौ ॥ ८९ ॥

व्याख्या— ' असौ ' केवली ' चेद् ' यदि ' देवकर्मणः सकाशाद् ' वेदनीयकर्मसमीपाद् ' आयुषः स्थितिः ' आयुःकर्मावस्थितिः ' न्यूना ' स्तोका भवति तदा ' तत्तुल्यतां कर्तुं ' आयुर्वेद्ययोस्तुल्यताकृणार्थं समुद्रघातं करोति ॥ ८९ ॥

अथ तमेव समुद्रघातमाह—

दण्डत्वं च कपाटत्वं, मन्थानत्वं च पूरणम् । कुरुते सर्वलोकस्य, चतुर्भिः समयैरसौ ॥ ९० ॥

व्याख्या— प्रथमं समुद्रघातस्वरूपमुच्यते— यथास्वभावस्थितानामात्मप्रदेशानां वेदनादिभिः सप्तभिः कारणैः समन्ताद्घातनं—स्वभावादन्यभावेन परिणामनं समुद्रघातः, स च सप्तधा—वेदनासमुद्रघातः, कषायसमुद्रघातः, मरणसमुद्रघातः, वैक्रियसमुद्रघातः, तैजससमुद्रघातः, आहारकसमुद्रघातः, केवलिसमुद्रघातश्च, यदाह—^१वेयण कसाय मरणे, वेडविअ तेअ आहारं केवलिसो ' इत्येतेषु सप्तसु समुद्रघातेष्वन्त्यः केवलिसमुद्रघातः, तदर्थमसौ केवली आयुर्वेद्ययोः समीकरणार्थमात्मप्रदेशैरुद्धर्वाधो लोकांस्त यावन्प्रमारितैरेकस्मिन् समये ' दण्डत्वं ' दण्डाकारत्वं कुरुते, द्वितीये समये पूर्वापरयोर्दिशोर्विस्तृतैरात्मप्रदेशैरेव कपाटाकारत्वं कुरुते, तृतीये समये दक्षिणोत्तरयोर्दिशोरप्यात्मप्रदेशैः कपाटाकारविस्तृतैर्मन्थानत्वं—मन्थानाकारत्वं कुरुते, चतुर्थे समयेऽन्तरालपूरणेन ' सर्वलोकस्य ' चतुर्दिशरज्ज्वात्मकलोकस्य पूरणं कुरुते, एवं केवली समुद्रघातं कुर्वन् चतुर्भिः समयैर्विश्वव्यापी भवति ॥ ९० ॥

१ वेदनाकषायमरणविक्रियतेजसाहारकैवलिका

१ तेअहारकेवलिआ प्र०

अथ ततो निवृत्तिमाह—

एवमात्मप्रदेशानां, प्रसारणविधानतः । कर्मलेशान् समीकृत्योत्क्रमात्तस्मान्निवर्त्तते ॥ ९१ ॥

व्याख्या— ' एवं ' अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण केवली स्वात्मप्रदेशानां ' प्रसारणविधानतो ' विस्तारणप्रयोगात् कर्मलेशान् समीकृत्य ' तस्माद् ' समुद्रघाताद् ' उत्क्रमाद् ' विपरीतकमान्निवर्त्तते, अयमर्थः—चतुर्भिः समयैर्जगत्पूरणं कृत्वा पञ्चमे समये पूरणान्निवर्त्तते, षष्ठे समये मन्थानत्वं निवर्त्तयति, सप्तमे समये कपाटत्वमुपसंहरति, अष्टमे समये दण्डत्वमुपसंहरन् स्वभावस्थो भवति, यदाह वैचक्रमुख्यः—दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये । मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ १ ॥ संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे । सप्तमे तु कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २ ॥ ९१ ॥ अथ केवली समुद्रघातं कुर्वन् यथा योगवान् आहारकश्च भवति तथा श्लोकद्वयेनाह—

समुद्रघातस्य तस्याद्ये, चाष्टमे समये मुनिः । औदारिकाङ्गयोगः स्याद्, द्विषट्सप्तमकेषु तु ॥ ९२ ॥

मिश्रौदारिकयोगी च (स्यात्), तृतीयाद्येषु तु त्रिषु समयेष्वेककर्माङ्गधरोऽनाहारकश्च सः ॥ ९३ ॥ युग्मम् ।

व्याख्या— ' स ' केवली समुद्रघातं कुर्वन् ' आद्ये ' प्रथमेऽप्ये चेति समयद्वये ' औदारिकाङ्गयोगः स्यात् ' औदारिकशरीरयोगवान् भवति, द्वितीयषष्ठसप्तमकेषु समयेषु तु पुनः स केवली समुद्रघातं कुर्वन् ' मिश्रौदारिकयोगी च ' (स्यात्) मिश्रौदा-

रिक्तयोगवान् भवति, मिश्रत्वं चात्र कार्मणेनैव सहोदारिकस्य, 'तृतीयाद्येषु त्रिषु तु' पुनस्तृतीयप्रमुखेषु त्रिषु समयेषु तृतीय-
चतुर्थपञ्चमलक्षणेषु स केवली केवलैकाग्रधरो भवति, केवलकार्मणकाययोगी भवति, 'तदा' तत्र समये स केवली केवलकार्म-
णकाययोगत्वादानाहारको भवति, यदाह—“औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः । मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमपष्टद्विती-
येषु ॥ १ ॥ कार्मणशरीरयोक्ता चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रये च तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥ २ ॥ ” ॥ १२ ॥
अत्र यः केवली समुद्घातं करोति तदाह—

यः षण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम् । करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वानवा ॥१३॥

व्याख्या—यः षण्मासाधिकायुष्कः सन् 'केवलोद्गमं' केवलोत्पत्तिं 'लभते' प्राप्नोति, असौ समुद्घातं निश्चयेन
करोति, 'अन्ये' षण्मासमध्यायुष्काः केवलिनः समुद्घातं कुर्वन्ति वाऽथवा न कुर्वन्ति च, तेषां समुद्घातकरणे भजनैव,
यदाह—षण्मास्यायुषि शेषे उत्पन्न येषां केवलज्ञानम् । ते नियमात्समुद्घातिनः शेषाः समुद्घाते भक्तव्याः । १ । छम्मासाऊ
सेसे, उप्पन्नं जेसि केवलं नाणं । ते नियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भग्गवा ॥ १ ॥ ” ॥ १४ ॥ अथ समुद्घाताभि-
वृत्तो यत्करोति तदाह—

समुद्घातान्निवृत्तोऽसौ, मनोवाक्काययोगवान् । ध्यायेद्योगनिरोधार्थं, शुकृद्धानं तृतीयकम् ॥१४॥

व्याख्या—असौ मनोवाक्काययोगवान् केवली-सयोगिकेवली समुद्घाताभिद्वेषः सन् 'योगनिरोधार्थं' योगनिरोध-
निमित्ते तृतीयं शुकृद्धानं ध्यायेत् ॥ १४ ॥ अथ तदेव तृतीयं शुकृद्धानमाह—

आत्मस्पन्दान्त्मिका सूक्ष्मा, क्रिया यत्रानिवृत्तिका । तत्तृतीयं भवेच्छुक्लं, सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिकम् ॥१५॥

व्याख्या—तस्मिन्नवसरे तस्य केवलिनस्तृतीयं सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिकनाम शुकृद्धानं भवति, तत्किं ? यत्रात्मस्पन्दा-
त्मिका सूक्ष्मा क्रियाऽनिवृत्तिका भवति, कोऽर्थः ?—आत्मस्पन्दात्मिका क्रियापि सूक्ष्मत्वादिनिवृत्तिका भवति, सूक्ष्मत्वं पुनः
स्थूलत्वं न भजतीत्यर्थः ॥ १६ ॥ अथ मनोवचःकाययोगानामपि यथा यथा सूक्ष्मत्वं करोति तथा तथा श्लोकचतुष्टयेनाह—

वादरे काययोगेऽस्मिन्, स्थितिं कृत्वा स्वभावतः । सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स वा-
दरम् ॥ १६ ॥ त्यक्त्वा स्थूलं वपुर्योगं, सूक्ष्मवाक्चित्तयोः स्थितिम् । कृत्वा नयति सूक्ष्मत्वं, काय-
योगं तु वादरम् ॥ १७ ॥ सुसूक्ष्मकाययोगेऽथ, स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणम् । निग्रहं कुरुते सद्यः,
सूक्ष्मवाक्चित्तयोगयोः ॥ १८ ॥ ततः सूक्ष्मे वपुर्योगे, स्थितिं कृत्वा क्षणं हि सैः । सूक्ष्मक्रियं निजा-
त्मानं, चिद्रूपं विन्दति स्वयम् ॥ १९ ॥ चतुर्भिः कुलकम् ।

व्याख्या—स केवली सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिनामकतृतीयशुकृद्धानध्याता अचिन्त्यात्मवीर्यशक्त्याऽस्मिन् वादरे काययोगे

१ न प्र० २ स प्र० ३ पुन क्षण प०

स्वभावतः स्थितिं कृत्वा 'वादरं वाक्चित्तयोगयुग्मं' स्थूलवचोमनोयोगयुगलं सूक्ष्मीकरोति, ततः 'स्थूलं' वादरं वपुर्योगं
त्यक्त्वा सूक्ष्मवाक्चित्तयोः स्थितिं कृत्वा वादरं काययोगं सूक्ष्मत्वं प्रापयति, स सूक्ष्मकाययोगे पुनः 'क्षणं' क्षणमात्रं स्थितिं
कृत्वा 'सद्यः' तत्कालं सूक्ष्मवाक्चित्तयोः 'निग्रहं' सर्वथा तत्संभवाभावं कुरुते, ततः सूक्ष्मे काययोगे क्षणं स्थितिं कृत्वा 'हि'
स्फुटं स केवली निजात्मानं सूक्ष्मक्रियं चिद्रूपं स्वयमात्मनैव 'विन्दति' अनुभवति इति श्लोकचतुष्टयार्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥
अथ यदेव सूक्ष्मक्रियस्य वपुषः स्थैर्यं भवति, तदेव केवलिनो ध्यानं स्यादित्याह—

छद्मस्थस्य यथा ध्यानं, मनसः स्थैर्यमुच्यते । तथैव वपुषः स्थैर्यं, ध्यानं केवलिनो भवेत् ॥ १०० ॥

व्याख्या—'यथा' येन प्रकारेण 'छद्मस्थस्य' योगिनो मनसः स्थैर्यं ध्यानमुच्यते, 'तथैव' तेन प्रकारेण 'वपुषः स्थैर्यं'
शरीरस्य निश्चलत्वं, केवलिनो ध्यानं भवतीति ॥ १०० ॥ अथ शैलेशीकरणारम्भी सूक्ष्मकाययोगी यत्करोति तदाह—

शैलेशीकरणारम्भी, वपुर्योगे स सूक्ष्मके । तिष्ठन्नूद्ध्वास्पदं शीघ्रं, योगातीतं यियासति ॥१०१॥

व्याख्या—केवलिनो हस्वाक्षरपञ्चकोद्विरणमात्रायुषः शैलवन्निश्रलकायस्य चतुर्थध्यानपरिणतिरूपं शैलेशीकरणं भवति,
ततः स केवली 'शैलेशीकरणारम्भी' शैलेशीकरणारम्भः 'सूक्ष्मके वपुर्योगे' सूक्ष्मरूपे काययोगे तिष्ठन् 'शीघ्रं' त्वरितं उद्ध्वा-
स्पदं 'योगातीतम्' अयोगिगुणस्थानं 'यियासति' यातुमिच्छति ॥ १०१ ॥ अथ भगवान् स केवली सयोगिगुणस्थानान्त्य-

समये यत्करोति तदाह—

अस्यान्त्येऽङ्गोदयच्छेदात्, स्वप्रदेशघनत्वतः । करोत्यन्त्याङ्गसंस्थानत्रिभागोनावगाहनम् ॥१०२॥

व्याख्या—‘अस्य’ सयोगिकेवल्लिगुणस्थानस्य ‘अन्त्ये’ अन्त्यसमये औदारिकद्विकमस्थिरद्विकं विहायोगतिद्विकं प्रत्ये कत्रिकं संस्थानषट्कं अगुरुलघुचतुष्कं वर्णादिचतुष्कं निर्माणकर्म तैजसकर्मणद्वयं प्रथमं संहननं स्वरद्विकमेकतरं वेदनीयं चेति त्रिंश- त्पकृतीनामुदयव्यवच्छेदो भवति, ततोऽत्राङ्गोपाङ्गोदयव्यवच्छेदादन्त्याङ्गसंस्थानावगाहनायाः सफाशात्रिभागोनावगाहनां करोति, कस्मात् ?—‘स्वप्रदेशघनत्वतः’ चरमाङ्गोपाङ्गतनासिकादिच्छिद्राणां पूरणेन स्वप्रदेशानाम्-आत्मप्रदेशानां घनत्वं-निश्चितत्वं भवति तस्मात्स्वप्रदेशघनत्वतस्त्रिभागोन्त्वं भवतीति । सयोगिगुणस्थानस्थो जीव एकत्रिध्वन्धक उपान्त्यसमयं यावत्, ज्ञानान्तरायदर्श- नचतुष्कोदयव्यवच्छेदाद् द्विचत्वारिंशत्पकृतिवेदयिता, निद्रामचलाज्ञानान्तरायदर्शनचतुष्करूपषोडशपकृतीनां सत्ताव्यव-उदात्पञ्चा- शीतिसत्ताकां भवति ॥ १०२ ॥ इति सयोगिगुणस्थानम् १३ अथायोगिगुणस्थानस्य स्थितिमाह—

अथायोगिगुणस्थाने, तिष्ठतोऽस्य जिनेशितुः । लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत् ॥१०३॥

व्याख्या—‘अथ’ त्रयोदशगुणस्थानानन्तरं ‘अयोगिगुणस्थानके’ चतुर्दशे ‘अस्य जिनेशितुः’ जिनेन्द्रस्य ‘तिष्ठतः’ अवस्थितस्य ‘लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव’ ‘अइवकल्द’ वर्णपञ्चकसमुच्चरणकालतुल्यैव स्थितिर्भवति ॥ १०३ ॥ अथायोगिगुण- स्थाने ध्यानसंभवमाह—

तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं, समुच्छिन्नक्रियात्मकम् । चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥१०४॥

व्याख्या—‘तत्र’ तस्मिन्नयोगिगुणस्थानेऽयोगिपरमेष्ठिनश्चतुर्थं ध्यानं ‘समुच्छिन्नक्रियात्मकं’ वक्ष्यमाणस्वरूपं भवति, कथं- भूतं ? ‘अनिवृत्तिशब्दान्तं’ अनिवृत्तिशब्दोऽन्ते यस्य तत्समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिनामकं चतुर्थं ध्यानमिति ॥ १०४ ॥

अथास्य चतुर्थध्यानस्य स्वरूपमाह—

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र, सूक्ष्मयोगात्मिकाऽपि हि । समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं, तद् द्वारं मुक्तिवेद्मनः ॥१०५॥

व्याख्या—‘यत्र’ ध्याने ‘सूक्ष्मयोगात्मिकाऽपि’ सूक्ष्मकाययोगरूपाऽपि क्रिया ‘समुच्छिन्ना’ सर्वथा निवृत्ता तत्समु- च्छिन्नक्रिया नाम चतुर्थं ध्यानं प्रोक्तं, कथंभूतं ? ‘मुक्तिवेद्मनः’ सिद्धिसौख्यस्य ‘द्वारं’ द्वारोपममिति ॥ १०५ ॥ अथ शिष्येण कृतं प्रश्नद्वयमाह—

देहास्तित्वेऽप्ययोगित्वं, कथं ? तद् घटते प्रभो ! । देहाभावे तथा ध्यानं, दुर्घटं घटते कथम् ? १०६

व्याख्या—शिष्यः पृच्छति, हे प्रभो ! ‘देहास्तित्वे’ सूक्ष्मेऽपि वपुर्योगास्तित्वे योगित्वेऽयोगित्वमस्तीति तत्कथं घटते ? इत्येकः प्रश्नः, तथा चेद्यदि देहाभावः सर्वथा काययोगाभावः संजातस्तदा देहाभावे (ध्यानं) दुर्घटं कथं घटते ? इति द्वितीयः प्रश्नः ॥ १०६ ॥ अथाचार्यः प्रश्नद्वयस्योत्तरं पद्यद्वयेनाह—

१ ० वि हि प्र० २ शिष्यकृत प्र०

वपुषोऽत्रातिसूक्ष्मत्वाच्छीघ्रं भाविक्षयत्वतः । कायकार्यासमर्थत्वात्, सति कायेऽप्ययोगता ॥१०७॥

तच्छरीराश्रयाद्ध्यानमस्तीति न विरुध्यते । निजशुद्धात्मचिद्रूपनिर्भरानन्दशालिनः ॥१०८॥ युग्मम्

व्याख्या—आचार्य आह—भोः शिष्य ! ‘अत्र’ अयोगिगुणस्थाने काये सूक्ष्मे वपुर्योगे सत्यप्ययोगता प्रोच्यते, कस्मात् ? वपुषः कायस्यातिसूक्ष्मत्वात्-सूक्ष्मक्रियारूपत्वादिति, तथा ‘शीघ्रं भाविक्षयत्वतः’ क्षयस्य भावः क्षयत्वं, शीघ्रं भाविक्षयत्वं यस्य तच्छीघ्रं भाविक्षयत्वं तस्मात्, तथा ‘कायकार्यासमर्थत्वाद्’ देहकृत्यसाधनाक्षमत्वात् काये सत्यप्ययोगता भवतीति, तथा ‘तच्छरीराश्रयात्’ तास्वदेहास्तित्वाश्रयणात् ध्यानमस्तीति ‘न विरुध्यते’ न विरोधमाप्नोति, कस्य ? अयोगिगुणस्थानवर्तिनो भगवतः परमेष्ठिनः, कथंभूतस्य ? ‘निजशुद्धात्मचिद्रूपनिर्भरानन्दशालिनः’ स्वकीयनिर्मलपरमात्मचिद्रूपतन्मयत्वोत्पन्ननिर्भरपरमान- न्दविराजप्रानस्येति ॥ १०८ ॥ अथ ध्यानस्य निश्चयव्यवहारत्वमाह—

आत्मानमात्मनाऽऽत्मैव, ध्याता ध्यायति तत्रतः । उपचारस्तदन्यो हि, व्यवहारनयाश्रितः १०९

व्याख्या—‘तत्रतो’ निश्चयनयादात्मैव ध्याता ‘आत्मनैव’ करणभूतान् कृत्वा आत्मानमेव कर्मतापन्नं ध्यायति, ‘हि’ स्फुटं ‘तदन्यो’ यः कश्चिदुपचारोऽष्टाङ्गयोगप्रवृत्तिलक्षणः स सकलोऽपि व्यवहारनयाश्रितो ज्ञेयः ॥ १०९ ॥ अथायोगिन एतौपा- न्त्यसमयकन्यमाह—

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

चिद्रपात्ममयोऽयोगी, श्रुपान्त्यसमये द्रुतम् । युगपत्क्षपयेत्कर्मप्रकृतीनां द्विसप्ततिम् ॥ ११० ॥

व्याख्या—‘चिद्रपात्ममयः’ केवलात्ममयः ‘अयोगी’ अयोगिगुणस्थानवर्ती ‘हि’ स्फुटश्रुपान्त्यसमये ‘द्रुतं’ शीघ्रं युग-
पत्समकालं कर्मप्रकृतीनां द्विसप्ततिं ‘क्षपयेत्’ क्षयं प्रापयेदिति ॥ ११० ॥ अथ ता द्विसप्ततिकर्मप्रकृतीनांमतः श्लोकपञ्चकेनाह—

देहबन्धनसङ्घाताः, प्रत्येकं पञ्च पञ्च च । अङ्गोपाङ्गत्रयं चैव, षट्कं संस्थानसंज्ञकम् ॥ १११ ॥
वर्णाः पञ्च रसाः पञ्च, षट्कं संहननात्मकम् । स्पर्शाष्टकं च गन्धो द्वौ, नीचानादेयदुर्भगम् ॥११२॥
तथाऽगुरुलघुत्वाख्यमुपघातोऽन्यघातिता । निर्माणमपर्याप्तत्वमुच्छ्वासश्चायशस्तथा ॥११३॥ विहायोगा-
तियुगमं च, शुभास्थैर्यद्वयं पृथक् । गतिर्विव्याऽऽनुपूर्वी च, प्रत्येकं च स्वरद्वयम् ॥११४॥ वेद्यमेकतरं चेति,
कर्मप्रकृतयः खलु । द्वासप्ततिरिमा मुक्तिपुरीद्वारार्गलोपमाः ॥११५॥ पञ्चभिः कुलकम् ।

व्याख्या—देहपञ्चकं ५ बन्धनपञ्चकं १० संघातनपञ्चकं १५ अङ्गोपाङ्गत्रयं १८ सरधानपट्कं २४ वर्णपञ्चकं २९ रस-
पञ्चकं ३४ संहननपट्कं ४० स्पर्शाष्टकं ४८ गन्धद्वयं ५० नीचैर्गोत्रं ५१ अनादेयं ५२ दुर्भगत्वं ५३ अगुरुलघुत्वं ५४ उपघातत्व
५५ पराघातत्वं ५६ निर्माणत्वं ५७ अपर्याप्तत्वं ५८ उच्छ्वासत्वं ५९ अयशस्त्वं ६० विहायोगतिद्वयं ६२ शुभाशुभद्वयं ६४ स्थैर्या-

१ श्रुपान्त्ये प्र० २ दुर्भगा

स्थैर्यद्वयं ६६ देवगतिः ६७ देवानुपूर्वी ६८ प्रत्येकनाम ६९ सुस्वरदुःस्वरद्वयं ७१ एकतरं वेद्यं ७२ चेति द्वासप्ततिः कर्मप्रकृतयो
मुक्तिपुरीद्वारार्गलारूपा उपान्त्ये समये क्षपयति ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ अथायोग्यन्त्ये समये याः प्रकृतीः
क्षपयित्वा यत्करोति तत् श्लोकत्रयेणाह—

अन्त्ये ह्येकतरं वेद्यमादेयत्वं च पूर्णता । त्रसत्त्वं वादरत्वं हि, मनुष्यायुश्च सद्यशः ॥ ११६ ॥
नृगतिश्चानुपूर्वी च, सौभाग्यं चोच्चगोत्रनाम् । पञ्चाक्षत्वं तथा तीर्थकृत्नामेति त्रयोदश ॥ ११७ ॥ क्षयं
नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये व्रजेत् । लब्धसिद्धत्वपर्यायः, परमेष्ठी सनातनः ॥११८॥ त्रिभिर्वशपकम् ।

व्याख्या—सोऽयोगी ‘हि’ स्फुटमन्त्ये समये एकतरं वेद्यं १ आदेयत्वं २ पर्यायत्वं ३ त्रसत्त्वं ४ वादरत्वं ५ मनुष्यायुः
६ सद्यशः ७ मनुष्यगतिः ८ मनुष्यानुपूर्वी ९ सौभाग्यं १० उच्चैर्गोत्रं ११ पञ्चेन्द्रियैर्जातिः १२ तीर्थकृत्नामेति १३ त्रयोदश प्रकृतीः
क्षयं नीत्वा तत्रैव समये ‘लब्धसिद्धत्वपर्यायः’ प्राप्तिसिद्धत्वनामा परमेष्ठी सनातनः स ततो भगवान् शाश्वतः ‘लोकान्तं’ लोक-
पर्यन्तं ‘व्रजेत्’ गच्छेदिति । तथाऽयोगिगुणस्थानस्थो जीवोऽबन्धनस्तथैकतरवेद्य १ आदेय २ यशः ३ सुभग ४ त्रसत्रिक-
७ पञ्चेन्द्रियत्व ८ मनुष्यगति ९ मनुष्यानुपूर्वी १० मनुष्यायुः ११ उच्चैर्गोत्रं १२ तीर्थकृदिति १३ त्रयोदशप्रकृतिवेदयिता,

१ च प्र० २ पञ्चेन्द्रियत्व प्र०

अन्त्यसमयद्रयादर्वाक् पञ्चाशीतिसत्ताकः, उपान्त्ये समये त्रयोदशप्रकृतिसत्ताकोऽन्त्यसमयेऽसत्ताकः ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥
इत्ययोगिनश्चतुर्दशम् ॥ निष्कर्मात्मा तस्मिन्नेव समये लोकान्तं वध यातीत्याशङ्क्याह—

पूर्वप्रयोगतोऽसङ्गभावाद्बन्धविमोक्षतः । स्वभावपरिणामाच्च, सिद्धस्योद्धर्ध्वगतिर्भवेत् ॥ ११९ ॥

व्याख्या—‘सिद्धस्य’ निष्कर्मात्मन उद्धर्ध्वगतिर्भवेति, कस्मात् ?—‘पूर्वप्रयोगतः’ अचिन्त्यात्मवीर्येणोपान्त्यसमयद्वये
पञ्चाशीतिकर्मप्रकृतिक्षपणाय पूर्वं यः प्रयुक्तः प्रयोगो—व्यापारः प्रयत्नस्तस्मादित्येको हेतुः, न सङ्गोऽसङ्गस्तस्य धावोऽसङ्गभावस्त-
स्मात्, कर्मोपग्रहरूपसङ्गमाभावात् इति द्वितीयो हेतुः, बन्धाद्धिमोक्षो बन्धविमोक्षस्तस्माद्वाढतरबन्धनविमुक्तितः इति तृतीयो
हेतुः, स्वभावेन परिणामनं स्वभावपरिणामस्तस्मात्तथास्वाभाव्यादिति चतुर्थो हेतुः ॥ ११९ ॥ अथेतिहेतुचतुष्टयं सद्यष्टान्तं क्रमेण
श्लोकचतुष्टयेनाह—

कुलालचक्रदोलेषुमुख्यानां हि यथा गतिः । पूर्वप्रयोगतः सिद्धा, सिद्धस्योद्धर्ध्वगतिस्तथा
॥१२०॥ सृष्टेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाऽस्त्रलाबुनः । कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥१२१॥
एरण्डफलबीजादेर्वन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदात्, सिद्धस्यापि तथेक्ष्यते ॥ १२२ ॥ यथा-

१ मद्गम्या० प्र०

धस्तिर्यगूद्धर्ध्वं च, लेष्टुवाय्वग्निवीचयः । स्वभावनः प्रवर्त्तन्ते, तथोद्धर्ध्वगतिरात्मनः ॥ १२३ ॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥

व्याख्या—‘कुलालचक्रं’ कुम्भकारोपकरणं ‘दोला’ मेक्षा ‘इषुः’ घाणमन्मृग्यानां यन्त्रगोफणमृत्तगोष्ठवार्त्तानां गतिः ‘दि’ स्फुटं ‘यथा’ येन प्रकारेण पूर्वयोगतः ‘सिद्धा’ प्रसिद्धा ‘तथा’ तेन प्रकारेण पूर्वयोगतः भिद्भयोद्धर्ध्वगतिः सिद्धेत्येको दृष्टान्तः, तथा ‘मृद्धेपमङ्गनिर्मोक्षात्’ मृत्तिकामलेपमद्गतिमुक्तेः ‘अप्सु’ जलेषु ‘अलाघुनः’ तुम्बकफल्स्य यथोद्धर्ध्वगतिर्दृष्टा, तथा कर्मलेपसङ्गनिर्मोक्षात्सिद्धानामुद्धर्ध्वगतिः स्मृतेति द्वितीयहेतुदृष्टान्तः, तथा ‘एरण्डकृत्यर्थाजादेः’ एरण्डकलवीजस्य, आदिशब्दान्छणवीजादेर्वन्धच्छेदाद्यथोद्धर्ध्वगतिर्भवेत्, कर्मवन्धनविच्छेदात्सिद्धस्यापि तथैवोद्धर्ध्वगतिर्भवेतीति तृतीयहेतुदृष्टान्तः, तथा ‘लेष्टुवाय्वग्निवीचयः’ इष्टुकावण्डसमीरणवहनयः स्वभावन एव यथाऽधस्तिर्यगूद्धर्ध्वं क्रमेण प्रवर्त्तन्ते, तथाऽऽत्मनोऽपि स्वभावादेर्योद्धर्ध्वगतिर्भवेतीति चतुर्थहेतुदृष्टान्तः ॥ १२०-१२३ ॥ अथाधस्तिर्यग्लोकेषु निष्कर्मात्मनो गतिनिषेधमाह—

न चाधो गौरवाभावाच्च तिर्यक् प्रेरकं विना । न च धर्मास्तिकायस्याभावाच्चोकोपरि व्रजेत् ॥ १२४ ॥

व्याख्या—सिद्धात्माऽधस्ताच्च गच्छति, कस्मात् ?—‘गौरवाभावात्’, ‘कर्मजनितगुरुत्वाभावात्’, तथा ‘प्रेरकं विना’ प्रेरककर्माभावाच्च तिर्यक् गच्छति, तथा निष्कर्मा लोकोपरि न व्रजेद्लोकमध्ये न गच्छेत्, कस्मात् ?—धर्मास्तिकायस्याभावाच्च.

१ इयेकहेतुदृष्टान्तः २ तेषु० प्र० ३ धारण प्र०

लोके दि जीवपुद्गलयोगी जेतुर्धर्मास्तिकायो भवति, मत्स्यादीनां सलिलत्, तस्य धर्मास्तिकायस्यालोकेऽसम्भवात् सिद्धात्मा लोकोपरि न व्रजेदिति ॥ १२४ ॥ अथ सिद्धानां स्थितिर्यथा सिद्धिशिलोपरि लोकान्तेऽस्ति तथा श्लोकरूपेणाह—

मनोज्ञा सुरभिस्तन्वी, पुण्या परमभासुरा । प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १२५ ॥ नृलोकतुल्यत्रिष्कम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा । ऊर्ध्वं तस्याः श्रितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ १२६ ॥ शुग्मम् ॥

व्याख्या—प्राग्भारा नाम उद्युग्मा सिद्धिशिलेतिलुयाना पृथ्वी ‘लोकमूर्ध्नि’ चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकशिरसि व्यवस्थिता वर्त्तते, तस्याः श्रितेरूर्ध्वं ‘लोकान्ते’ लोकान्तस्पृष्टान्तप्रदेशाः सिद्धाः समवस्थिता भवन्ति, कथंभूता सितिः ?—‘मनोज्ञा’ मनोज्ञारिणी, पुनः कथंभूता ?—‘सुरभिः’ कर्पूरपूरात्रिकसौरभ्या, ‘तन्वी’ सूक्ष्मावयवत्वात्कोमला, न तु स्थूलावयवत्वात्कर्कशा, ‘पुण्या’ पवित्रा ‘परमभासुरा’ महृष्टतेजोभासुरा ‘नृलोकतुल्यत्रिष्कम्भा’ मनुष्यक्षेत्रसमपिस्तारा ‘सितच्छत्रनिभा’ श्वेतच्छत्राकारा, पामोत्तानच्छत्रोपमा, ‘शुभा’ सकलशुभोदयमयीति, सा प्राग्भारा वसुधा सर्वाथैभिद्धाद् द्वादशभिर्योजनैर्भरति, मध्यदेशे साऽऽष्टयोजनौ, प्रान्तेषु तीक्ष्णपारोपमा, तस्याः शिलाया उपरि एकेन योजनेन लोकान्तं, तस्यै योजनस्य यथतुर्थः कौशन्तरय

१ मन्त्र प्र० २ जनक्या प्र० ३ तन्मस्य प्र०

पष्ठे भागे सिद्धानामवगाहना भवति, यदाह—ऊर्ध्वंसीपवभाराए, उवर्ति खलु जोयणार्थं जो कातो । कोरास य छवभाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ १ ॥ तथाहि—द्विसहस्रधनुःपमाणस्य क्रोशस्य पष्ठे भागे धनुषां त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशच्च भवन्ति, धनुस्त्रिभागद्वयं च, तत् उत्कृष्टतः सिद्धात्मप्रदेशानामवगाहनाऽध्येतावत्येव भवति नापिकेति, यदाह—*तिन्नेव धणुसयाहं, धणु निचोस च धणु तिथागोणं । इअ एसा उकोसा, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ अथ सिद्धात्मप्रदेशानामवगाहनाऽऽकारमाह—

कालावसरसंस्थाना, या मूषागतसिक्थका । तत्रस्थाकाशसंकाशाऽऽकारा सिद्धावगाहना ॥ १२७ ॥

व्याख्या—या ‘मूषागतसिक्थका’ गलितमदना ‘कालावसरसंस्थाना’ अन्तकालसमयाकारा भवति, तत्रस्थो य आकाशस्तत्संकाशाकारा गलितमदनमूषागताकाशसदृशाकृतिः सिद्धानामवगाहना भवतीति ॥ १२७ ॥ अथ सिद्धानां ज्ञानदर्शनविषयमाह—

ज्ञातारोऽखिलतत्त्वानां, द्रष्टारश्चैकहेलया । गुणपर्याययुक्तानां, त्रैलोक्योदरवर्त्तिनाम् ॥ १२८ ॥

व्याख्या—‘त्रैलोक्योदरवर्त्तिनां’ चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकमध्यवर्त्तमानानां ‘गुणपर्याययुक्तानां’ पूर्वोक्तभस्वरूपैर्गुणैः

१ ०यणस प्र०

* इपत्राग्भाराया उपरि खलु योजने य क्रोश । क्रोशस्य च पष्ठभागे सिद्धानामवगाहना भणित ॥ १ ॥

* त्रीण्येव धनु शतानि धनुषि त्रयस्त्रिंशच्च धनु तृतीयभागोन्म । इत्येपोत्कृष्टा सिद्धानामवगाहना भणित ॥ १ ॥

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

पर्यायैश्चापलक्षितानां ' अविबलनश्चाना ' समसर्जावार्जावादिपदार्थानां ते' ज्ञातारो भवन्ति, विशेषोपयोगतया परिच्छेदका भवन्ति, न केवलं ज्ञाताः, समयान्तरं ' एकहेलया ' सापान्योपयोगतया दृष्टाश्च भवन्ति ॥ १२८ ॥ अथ सिद्धानां गुणाष्टकं सहेतुकं श्लोकत्रयेणाह—

अनन्तं केवलज्ञानं, ज्ञानावरणसंक्षयात् । अनन्तं दर्शनं चैवं, दर्शनावरणक्षयात् ॥ १२९ ॥
शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे, क्षायिके मोहनिग्रहात् । अनन्ते सुखवीर्ये च, वेद्यविघ्नक्षयात्कमात् ॥ १३० ॥
आयुषः क्षीणभावत्वात्, सिद्धानामक्षया स्थितिः । नामगोत्रक्षयादेवामूर्त्तानन्ताऽवगाहना ॥ १३१ ॥
त्रिभिर्विशेषकम्

व्याख्या—सिद्धानामनन्तं केवलज्ञानं भवति, कस्मात्?—ज्ञानावरणसंक्षयात्, अनन्तं दर्शनं चापि भवति, कस्मात्?—दर्शनावरणक्षयात्, सिद्धानां शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे भवतः, कथंभूते?—क्षायिके, कस्मात्?—मोहनिग्रहात्, दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोः क्षीणत्वात्, अनन्ते सुखवीर्ये च भवतः, कस्मात्?—वेद्यविघ्नक्षयात्, वेद्यक्षयानन्दन्तं सुखं, विघ्नक्षयादनन्तं वीर्यमित्यर्थः, सिद्धानामक्षया स्थितिर्भवति, कस्मात्?—आयुषः क्षीणभावत्वात्, मूर्त्तत्वेनानन्तानामवगाहो मूर्त्तानन्तावगाहना तस्या अभावोऽमूर्त्तानन्ताव-

१ मिद्धा मुक्ता प्र० २ समयान्त प्र० ३ चापि प्र० ४ क्षायिके शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे प्र० ५ गति प्र०
गाहना, सिद्धानाममूर्त्तानन्तावगाहना भवति, कस्मात्?—नामगोत्रक्षयादेवेति ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥ अथ सिद्धानां यत्सो
ख्य तदाह—

यत्सौख्यं चक्रिशक्रादिपदवीभोगसंभवम् । ततोऽनन्तगुणं तेषां, सिद्धावक्लेशमव्ययम् ॥ १३२ ॥

व्याख्या—चक्रिशक्रादिपदवीभोगसंभव यत्सौख्यमुत्पृष्टं वर्ण्यते ततोऽपि 'तेषां' सिद्धानामनन्तगुणं भवति, क? 'सिद्धो' मुक्तो, यथभूतं मौन्यं?—'अत्रेण' अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिर्गताः क्लेशाः, ते न विद्यन्ते यत्र तदक्लेशं, पुनः कथम्भूतं?—'अव्यय' न व्येति—न चलति स्वस्वभावादिनि अव्ययमक्षयमित्यर्थः ॥ १३२ ॥ अथ तैः सिद्धैर्भगवन्निर्यत्याप्तं तत्सारमाह—

यदाराध्यं च यत्साध्यं, यद्ध्येयं यच्च दुर्लभम् । चिदानन्दमयं तत्तैः, संप्राप्तं परमं पदम् ॥ १३३ ॥

व्याख्या—'तैः' सिद्धैर्भगवन्निर्यत्याप्तं पदं प्राप्तं, तत्किम्? 'यदागध्य' आराधकैर्यत्पदं समागध्यते, तथा 'यत्साध्य' साधकैः पुरुषैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रादिभिः कृत्वा यत्साध्यते, तथा 'यद्ध्येयं' ध्यायकैर्योगिभिर्यत्सदैव नानाविधध्यानोपायैर्व्यायते, तथा 'यच्च दुर्लभं' यत्पदमभव्यानां सर्वथा दुर्लभं, भव्यानामपि केषाञ्चिदप्राप्तसामग्रीविशेषाणां सर्वथा दुर्लभं, दूरभव्यानां तु कष्टलभ्यमित्येवं यद् दुर्लभं तदपि तैर्न्यैर्भगवद्भिः सिद्धैर्लब्धमिति कथम्भूतं तत्परमं पदं?—'चिदानन्दमयं' चिद्रूपपरमानन्दमयमिति ॥ १३३ ॥ अथ मुक्तेः स्वरूपं बृहद्ब्रह्मेणाह—

१ गता प्र० २ नृत्तनाट प्र०

नात्यन्ताभावरूपा न च जडिममयी व्योमवष्ट्यापिनी नो, न व्यावृत्तिं दधाना विषयसुखधना
नेष्यते सर्वविद्धिः । सद्रूपात्मप्रसादाद् दृगवगमगुणौघेन संसारसारा, निःसीमाऽत्यक्षसौख्योदयवस-
तिरनिःपातिनी मुक्तिरुक्ता ॥ १३४ ॥

व्याख्या—मुक्तिः कैश्चिदत्यन्ताभावरूपा मन्यते, अन्यैर्जडिममयी—ज्ञानाभावमयी मन्यते, अपरैर्व्योमवष्ट्यापिनी मन्यते, एकैर्व्यावृत्तिं—पुनरावृत्तिं दधाना मन्यते, अपरैः क्लिष्टकर्मभिर्विषयसुखधना—विषयसुखमयी मुक्तिरुच्यते, सर्वविद्धिस्तु श्रीसर्वज्ञैरभावरूपा जडिममयी व्योमवष्ट्यापिनी व्यावृत्तिरूपा विषयसुखमयी वा मुक्तिर्नेष्यते, किंतु 'सद्रूपात्मप्रसादात्' विद्यमानचिद्रूपान्मप्रसत्तितो 'दृगवगमगुणौघेन' सम्यग्दर्शनज्ञानगुणसमूहेन कृत्वाऽसारभूतसंसारत्सारभूता, 'निःसीमात्यक्षसौख्योदयवसतिः' अनन्तातीन्द्रियानन्दानुभवस्थानं, 'अनिःपातिनी' निपातरहिता 'मुक्तिः' सिद्धिः 'उक्ता' गदितेति ॥ १३४ ॥ अथ पूर्वपिण्डचितवहुशास्त्रेभ्यो गुणस्थानार्थसंगतश्लोकसंग्रहेण प्रकरणोद्धारमाह—

इत्युद्धृतो गुणस्थानरत्नराशिः श्रुतार्णवात् । पूर्वपिसूक्तिनावैव, रत्नशेखरसूग्निभिः ॥ १३५ ॥

व्याख्या—'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण 'उद्धृतः' प्रकटीकृतः कर्मतापन्नो 'गुणस्थानरत्नराशिः' गुणस्थानान्येव रत्नानि गुण-

श्रीगुणस्थानक्रमारोहः

स्थानरत्नानि तेषां राशिर्गुणस्थानरत्नराशिः, कस्मात् ?—'श्रुतार्णवाद्' आगमरत्नाकरान्, कथं कृत्वा ?—'पूर्वपिंशुक्तिनावैव' पूर्वपीणां सूक्तिः—शोभनोक्तिः पद्यरचना सैव नौस्तया पूर्वपिंशुक्तिनावैव कृत्वा न त्वात्मकृतैः श्लोकैः, प्रायः पूर्वपरिचितैरेवैत्यर्थः, कैरुधृतः ?—'रत्नशेखरसूरिभिः' बृहद्दृच्छीयश्रीवज्रसेनसूरिशिष्यैः श्रीहेमतिलकसूरिपट्टप्रतिष्ठितैः श्रीरत्नशेखरसूरिभिः स्वपरोपकाराय मकरणरूपतया प्रकटित इत्यर्थः ॥ १३५ ॥ इति श्री गुणस्थानक्रमारोहवृत्तिः ।

१ तै श्लोकै० प्र०

इति श्रीबृहद्दृच्छीयरत्नशेखरसूरिसूत्रितो गुणस्थानक्रमारोहः सवृत्तिकः

श्री रत्नशेखरसूरिकृतस्वोपज्ञदीपिकया विवृत्या समेतं
गुरुगुणपद्त्रिंशत्पद्त्रिंशिकाकुलकम् ।

श्रीमदर्हपदं जीयान्, महोदयमहोज्ज्वलम् । जगत्त्रितयसाम्राज्यं, यत्प्रसादार्द्धिवर्णिका ॥ १ ॥
कलाकुलनयज्ञान-संपद्विस्तारकारकः । श्रीयुगादिजिनो भूयाद्, भविनां भूरिभूतये ॥ २ ॥
भूर्भुवःखल्वयीशाचर्यः, कल्याणार्णवचन्द्रमाः । निरस्ताशेषदोषः श्री-शान्तिः शान्तिं तनोतु वः ॥ ३ ॥
स श्रीनेमिजिनो जीयात्, श्यामलाऽपि यदङ्गरूक् । सुधाञ्जनशलाकेव, सुदृशां दृग्विशुद्धये ॥ ४ ॥
यन्नामस्मृतिमात्रेण, मनोऽभीष्टार्थसिद्धयः । प्राणिनां स्युः सदा सश्री-पार्श्वनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ ५ ॥
सर्वज्ञोऽतिशयश्रीमान्, प्रातिहार्यैरलंकृतः । वर्धमानो जिनो भूयाद्, वर्द्धमानसमृद्धये ॥ ६ ॥
श्रीमन्तोऽजितनाथाद्याः, सर्वेऽन्येऽपि जिनेश्वराः । सन्तु श्रेयःश्रियः सिद्धयै, वृद्धयै च सुखसंपदाम् ॥ ७ ॥
अहंपूर्विकया सर्वा, यं सेवन्ते सुलब्धयः । स गुरुगौतमो मे स्ताद्, अद्भुताभीष्टलब्धये ॥ ८ ॥
अर्हद्भिःसरसीभवं गणधरादित्यप्रभोद्भासितं, त्रैलोक्येश्वरषट्पदैरविरतं चाघ्रातसारं मुदा ।
हस्ताद् दृष्टिपथान्मुखाच्च मुनिभिर्नित्यं न यन्मुच्यते, तज्जैनागमपङ्कजं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥ ९ ॥

श्रीशारदा शारदशर्वरीश-विभाभिरामोज्ज्वलकायकान्तिः ।

ममोज्ज्वलध्यानपथावतीर्णा, वर्णानुपूर्वी विमलां तनोतु ॥ १० ॥

श्रीवज्रसेनाभिधसूरिराजैः, सुसूत्रधारैरिव वैवर्धयामि ।

अयं जनोऽप्यश्मसमोऽभिवन्द्य-स्तेभ्यो गुरुभ्योऽस्तु मम प्रणामः ॥ ११ ॥

एवं देवगुरुभ्यः, कृतप्रणामोऽहमल्पबुद्धिरपि । विवृणोमि सुगुरुगुणपद्-त्रिंशत्पद्त्रिंशिकाकुलकम् ॥ १२ ॥

इह हि शिष्टसमयानुसारतो मङ्गलार्थमभीष्टदैवतनमस्काराविर्भाविकां संबन्धादिगर्भां च सूत्रस्येयामादिगाथायाह—

१ क-गुणके " जीयात् " ॥

वीरस्स पए पणमिय, सिरिगोयमपमुहगणहराणं च । गुरुगुणछत्तीसीओ, छत्तीसं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

व्याख्या—वीरस्य पादौ प्रणम्य गुरुगुणपद्त्रिंशिकाः पद्त्रिंशत्संख्याकाः कीर्तयिष्यामीति संतङ्कः । तत्र विशेषेण ईरयति प्रेरयत्यष्टकर्माणीति वीरः । यदाह—“ विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्दीर इति स्मृतः ॥ १ ॥ ” तस्य च श्रीवीरस्य श्रीसिद्धार्थभूपालविशालकुलकमलमार्तण्डमण्डलस्य श्रीत्रिशलादेवीकुसिसरसी-रुहराजहंसस्य बाललीलःदलितप्रसर्पद्सुपर्वाखर्वगर्वावदातसंतुष्टाखिलाखण्डलाद्यमरुन्दपरिकल्पितवीर इतिनामधेयस्य तीर्थाधि तस्य पादौ प्रणम्य; तथा श्रीगौतमप्रमुखगणधराणां च श्रीगौतमसद्गोत्रश्रीमदिन्द्रभूतिप्रभृत्येकादशगण-नायकानां च । ते च इमे—‘ पठमित्य इदंभूर्इ, वीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति । तइए अ वाउभूर्इ, तओ विअत्ते सुहम्मे अ ॥ १ ॥ मंडिअमोरियपुत्ते, अकंपिए चैव अयलभाया य । मेअज्जे अ पभासे, गणहरा हुंति वीरस्स ॥ २ ॥ ’ एतेषां च पादौ प्रणम्य । एते च वक्ष्यमाणनिःशेषगुरुगुणानां आधारभूतत्वाद्दिशेषतश्चात्र प्रणामार्हाः । तथा च “ शृणाति सद्धर्मम् ” इति गुरुः । स च गुणवानेव तत्त्वतो विशुद्धसम्यक्त्वभावबोधजनकसद्भेदशनादिसमर्थो भवति । यदाह—“ आयारे वट्टंतो, आयापर-रुवणाअ संकंतो । आयापरिब्वट्टो, सोऽसुद्धपरुवणे भट्टओ ॥ १ ॥ गुणसुट्टिअस्स वयणं, महुघयसित्तू व्व पावओ भाइ । गुणहीणस्स न रेइइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥ २ ॥ ” अपि च—“ वाङ्मात्रसाराः परमार्थवाद्या, न दुर्लभाश्चित्रकैरा मनुष्याः ।

१ इत्यमाणा हि निष्कतिरिति न विद्यते मन्व्यगता । निष्कतिर्निता एषिर्नतुपलभ्यते युवाप्यादौ इति निहयाया ममद् अविद्यययो वा सूरेरामप्रभोऽगोचरो न ॥

२ आचारं वर्धमान आचारप्रस्पणायौ सकान्तः । आचारपरिभ्राट् ऋद्धप्रस्पणायौ भाज्य ॥ १ ॥ ३ व-पुस्तके “ चित्ररूपा ” ॥

ते दुर्लभा ये जगतो हिताय, धर्मं स्थिता धर्ममुदाहरन्ति ॥ १ ॥ केचित् मवात्मिव रङ्गभूतः स्वयं १५, केचित् चूर्णकणव-
त्पररङ्गयोग्याः । कश्मीरजातमिव सौरभपूरगौरा, धन्याः पुनः स्वपररङ्गकतां भजन्ति ॥ २ ॥ आत्ममनोधरिणोऽपि विशुद्ध-
बुद्धेरन्यमवोधनविधिं प्रति कोऽधिकारः । सामर्थ्यमस्ति तरितुं सगितो न यस्य, तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥ ३ ॥ ”
अतो गुणवानेव गुरुरालोक्यते । ते च गुणा ज्ञानदर्शनचारित्र्यादयो यद्यप्यमेयास्तथाऽपि पद्त्रिंशत्पद्त्रिंशत्संख्याया
कलितानां कतिपयगुरुगुणानां याः पद्त्रिंशत्संख्याकाः पद्त्रिंशिकास्ताः कीर्तयिष्यामि ।

ननु किमित्येवं गुरुगुणाः कीर्त्यन्ते ? उच्यते, गुणवान् गुरुरेव संपति दुष्पमान्धकारसंभारतिरोहितसन्मार्गानां माणिनां
दीपमदीपकत्वत्वादनल्पगौरवाहो भवति । यतः—“ गुरुगौरवाहो गुरुरूपक्रियातः, कलौ देवतोऽपीति सम्यग् मतिर्मे । तमि-
श्रातमिश्रापहारी कृशानु-वृहद्भानुरित्युच्यते किं न लोकैः ? ॥ १ ॥ ” अपि च—“ यद्वत्सहस्रकिरणः, प्रकाशको निश्चितति-
मिरमग्रस्य । तद्गुरुत्वं भवेद्, अज्ञानध्वान्तपतितस्य ॥ २ ॥ ” वाचरुमुष्पोऽप्याह—“ द्रुष्पतिकारो माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च
लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहापुत्र च, सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥ १ ॥ गुर्वायत्ता यस्मा-च्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि । तस्माद्गुर्वा-
राधनपरेण हितकाक्षिणा भाव्यम् ॥ २ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ यथोक्तगुरुगुणपद्त्रिंशत्पद्त्रिंशिकासु प्रथमपद्त्रिंशिकासु मन्त्रगाथामाह—

चउविहृदेसणकंहर्षे—ममभावणासोरणाइकुसलमर्द्धाचउविहचउज्ञाणविऊ, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २ ॥

१ अ-क-गुणके “ देवतोऽपीति ” ॥

व्याख्या—चतुर्विधासु देशनासु, चतुर्विधासु कथासु, चतुर्विधेषु धर्मेषु, चतुर्विधासु भावनासु, चतुर्विधासु स्मरणा-
दिषु कुशलान्त्रिपुणा मतिर्यस्येति स तथा । तथा प्रत्येकं प्रत्येकं चतुर्विधानि चत्वारि ध्यानानि वेचीति चतुर्विधचतु-
र्ध्यानविदिति पद्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति समासार्थः । व्यासार्थस्त्वयम्—तत्र चतुर्विधा देशना । यथा—आत्मेपिणी १ विसे-
पिणी २ संवेगिनी ३ निर्वेदिनी ४ चेति । उक्तं च—“ अक्खेविणी अ विक्खे-विणी य संवेगणी तहा चेव । निव्वेअणिआ
एसा, चउव्विहृ देसणा होइ ॥ १ ॥ आयारं ववहारं, हेऊदिद्वंत् दिद्विवायाई । देसिज्जइ जीए सा, अक्खेविणिदेसणा पद-
मा ॥ १ ॥ परमयविऊद्वि परमय-वयणेहिं जीइ परमयाउ जणो । विक्खेविज्जइ एसा, विक्खेविणिदेसणा वीआ ॥ २ ॥ उच-
समाविवेगसंवर-समयासंतोससंभवं सुक्खं । वणिज्जइ जीए सा, संवेअणिदेसणा तइआ ॥ ३ ॥ जरमरणरोगसोगा-इएहिं
अद्वारुणं भवसक्खं । पयाडिज्जइ जीए सा, निव्वेअणिदेसणा तुरिया ॥ ४ ॥ ” तथा चतुर्विधा कथा । यथा—अर्थकथा,
कामकथा, धर्मकथा, संकीर्णकथा चेति । यदुच्यते—“ अर्थं कामं च धर्मं च, तथा संकीर्णरूपताम् । आश्रित्य वर्तते लोके,
कथां तावच्चतुर्विधा ॥ १ ॥ सामादिधानुवादादि-कृष्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथास्यस्य प्रकीर्तिता ॥ १ ॥
संक्षिप्तचित्तहेतुत्वात्, पापसंवन्यकारिका । तेन दुर्मितिवर्तिन्याः, प्रापणप्रवणा मता ॥ २ ॥ कामोपादानगर्भार्था, वयोदाक्षिण्य-
मूचिका । अनुरागेक्षिताधुत्या, कथा कामस्य वर्णिता ॥ ३ ॥ सा मलीमसकामेषु, रागोत्कर्षविधायिका । विपर्यासकरा
तेन, हेतुभूतैव दुर्मितेः ॥ ४ ॥ दयादानक्षमाद्येषु, धर्मोपदेशेषु प्रतिष्ठिता । धर्मोपादेयतागर्भा, सुधैर्धर्मकथोच्यते ॥ ५ ॥ सा

६ अ-क-गुणके “ निर्वेदिनी ” ॥

शुद्धचित्तहेतुत्वात्, पुण्यकर्मविनिर्जरे । विधत्ते तेन विज्ञेया, कारणं नाकमोक्षयोः ॥ ६ ॥ त्रिवर्गसाधनोपाय-प्रतिपादनत-
त्परा । याज्ञेकरससारार्था, सा संकीर्णकथोच्यते ॥ ७ ॥ चिन्नाभिप्रायहेतुत्वा-दनेकफलदायिका । विदग्धताविधानेन, हेतु-
भूतैव सद्गतेः ॥ ८ ॥ ” तथा चतुर्विधो धर्मः । यथा—दानधर्मः १, शीलधर्मः २, तपोधर्मः ३, भावधर्मः ४ चेति । तत्र
दानधर्मस्त्रिधा—ज्ञानदानम् १, अभयदानम् २, धर्मोपष्टम्भदानम् ३ च । तत्र ज्ञानदानं यथा—“ जीवाजीवाडपय-त्यवि-
त्यरं उभयलोअकरणिज्जं । जेणं जाणंति जणा, तहाणं नाणदाणंति ॥ १ ॥ ” अभयदानं यथा—“ जं सुहुमवायराणं, जी-
वाण ससत्तिओ सयाकालं । कीरइ रक्खणजयणा, तं जाणह अभयदाणंति ॥ १ ॥ ” धर्मोपष्टम्भदानं
यथा—“ जं धम्मसाहगाणं, साहूणं असणवसणमाईणि । दिज्जंति सुपत्ताणं, धम्मोवदंभदाणमिणं ॥ १ ॥ ” अथ शीलमपि
त्रिधा—सदाचारशीलं, अष्टादशसहस्रशीलाङ्गलक्षणं २, ब्रह्मव्रतपालनरूपं ३ च । यदुच्यते—“ सुद्ध समायारमनिदणिज्जं,
सहस्रअट्टारसभेअभिन्नं । वंभाभिहाणं च महव्वयंति, सीलं तिहा केवल्लिणो वयंति ॥ १ ॥ ” अथ तपः, तद् द्विविधम्—वाह्यम्,
अभ्यन्तरं २ च । यथा—“ अणसणमूणोयरिया, त्रितीसखेवणं रसत्ताओ । कायकिल्लेसो संली-णया य वज्झो तवो
होइ ॥ १ ॥ पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्जाओ । ज्ञाणं उस्सग्गोऽविय, अविभतरओ तवो होइ ॥ २ ॥ ” कैश्चित्त-
पक्षिविधं शारीरादिभेदमप्युच्यते, यथा—“ देवातिथिगुरुभाज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥ १ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं मियं हितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥ २ ॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं,

मौनमात्मविनिर्ग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतन्, मानसं तप उच्यते ॥ ३ ॥ शारीराद्वाङ्मयं सारं, वाङ्मयान्मानस शुभम्। जघन्यमध्य-
मोत्कृष्ट-निर्जराकारणं तपः ॥ ४ ॥ ” अथवा सात्त्विकं १ राजसं २ तामसं ३ इति त्रिधा। यथा—“ श्रद्धया परया तप्तं,
तपस्तत्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः, सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १ ॥ सत्कारमानपूजार्थं, तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते
तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमधुवम् ॥ २ ॥ मूढग्राहेण यच्चात्म-पीडया क्रियते तपः। परस्योच्छेदनार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतम्
॥ ३ ॥ ” अथ भावधर्म उच्यते, स च क्षायोपशामिकादिकशुभलेइयापरिणामविशेषादानादौ सर्वत्र स्वारसिकः चित्तस-
मृष्टास एव भावधर्म उच्यते। यदाह—“ दाने शीले तपसि च, यत्स्वारसिको मनःसमुल्लासः। शुभलेइयानन्दमयो,
भवत्यसौ भावधर्म इति ॥ १ ॥ ” विपर्यासे तु न धर्मः। यतः—“ ज्ञाने ध्याने दाने, माने माने सटोद्यतो भवतु। यदि
निर्मलो न भाव—स्तदा हृतं भस्मानि समग्रम् ॥ १ ॥ ” अपि च—“ ग्रनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमाखिलं, क्रियाकाण्डं
चण्डं रचितमवनी सुप्तमसकृत्। तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरं, न चेच्चित्ते भावरतुपवपनवत्सर्वमफलम् ॥ १ ॥ ”
अपि च—“ ज्वालाभिः शलभा जलैर्जलचराः स्फूर्जजटाभिर्वटा, मौण्ड्यैरुरणकाः समस्तपशवो नाग्न्यैः खरा
भस्मभिः। कष्टाङ्गीकरणैर्द्रुमाः शुक्रवराः पातैर्वका ध्यानकैः, किं सिद्ध्यन्ति न भावशुद्धिविकलाः स्युश्चेत् क्रियाः
सत्फलाः ॥ १ ॥ ” चतस्रो भावनाः। यथा—ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना, वैराग्यभावना,
चेति। तथा चोच्यते—“ भावनाभिरसंमूढो, मुनिर्ध्याने स्थिरीभवेत्। ज्ञानदर्शनचारित्र-वैराग्योपगताश्च ताः ॥ १ ॥ वाच-

१ तीर्थकारादिब्रह्मणे ॥

ना पृच्छना सानु-प्रेक्षणं परिवर्तनम्। सद्धर्मदेशनं चेति, ज्ञातव्या ज्ञानभावना ॥ २ ॥ संवेगः प्रशमः स्थैर्य-मसंमूढत्वमस्मयः।
आस्तिक्यमनुकम्पेति, ज्ञेया सम्यक्त्वभावना ॥ ३ ॥ ईर्यादिविषयायत्ता, मनोवाकायगुप्तयः। परीसहसहिष्णुत्व-मिति
चारित्रभावना ॥ ४ ॥ विषयेष्वनभिष्वङ्गः, कायतत्त्वानुचिन्तनम्। जगत्स्वभावचिन्तेति, वैराग्यस्थैर्यभावना ॥ ४ ॥ ” अथ
चतस्रः स्मरणादिकाः। यथा—स्मरणा, वारणा, नोदना, प्रतिनोदना चेति। यदाह—“ स्मरणा वारणा चैव, चोयणा
पाडिचोअणा। सीअताणं सुसीसाणं, दायव्वा ढोइ मूरिणा ॥ १ ॥ पंढट्टे सारणा बुत्ता, अणायारस्स वारणा। चुक्काणं
चोअणा भुज्जो, निट्टरं पडिचोअणा ॥ २ ॥ जहिं नत्थि सारणा वा-रणा य सचोअणा य गच्छंमि। सो गच्छोवि अग-
च्छो, संजमकामीहिं मुत्तव्वो ॥ ३ ॥ जीहाएवि लिहतो, न भद्दो जत्थ सारणा नत्थि। दंढेणवि ताडंतो, स भद्दो
सारणा जत्थ ॥ ४ ॥ ” इत्येतेषु देशनाकथाधर्मभावनास्मरणादिपदेषु यथायोगं करणकारणोपदेशादिविधौ कुशलमतिगुरुर्भ-
वतीति। अथ चतुर्विधानि चचारि ध्यानानि। यथा—आर्तध्यानं, रौद्रध्यानं, धर्मध्यानं, शुक्रध्यानं चेति। तच्च एकैकमपि
चतुर्विधम्। तत्रार्तं चतुर्था। यथा—अनिष्टयोगार्तं, इष्टनाशार्तं, रोगार्तं, निदानार्तं चेति। यदाहुः श्रीजिनभद्रगणिकसमाश्रम-
णपादा—“ अमणुज्जाणं सदा-इविसयवत्थूण दोसमइलस्स। धणिअं विओगचित्तण-मसंपयोगाणुसरणं च ॥ १ ॥
इष्टाणं विसयाई-ण वेअणाए अरागरत्तस्स। अविओगज्जवसाणं, तह संजोगाभिलासो अ ॥ २ ॥ तह मूलसीस-
रोगा-इवयणाए वियोगपणिहाणं। तंइसंपओगचित्तण, तप्पडिआराउलमणस्स ॥ ३ ॥ देविटचक्कट्टि-त्तणाइगुणरिद्धिपत्थ-

१ विस्तरे। २ भुव खञ्जिनाम् ॥ १ अ-इ-क-पुस्तके “ तह संपयोग ” इत्यपि ॥

णामइअ। अहंमं नियानचित्तण-मन्नाणाणुगयमच्चंतं ॥ ४ ॥ एअं चउच्चिहं रा-गदोसमोहंकिअस्स जीवस्स। अट्टज्जाणं
संसा-रवट्टुणं तिरिअगइमूलं ॥ ५ ॥ ” रौद्रध्यानमपि चतुर्था। यथा—रिंसानन्दरौद्रं १, मृपानन्दरौद्रं २, चौर्यानन्दरौद्रं ३,
संरक्षणानन्दरौद्रं ४ चेति। तथा चाह—“ सत्त्वहवेहबंधण-इहणंकणमारणाइपणिहाणं। अइकोहग्गाहघत्थं, निग्घिमण-
सोइमविवागं ॥ १ ॥ पिणुणासंभूसंभू-अभूयघायाइवयणपणिहाणं। मायाविणो अ संधण-परस्स पच्छअपावस्स ॥ २ ॥
तह तिक्वकोहलोहा-उलस्स भूओवघायणमणज्ज। परदव्वहरणचित्तं, परलोगावायनिरिविक्खं ॥ ३ ॥ सदाइविसयसाहण-
धणसंरक्खणपरायणमणिट्टं। सव्वाभिसंकणपरो-वघायकलुसाउलं चित्तं ॥ ४ ॥ एअं चउच्चिहं रा-गदोसमोहंकिअस्स जीवस्स।
रुहज्जाणं संसा-रवट्टुणं नरयगइमूलं ॥ ५ ॥ ” अथ धर्मध्यानं, तच्च त्रिभिः प्रकारैश्चतुर्था—“ मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेदं, यद्वाऽऽज्ञादि चतु-
र्विधम्। रूपस्थादि चतुर्था वा, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥ ” तत्र मैत्र्यादिभिश्चतुर्था। यथा—मैत्री १, प्रमोदः २, कारुण्यं ३,
माध्यस्थ्यं ४ चेति। यदाहुः श्रीहेमचन्द्रमूरिपादाः—“ मैत्री प्रमोदकारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्। धर्मध्यानमुपस्कृत्,
ताद्वि तस्य रसायनम् ॥ १ ॥ मा कार्पात् कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः। मुच्यतां जगदप्येषा, मतिमैत्री निग-
द्यते ॥ २ ॥ अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकनात्। गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥ दीनेष्वातेषु
भीतेषु, याचमानेषु जीवितम्। प्रतीकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥ ४ ॥ क्रूरकर्मसु निःशङ्कं, देवतागुरुनिन्देषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥ ५ ॥ ” तथा आज्ञादिभिश्चतुर्था। यथा—आज्ञाविचयः १, अपायाविचयः

२, विपाकविचयः ३, संस्थानविचयः ४ चेति । यदाह—“आज्ञाऽप्यायविपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात् । इत्थं वा ध्ये-
यभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ १ ॥ आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य, सर्वज्ञानामवाधिताम् । तत्रतश्चिन्तयेदर्थान्, तदाज्ञाध्यान-
मुच्यते ॥ २ ॥ गगद्वेपकपायाद्यै-र्जायमानान् विचिन्तयेत् । यत्रापायांस्तदपाय-विचयध्यानमिष्यते ॥ ३ ॥ प्रतिक्षणं समु-
द्भूतो, यत्र कर्मफलोदयः । चिन्त्यने चित्ररूपः स, विपाकविचयो मतः ॥ ४ ॥ अनाद्यन्तस्य लोकस्य, स्थित्युत्पादव्यया-
त्मनः । आकृतिं चिन्तयेद्यत्र, संस्थानविचयः स तु ॥ ५ ॥ ” अथ रूपस्थादि चतुर्धा । यथा—रूपस्थं १, पदस्थं २, पिण्ड-
स्थं ३, रूपातीतं ४ चेति । यदवाचि—“रूपस्थं च पदस्थं च, पिण्डस्थं रूपवर्जितम् । धर्मध्यानं चतुर्भेद-मिन्थं वा परिकी-
र्तितम् ॥ १ ॥ पश्यति प्रथमं रूपं, स्तौति ध्येयं ततः पदैः । तन्मयः स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतं ततो व्रजेत् ॥ २ ॥ यथाऽव-
स्थितमालम्ब्य, रूपं त्रिजगदीशिलुः । क्रियते यन्मुदा ध्यानं, तद्रूपस्थं निगद्यते ॥ ३ ॥ स्वाध्याये यदि वा मन्त्रे, गुरुदेव-
स्तुतावपि । चित्तस्यैकाग्रता यत्त-त्पदस्थं ध्यानमुच्यते ॥ ४ ॥ नाभिपद्मादिरूपेषु, ध्यानं स्थानेषु योगिनाम् । यदिष्टदेवता-
दीनां, तत्पिण्डस्थं निगद्यते ॥ ५ ॥ निर्लेपस्य निरूपस्य, सिद्धस्य परमात्मनः । चिदानन्दमयस्य स्याद्, ध्यानं रूपविवर्जि-
तम् ॥ ६ ॥ ” अथ शुक्लध्यानं चतुर्धा । यथा—पृथक्त्ववितर्कसमवीचारशुक्लं १, एकत्ववितर्कसमवीचारशुक्लं २, सूक्ष्मक्रिया-
प्रतिपातिशुक्लं ३, व्यवच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिशुक्लं ४ चेति । तत्स्वरूपं चेदम्—“एकत्रपर्ययाणां, त्रिविधनयानुसरणं भुताद्भ-
व्ये । अर्थव्यञ्जनयोगा-न्तरेष्वसंक्रमणमाद्यं तत् ॥ १ ॥ एवं श्रुतानुसारा-देकत्ववितर्कमेकपर्यायम् । अर्थव्यञ्जनयोगा-न्तरेष्व-

१ अ-४-पुरन्द-“योग”तेषु सन्-” इत्यपि ॥

संक्रमणमन्यत्तु ॥ २ ॥ निर्वाणगमनसमये, केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य । सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति, तृतीयं क्रीर्तितं ध्यानम् ॥ ३ ॥
केवलिनः शैलेशी-गलस्य शैलवदकम्पनीयस्य । उच्छिन्नक्रियामप्रति-पाति तुरीयं परमशुक्लम् ॥ ४ ॥ एकं त्रियोगभाजा-माद्यं
स्यादपरमेकयोगव्रताम् । तनुयोगिनां तृतीयं, नियोगानां चतुर्थं च ॥ ५ ॥ ” इति पद्त्रिंशद्गुणयुतो गुरुर्जयत्विति सर्वोत्क-
र्षेण प्रवर्तताम् । इति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ द्वितीयपद्त्रिंशिकाभूतगाथामाह—

पैणविहसम्मचरणवय-व्वहारायारसमिद्दसैज्झाए । इंगसव्वेगे अ रओ, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ ३ ॥

व्याख्या—प्रत्येकं पञ्चविधेषु सम्यक्त्वचारित्रव्रतव्यवहाराचारसमितिस्वाध्यायेषु, एकास्मिंश्च संवेंगे रतः, इति पद्-
त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—पञ्चविधं सम्यक्त्वम् । क्षायिकं १, क्षायोपशमिकम् २, वेदकम् ३,
औपशमिकं ४, सास्वादनं ५ चेति । यदुक्तम्—“खइअं १ खओवसमिअं २, वेअग ३ उवसामिअं ४ च सासणयं ५ ।
पञ्चविहं सम्मत्तं, पन्नत्तं वीयरगेहिं ॥ १ ॥ ” एतद्दमनिका यथा—कृतत्रिपुञ्जस्य चतुर्थगुणस्थानज्ञादारभ्य क्षपकत्वे प्रार-
ब्धे अनन्तानुग्रन्थिचतुष्कस्य मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वरूपपुञ्जत्रयस्य च क्षये क्षायिकसम्यक्त्वं भवति । अमाप्तपूर्वोऽध्यवसा-
यविशेषोऽपूर्वकरणमुच्यते । तत्र कृतत्रिपुञ्जस्य जीवस्य उदीर्णमिथ्यात्वस्य अनुदीर्णस्य चोपशमे क्षायोपशमिकं सम्य-
क्त्वं भवति । तेष्वेवानन्तानुवन्ध्यादिषु पदसु क्षपितेषु सम्यक्त्वपुञ्जे च बहुतरे क्षपिते चरमग्रासीकृतसम्यक्त्वपुद्गलानां

• अ. पुस्तके—“सासा । ” इत्यपि ॥

वेदने वेदकसम्यक्त्वं भवति । तथा अपूर्वकरणैव कृतग्रन्थिभेदस्य उदीर्णे मिथ्यात्वे क्षीणेऽनुदीर्णे चामाप्तस्य अन्तरकर-
णे अन्तर्गृह्यते कालं सर्वथैव मिथ्यात्वावेदकस्य औपशमिकं सम्यक्त्वं भवति । उपशमश्रेणिं वा समारूढस्य मिथ्यात्वादी-
नामुपशमे सति औपशमिकं सम्यक्त्वं भवति । कस्यचिज्जीवस्य औपशमिकसम्यक्त्वान्प्रपततोऽनन्तानुवन्धुदयात् कल्पि
तस्यापि मिथ्यात्वमामाप्तस्य वधनवद्विरसतच्चरमास्वादननेन सास्वादनसम्यक्त्वं भवति । तथा चाह—“मिच्छाडखए खइओ,सो-
सत्तणि खीणि ठाइ वद्धाज्ज । चउतिभरभाविसुखतो, तण्वसिद्धी उ (द्विउ) इअरो उ ॥ १ ॥ अप्पुव्वरुयतिपुंजो,
मिच्छुमइणं खवित्तु अणुइअं । उवसामिय अनिअट्टी-करणउ परं खओवसमी ॥ २ ॥ वेअगसंमत्ती पुण, कए दुपुंज-
खयंमि तइयस्स । खयकालचरमसमए सुद्धाणुअवेअणे २ होइ ॥ ३ ॥ अरुयतिपुंजो ऊसरदवईलियदडूखखनाएहिं । अं-
तरकरणुवसमिओ, उवसमिओ ३ वा ससेणिगओ ॥ ४ ॥ उवसमअद्धाइ ठिओ, मिच्छमपत्तो तमेव गंतुमणो । संमं सासा-
यंतो, सामायणिमो इमो होइ ॥ ५ ॥ अतमुहुत्तोवसमो, उावलि सासाणु वेअगो समओ । साहिअतित्तीसायर, खइओ
दुगुणो खओवसमो ॥ ६ ॥ उक्कोसं सासायण, उवसमिआ हुति पंचवाराउ । वेअगखयगा इक्कसि, असखवारा खओवसमो
॥ ७ ॥ ” तथा पञ्चविधं चारित्रम् । यथा—सामायिकं १, छेदोपस्थापनीयं २, परिहारविशुद्धिकं ३, सूक्ष्मसंपरायं ४,
यथाख्यातं ५ चेति । यदुक्तम्—“सामाइय” त्य पदमं, छेओवद्ववणं भवे वीयं । परिहारविशुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च
॥ १ ॥ ततो य अहक्खायं, खायं सव्वंमि जीवलोगंमि । जं चरिज्जण सुविहिआ, वचंतयरामरं ठाणं ॥ २ ॥ सामा-

इयंमि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं । तिविहेणं फासंतो, सामाइयसंजओ स खलु ॥३॥ छिचूणं परियाणं, पोराणं जो ठवेइ अण्णाणं । धम्मंमि पंचजामे, छेओवट्टाबणो स खलु ॥४॥ परिहरइ जो विसुद्धं, पंचजामं अणुत्तरं धम्मं । तिविहेणं फासंतो, परिहारियसंजओ स खलु ॥५॥ लोभाणू वेअंतो, जो खलु उवसामओ व खवगो वा । सो सुहुमसंपराओ, अहखाया ऊणओ किंचि ॥६॥ उचसंते स्वीणंमि व, जो खलु कम्मंमि मोहणिज्जंमि । छउमत्थो व जिणो वा, अहखाओ संजओ स खलु ॥ ७ ॥ ” तथा व्रतानि साधूनां पञ्चैव प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहविरतिरूपाणि महाव्रतानि । यदाह—“ पाणिबहसुसावाए, अदत्तमेहुणपरिगढे चेव । सव्वनिविचीइ जई-ण हुंति पंचेव य वयाइं ॥ १ ॥ तसाणं थावराणं च, जं जीवाणमहिंसणं । तिविहेणावि जोगेणं, पढंमं तं महव्वयं ॥ २ ॥ कोहलोहाइओ वावि, मुसावायस्स वज्जणं । तिविहेणावि जोगेणं, तं च वीयं महव्वयं ॥ ३ ॥ सुहुमं वायरं वावि, परदव्वं नेव गिण्हइ । तिविहेणावि जोगेणं, तं च तइयं मेहव्वयं ॥ ४ ॥ औरालिअवेउव्विअ, परिवज्जेइ मेहुणं । तिविहेणावि जोगेणं, तं चउत्थं महव्वयं ॥ ५ ॥ धणधन्नाइवत्थूणं, परिगहविज्जणं । तिविहेणावि जोगेणं, पंचमं तं महव्वयं ॥ ६ ॥ ” तथा व्यवहारपञ्चकम् । यथा—आगमव्यवहारः १, श्रुतव्यवहारः २, आज्ञाव्यवहारः ३, धारणाव्यवहारः ४, जीतव्यवहार ५ श्रेति । यदाह—“ आगम सुअ आणा धारणा य जीअं च होइ ववहारो । केवलि-मणोहि-चउदस-दस-नव-पुव्वाइ पढमित्थ ॥ १ ॥ आयारपरुपाई, सेसं सव्वं सुअं विणिहिट्ठं । देसंतरट्ठिआणं, गूढपयालोअणा आणा ॥२॥ गीअत्थेणं दिण्णं, सोहिं अवधारिऊण तह चेव । दिंतस्स धारणा सा, उद्धिअपयधरणरूवा वा ॥ ३ ॥ दव्वाइ चित्तिऊणं, संघयणार्इण ह्याणिमासज्ज । पायच्छित्तं जीयं, रूढं

१ व पुस्तक-“सचिचानिचत्तय्यु, र्मदिण्णाण वज्जणं” इत्यपि । २ व. पुस्तके-“तइयं त” इत्यपि । ३ व. पुस्तक-“दिव्वम पुस्तोत्तेच्छि, मेहुणस्स विक्कणी” इत्यपि ॥

वा जं जहिं गच्छे ॥ ४ ॥ ” तथा आचारः पञ्चधा । यथा—ज्ञानाचारः १, दर्शनाचारः २, चारित्राचारः ३, तपआचारः ४, वीर्याचार ५ श्रेति । यदाह—“ नाणंमि दंसणंमि अ, चरणंमि तवंमि तहय विरियम्मि । आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥ १ ॥ ” एतद्विस्तरः षष्ठ्यां षट्त्रिंशिकायां वक्ष्यति । तथा समितयः पञ्चधा । यथा—ईर्यासमितिः १, भाषासमितिः २, एषणासमितिः ३, आदाननिक्षेपणासमितिः ४, उच्चारदिपरिष्ठापनासमिति ५ श्रेति । यदाह—“ इरिआसमिई भासा-तह एसणाइ समिई य । आयाणाइपमज्जण-समिई परिठवण समिई य ॥१॥ जुगमित्तंतरदिट्ठी, पयं पयं चक्खुणा विसोहिंतो । अव्वविक्खंत्ताउत्तो, इरियासमिओ मुणी होइ ॥ २ ॥ कज्जे भासइ भासं, अणवज्जमकारणे न भासइ य । विगहविसुत्तिअपरिद्व-ज्जिओ अ जइ भासणासमिओ ॥ ३ ॥ वायालमेसणाओ, भोअणदोसे य पंच सोहेइ । सो एसणाइ समिओ, आजीवी अण्णहा होइ ॥ ४ ॥ पुव्वि चक्खुपरिविक्खअ, पमज्जिउं जो ठवेइ गिण्हइ वा । आयाणभंड-निक्खे-वणाइ समिओ मुणी होइ ॥ ५ ॥ उच्चारपासवणखे-लज्जल्लसिंघाणए अ पाणोविही । सुविदेइए पएसे, निसिरंतो होइ तस्समिओ ॥ ६ ॥ ” तथा स्वाध्यायः पञ्चधा । यथा—वाचना १, पृच्छना २, परावर्तना ३, अनुप्रेक्षा ४, धर्मकया ५ चेति । यदुच्यते—“ वायण पुच्छण परिअ-ट्टणा य अणुचित्ताणा य धम्मकहा । पंचविहो सज्जाओ, कायव्वो निज्जरट्टाए ॥ १ ॥ ” तद्विधिश्चैवम्—“ पल्हट्टियमवट्टंमं, तहा पायप्पसारणं । वज्जिज्जा विगहं हासं, अहिज्जंतो सया सुयं ॥ १ ॥ आसणगओ न पुच्छिज्जा, नेव सिज्जागओ कया । आगम्म्युकडुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीउढो ॥ २ ॥ इरिअं सुपढिकंतो, पसन्नचित्तो अ सुट्टुपिहिअमुहो । सुत्तं दोसविमुक्कं, सपयच्छेयं गुणे निच्चं ॥ ३ ॥ जिणवरपवयणपायड-णपउणगुरुवयणमुणि-

१ अन्वक्षित आमुक्तध ॥ २ ३० पुस्तके-“पाणिविही” इत्यपि ॥

यस्यपुव्वे । एगगमणो धणियं, चित्ते चित्तिज्ज सुवियारे ॥ ४ ॥ सुद्धं धम्मवएसं, गुरुप्पसाएण सम्ममवबुद्धं । सपरोवयारजणगं, जोगस्स कहिज्ज धम्मत्थी ॥ ६ ॥ ” तथा संवेगश्चैकविधः, स च श्रद्धासमृद्धमनसां सदागमाभ्याससत्क्रियाचरणादावाहादरूपः । यदाह—“ जह जह सुअमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुअमपुव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसवेगसद्धाए ॥ १ ॥ जह जह संवेगरसो, वाभिज्जइ तह तहेव धम्मणं । भिज्जंति त्विप्पजलनि-म्मियामकुंभुव्व हिययाइं ॥ २ ॥ सुचिरंमि तवं तविअं, चिअं चरणं सुअंमि बहु पढिअं । जइ न हु संवेगरसो, ता तं तुसखंडणं सव्वं ॥ ३ ॥ तह संवेगरसो जइ, सणंमि न समुच्छलिज्ज दिवसंतो । ता विहलेण किमिमिणा, बज्ज्जाणुट्टाणकट्टेणं ॥ ४ ॥ पक्खंतो मासंतो, छम्मासंतो व वच्छरंतो वा । जस्स न हु हुज्ज तं जा-ण दूरभव्वं अमव्वं वा ॥५॥” इत्येवंविधषट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गार्थः ॥३॥

अथ तृतीयपदत्रिंशिकासूत्रगाथायामाह—

इंदियेविसंयपमोया-सैवनिद्वैकुभावाणापणगल्लके । छसु कौएसु सजयणो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥४॥

व्याख्या—इन्द्रियविषयप्रमादाश्रवनिद्राकुभावनापञ्चकषट्के षट्सु कायेषु च सयत्न इति पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—तत्र इन्द्रियपञ्चकं श्रवणनयनघ्राणरसनस्पर्शनरूपम् । यदाह—“ पंचेव इंदियाइं, लोअपसिद्धाईं सोयमाईणि । दव्विदियभाविंदिय-भेअविभिअं पुणिकिअं ॥ १ ॥ अंतो बहि निव्विची, तस्सात्तिसरूवणं च उवगरणं । दव्विदियमियरं पुण, लद्धुवओगेहिं नायव्वं ॥ २ ॥ कायंबपुप्फगोलअ-मसूरअइसुत्तयस्स पुप्फं व । सोअं

चरतुं घाणं, खुरूपपरिसंठियं रसणं ॥ २ ॥ नाणागारं फासि-दियं तु बाह्यभो अ मन्दाइ । अंगुलभमं वपामं, एतेन विदु-
 क्षओ नवरं ॥ ४ ॥ अंगुलपुहुचरसणं, फरियं तु सरीगवित्थर भणियं । घाण्माहं जोरणोई, गोंतं परिगि-दई गहं ॥ ५ ॥
 रूवं गिण्हइ चरतुं, जोयणलवगाभो माइरेगाओ । गंधं रसं च फासं, जोयणनरगाउ सेमाई ॥ ६ ॥ अंगुलभमं वपामं,
 गुणंति विसयं जहन्नओ मुत्तुं । चरतुं तं पुण जाणइ, अंगुलसंविक्खभागाभो ॥ ७ ॥ इय नार्गेतग्गुरूवा, इदियतुगण मपसु
 विसएसु । अणररयभावमाणे, निगिण्हई नाणरउजूटि ॥ ८ ॥ " विपयपक्षयं तु तेयामेरेन्द्रियाणां प्राणं जम्पयणन्भवमण-
 शैलक्षणम् । यदार्पम्— " तोयस्स महं गहणं वयंति, तं रागेहेउं तु मणुन्नमाह । तं दोसहेउं भयणुन्नमाह, समो अ जो तेसु म
 वीयरामो ॥ १ ॥ सहस्स जो गेहिमुवेइ तिच्चं, अकालियं पावइ से विणासं । रागाउं हरेणमिउच्च सुटे, मरे अतिसे
 समुवेइमच्चुं ॥ २ ॥ सहे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुग्गोहपरंपरेण । न लिप्पइ भवमन्ने वसन्तो, जलेण वा पुक्ख-
 रिणीपलासे ॥ ३ ॥ चरतुस्स रूवं गहणं वयति, तं रागेहेउं तु मणुन्नमाह । तं दोसहेउं भयणुन्नमाह, समो अ जो तेसु म
 वीयरामो ॥ ४ ॥ रूवस्स जो गेहिमुवेइ तिच्चं, अकालियं पावइ से विणासं । रागाउं मे जह वा पयंते, भाण्मंगलीले
 समुवेइ मच्चुं ॥ ५ ॥ रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुग्गोहपरंपरेण । न लिप्पइ भवमन्ने वसन्तो, जलेण वा पुक्ख-
 रिणीपलासे ॥ ६ ॥ घाणस्स गंधं गहण वयंति, तं रागेहेउं तु मणुन्नमाह । तं दोसहेउं भयणुन्नमाह, समो य जो तेसु म वी
 यराओ ॥ ७ ॥ गंयस्स जो गेहिमुवेइ तिच्चं, अकालियं पावइ से विणासं । रागाउं मे जह गंधिदं, मपे विन्नाओ परि-
 निक्खमंतो ॥ ८ ॥ गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुग्गोहपरंपरेण । न लिप्पइ भवमन्ने वसन्तो, जलेण वा पुक्खरिणी-

१ हाते । २ ५० पुस्तके—'महेन्द्रिये' इत्येति ॥

पलासे ॥ ९ ॥ जिन्भाइ रसणं गहणं वयंति, तं रागेहेउं तु मणुन्नमाह । तं दोसहेउं भयणुन्नमाह, समो य जो तेसु म वी-
 यराओ ॥ १० ॥ रमस्स जो गेहिमुवेइ तिच्चं, अकालियं पावइ से विणासं । रागाउं विदिमविभिन्नमाह, पच्छे जहा
 आमिसभोगिदं ॥ ११ ॥ रसे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुग्गोहपरंपरेणं । न लिप्पइ भवमन्ने वसन्तो, जलेण वा
 पुक्खरिणीपलासे ॥ १२ ॥ कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागेहेउं तु मणुन्नमाह । तं दोसहेउं भयणुन्नमाह, समो य जो
 तेसु म वीयरामो ॥ १३ ॥ फासस्स जो गेहिमुवेइ तिच्चं, अकालियं पावइ से विणासं । रागाउं सीप्रदल्लारउंसे, गाहग-
 हीए महिसेवज्जणे ॥ १४ ॥ फासे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुग्गोहपरंपरेणं । न लिप्पइ भवमन्ने वसन्तो, जलेण
 वा पुक्खरिणीपलासे ॥ १५ ॥ " इति ॥ अय प्रमादपञ्चक मय १ विपय २ कपाय ३ निद्रा ४ विक्रया ५ लक्षणम् ।
 यदभिधीयते— " मज्जं १ विसय २ कासाया ३, निद्रा ४ विगहा ५ य पंचमी भणिया । एए पंच पयाया, नीवं पादंति
 संसारे ॥ १ ॥ " अंपि च— " मज्जाइया पंच पमायभेया, पावस्स हेउ पभणंति छेया । मज्जं तहिं मण्णणत्यग्गाणी,
 मोहिज्जए तेण जयेस पाणी ॥ १ ॥ जे कामभोगेसु अतिशच्चिता, अयमनारीसु ददं पसत्ता । ते संघणारुं विदंबणाओ,
 लहंति पज्जोयनरेमरु च्च ॥ २ ॥ पदंति नाणं चरणं धरंति, धम्मोरपसे भवियाण दिंति । तं वति तिच्चं च तयं प्रणेगे,
 फसायसच्च विरला जयंति ॥ ३ ॥ निद्रापमाएण गलेइ नाणं, हवेइ बुद्धीवि य अप्पमाणं । सीरयंति सच्चेवि हु धम्मजोगा-
 वज्जेह णं तं खलु भव्वलोगा । ॥ ४ ॥ इत्थीकहाई विगहा चउद्धा, धम्मीण एसा धणियं निसिद्धा । रागाइदोसाण जओ
 निमित्त, विहीयमाणं महलेइ चिच्चं ॥ ५ ॥ " इति ॥ तथा आश्रवपञ्चकं हिंसा १ ज्लीका २ उद्धता ३ उज्जहा ४ परिग्रहमवृत्ति

१- 'जगो' इत्येति ॥ २ ५० पुस्तके—'अपि च' इति भाषित ॥ ३ ५० पुस्तके—'पुच्छे' इत्येति ॥

५ रूपम् । यदाह— " हिंसा १ ज्लीअ २ यदत्तं ३ च, मेहुणं ४ च परिग्गहो ५ । पावस्स आसवा एए, आगमंमि विद्या-
 हिया ॥ १ ॥ " तद्यतना च निद्रातिरूपा, सा च व्रतपञ्चकावसरे प्रखपित्तव । अय निद्रापञ्चकम् । यथा—निद्रा १ निद्रा-
 निद्रा २ प्रचला ३ प्रचलामचला ४ स्त्यानर्धिलक्षणम् । यदाह— " निद्रा १ य निद्रानिद्रा २, पयला ३ तह चैव पय-
 लपयला ४ उ । थीणद्धी ५ अ कमेणं, निद्रापणं वियाणाहि ॥ १ ॥ सुहपडिबोहा निद्रा, निद्रानिद्रा य दुखपडिबोहा ।
 पयला डिओवविट्ठ-स्स पयलपयला उ चंक्रमओ ॥ २ ॥ टिण्णचित्तित्तयकरणी, थीणद्धी अद्धचानिअद्धचला । फरिदंतकस्स-
 साहा-मिजपिंडसिलाइनेएहि ॥ ३ ॥ " कुभावनापञ्चकम् । यथा—ज्ञान्दर्पिक १ किल्विपिका २ ३ ५ भियोगिका ३ ५ सुर ४ संगोहा ५
 भावनालक्षणम् । यदाह— " कंदप्पदेवकिञ्चित्ति-अ आभिओगाऽऽसुरा य संगोहा ५ । एसा उ सांकिलिहा, पंचविहा भावणा
 भणिया ॥ १ ॥ कंदप्पे कुक्कुइए, दुहसीले आविहासणकरे अ । विम्हावंतो अ परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ २ ॥ नाणस्स
 केवलीणं, धम्मायरियाण सच्चसाहण । भासं अवन्नवायं, किञ्चित्तिअं भावणं कुणइ ॥ ३ ॥ कोऊयभूइकम्मे, पसिणाप-
 सिणे निमित्तमाएसी । इद्धिरससायगरुओ, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ ४ ॥ अणुवद्धविग्गहु धिअ, संसत्तवो निमित्तमा-
 जीवी । निक्खिनिराणुक्कंपो, आसुरिअं भावणं कुणइ ॥ ५ ॥ उम्मगदेसओ म-ग्गनासओ मगगविपडिवत्ती य । मोहेण य
 मोहिता, संगोहं भावणं कुणइ ॥ ६ ॥ जो संजओवि एया-सु अप्पसत्तासु वट्टई पायं । सो तच्चिहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ
 चरणहीणो ॥ ७ ॥ " इन्द्रियादिपञ्चकपट्टे सयत्तो वर्जनविधौ यत्नपरः । तथा पदसु कायेषु च पृथ्वीकायादिषु सयत्तो
 रक्षापरायणः । यदार्पम्— " पुढविदगअगणिवाऊ, तणरुवखमवीयगा । तसा य पाणा जीवुत्ति, इय वुत्तं महेसिणा ॥ १ ॥

१ हाते । २ ५० पुस्तके—'हासकरने म' इत्येति ॥

तेसि अत्यंजोर्णं, निबं होयम्बयं सिया । मणसा कायवकेणं, एवं हवइ संजए ॥ २ ॥” इत्येवं पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गार्थार्थः ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थपदत्रिंशिकामूत्रगायामाह—

छव्वयणदोर्सलेर्सा—वस्सयर्सहव्वर्तकभासाण । परमत्थजाणणेणं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥५॥

व्याख्या—प्रत्येकं षट्प्रकाराणां वचनदोषलेश्याऽऽवश्यकसद्व्यवर्तकभाषाणां परमार्थपरिज्ञानेन पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जय-
त्विति संक्षेपार्थः । व्यासार्थस्त्वयम्—षट् वचनदोषाः, अलीक १ हीलित २ विमित ३ कर्कश ४ नात्रकोद्धटना ५ अधिहर-
णोदीरक ६ लक्षणाः । यदागमः—“ अलियवयणे १ हीलियवयणे २ विसिस्सि ३ णे ३ ककसदयणे ४ अगारत्थियवयणे ५
उवसमियाहिरणुईरणवयणे ६ इति । ” तत्रालीकम्—“ गुसावाओ य लोमि, सव्वसाहूहि गरहिओ । अविस्सासो य भू-
याणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १ ॥ ” हीलितम्—“ सामूयगणियत्रायग—जिट्ठजायरियपमुहसदेहि । जमिहापंतणमेयं, ही-
लियवयणं न भासिज्जा ॥ २ ॥ ” विसितम्—“ नहेव होले गोलेत्ति, साणे वा विसुलत्ति य । दुम्पए दुहए वावि, नेवं
भासिज्ज पम्बं ॥ ३ ॥ ” कर्कशम्—“ तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा । वाहिओ वा विरोगित्ति, तेणं चोरिचि
नो वए ॥ ४ ॥ ” नात्रकोद्धटनाम्—“ अज्जए पज्जए वावि, अम्मो माउसिउत्ति य । पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए नप्पु
णियत्ति य ॥ ५ ॥ ” अधिकरणोदीरकम्—“ खामियउव मियाइं, अहिरणाइं पुणो उदीरेइ । जो कोइ तस्स वयणं,

१ शान्तिविद्यापारेण रक्षणाय गेपेणग्भाणारेण वा २ ३० पुस्तके—“नात्रकोद्धटना” यं पुस्तके—“द्वष्टिक” अं पुस्तके—“द्वष्टन” इत्यपि पाठ ॥

३ तथैव होल । इति गेल । इति नीचाम्भद्रणं श्रेति वा शृणु । इति वा दम्क । इति वा दुमग । इति वा पि इत्त वज्जेवं भाणे । ४ आर्पक—पित्तान्नादि ॥

अहिरणोदीरणं भणिसं ॥ ६ ॥ ” तथा षट् लेश्याः, कृष्ण १ नील २ कापोत ३ तेजः ४ पद्म ५ शुक्र ६ लेश्यालक्षणाः ।
यदागमः—“ किण्हा १ नीला २ काऊ ३, तेज ४ पम्हा ५ य मुक्क ६ लेसाय । एयाउ सनामसमा—णचित्तपरिणाम-
रूवाओ ॥ १ ॥ ” अपरं च—“ कृष्णादिद्रव्यसाचिन्व्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फाटिकस्येवं तत्रायं, लेश्याशङ्कः प्रसु-
ज्यते ॥ १ ॥ रुद्रो दुष्टः सदा क्रोधी, कलही धर्मवर्जितः । निर्दयो वैरगंयुक्तः, कृष्णलेश्य उदाहृतः ॥ २ ॥ अलसो मन्द-
शुद्धिश्च, स्त्रीलुब्धश्च प्रपञ्चवान् । दीर्घरोपी सदायानी, नीललेश्यः प्रकांतितः ॥ ३ ॥ चिन्तातुरो विषादी च, परनिन्दाऽऽत्म-
शंसकृत् । संग्राममरणाशंसी, प्रोक्तः कापोतलेश्यकः ॥ ४ ॥ विद्यावान् करुणासिन्धुः, कार्याकार्यविचारकः । लाभालाभे
सदा प्रीत—स्तेजोलेश्य उदाहृतः ॥ ५ ॥ शक्तः क्षमी सदात्यागी, देवतार्चन उद्यमी । शुचिः शीलसंदानन्दः, पद्मलेश्यः प्ररु-
पितः ॥ ६ ॥ परात्मकार्यकृत् स्वस्यो, वाञ्छाशोकविवर्जितः । रागद्वेषभयत्यक्तः, शुक्रलेश्यः प्रदर्शितः ॥ ७ ॥ ” एतासां
च क्रमेण परिणामविशेषान्तरदर्शकः सहकारादितरुफलस्पृहयालुपदपथिकपुरुषाणां ग्रामभङ्गोद्यतघाटीपुरुषाणां च दृष्टान्तः
सुमतीत एव । तत्संग्रहश्चायम्—“ मूलं १ साह २ पसाहा ३, गुच्छ ४ फले ५ भूमिपडिय ६ भक्खणया । सव्वं १ मा-
णुस २ पुरिसा ३, सार्डेह ४ जुज्जंत ५ धणहरणा ६ ॥ १ ॥ ” तथाऽऽवश्यकषट्कम्, सामायिक १ चतुर्विंशतिस्तव २ वन्द-
नक ३ प्रतिक्रमण ४ कायोत्सर्ग ५ प्रत्याख्यान ६ लक्षणम् । यदायम्—“ नमो तेसि खमासमणाणं, जेहिं इयं चाइयं
छव्विहमावस्सयं भगवंतं तंजहा—सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणयं पडिक्कमणं काउसग्गो पच्चक्खाणंति । ” तत्र सामायिकम्—
“ जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे । तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिसं ॥ १ ॥ जो समो सव्वभूपसु,

१ ३० पुस्तके—“ नील सखान्दी ” इत्यपि । २ सयुष ॥

तसेसु धावरेसु य । तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिसं ॥ २ ॥ ” तथा चतुर्विंशतिस्तवः—“ इह अवसप्पिणिकाले,
इह भरहे उसहनाहपामुक्खा । चउवीसं तित्थयरा, परमपयपहं पयासिसुं ॥ १ ॥ तत्तो सयावि तेसि, चउवीसण्हं पि परम-
पुरिसाणं । जो संयवो विहिज्जइ, तं चउवीसत्थयं विति ॥ २ ॥ भावत्थयद्ववत्थय—भेएणं सो दुहा सुंयक्खाओ । भावत्थओ
जईणं, जहजुग्गं दुन्निवि गिहीणं ॥ ३ ॥ ” अथ वन्दनकम्—“ वंदणयं पि हु तिविहं, तं फिट्ठा छोभ वारसावत्तं । सिरन-
मणाइसु पढमं, पुण्णखमासमणदुगि वीयं ॥ १ ॥ तइयं तु छंदणदुगे, तत्थ मिहो आइमं सयलसये । वीयं तु दंसणीण य,
पयट्ठियाणं च तइयं तु ॥ २ ॥ आयरियउवज्जाए, पवित्ति थेरे तहेव रायणिए । एएसि किइक्कम्मं, कायव्वं निज्जर-
ट्टाए ॥ ३ ॥ ” अथ प्रतिक्रमणम्—“ स्वस्थानाद्यत्परं स्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः । तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमु-
च्यते ॥ १ ॥ सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स । मज्झिमगाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥ २ ॥
मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं । कसायाण पडिक्कमणं, जोगाणं अप्पसत्थाणं ॥ ३ ॥ पडिसिद्धाणं करणे,
किञ्चाणमकरणे य पडिक्कमणं । असद्वहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए य ॥ ४ ॥ देवसियं राइयं, पक्खिय चाउम्मासियं
च वच्छरियं । पंचविहं पडिक्कमणं, सविसेतं तत्थ जइयव्वं ॥ ५ ॥ जह गेहं पडिद्वैस, विमोहियं तहवि पक्खसंथीसु । सो-
हिज्जइ सविसेतं, एयं इइयं पि नायव्वं ॥ ६ ॥ ” अथ कायोत्सर्गः—“ उस्सग्गोऽविय दुविहो, चिट्ठाए अभिभवे य ना-
यव्वो । पडिक्कमणाइसु पढमो, कम्मखयट्ठा भवे वीओ ॥ १ ॥ संवच्छरमुक्कोसो, अंतमुहुत्तं च अभिभवुस्सग्गो । चिट्ठा उस्स-
ग्गस्स उ, कालपमाणं पुणो एव ॥ २ ॥ दो चत्तारि दुवालस, वीसं चत्ता समंगलुज्जाया । राइय देसिय पक्खिय चाउ-

१ ३० पुस्तके—“पयास्तु” इत्यपि ॥ २ ३० पुस्तके—“समत्रत्थो” इत्यपि ॥ ३ ३० पुस्तके—“पडिद्वैस” इत्यपि ॥ ४ १-२० पुस्तके—“ए” इत्यपि ॥

म्मासे य वरिसे य ॥ ३ ॥ काउस्सग्गे जह सुद्धियस्म, भज्जंति अंगुवंगाडं। तह भिदंति सुविठिया, अट्टविहं कम्मसंघायं ॥ ४ ॥”
अथ प्रत्याख्यानम्—“ पञ्चखणं दुविहं, मूलगुणे चैत्र उत्तरगुणे य । मूले पंचविहं खलु, साहूणं होइ नायव्वं ॥ १ ॥
सद्धानं तु दुदालम-भेअं मूलमि पञ्चवाणं तु । उत्तरगुणदुण्ढंपि हु, तं नमुक्कारसहियाई ॥ २ ॥ ” इति ॥ तथा सद्भव्यपट्टम्,
धर्माधर्माकागकालजीवपुद्गललक्षणम् । यदाह—“ धम्मो तहा अहम्मो, नहो य कालो तहेव जीवो य । तह पुगला य
एयं, भणियं सद्भवउकंनि ॥ १ ॥ गटलक्खणो य धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो । भायणं सच्चदच्चाणं, नहं ओगाहल-
क्खणं ॥ २ ॥ वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो । नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥ ३ ॥ सर्धया-
रउज्जोयपहाछायातवेइया । वणमंभरसा फासा, पुगलाणं तु लक्खणं ॥ ४ ॥ ” इति ॥ तथा तर्कपट्टम्, पद्दर्शनमवाटलक्ष-
णम् । तानि दर्शनानि चाम्नि—जैनं १ मीमांसकं २ बौद्धं ३ नैयायिकं ४ वैशेषिकं ५ सांख्यं ६ चेति । यदाह—“ दर्श-
नानि पडेवाहु-जैनं १ मीमांसकं २ तथा । बौद्धं ३ नैयायिकं ४ वैशेषिकं ५ सांख्यं ६ मिति क्रमात् ॥ १ ॥ केचिन्त्याय-
विशेषाभ्यां, तर्काभ्यां श्रवमेककम् । मन्यन्ते तन्मते ज्ञेयं, पष्टं नास्तिकदर्शनम् ॥ २ ॥ ” तेषां षण्णामपि तर्काः स्वस्वमत-
प्ररूपणरूपाः । तथाहि—जैनदर्शनेर्ज्ञेयं देवता । जीवाजीवपुण्यपापाश्रयसंवरवन्धमोक्षनिर्जाराख्यानि नत्र तत्त्वानि । प्रत्यक्षं
परोक्षं चेति प्रमाणे द्वे । नित्यानित्याद्यनेकान्तवादः । सम्प्रगदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, सकलकर्मक्षये लोकाग्रप्रदेशे
नित्यज्ञानानन्दमयश्च मोक्षः। इत्यादि जैनमतम् १। मीमांसक दर्शने सर्वज्ञो देवता नास्ति । किन्तु नित्यवेदवाक्येभ्य एव तत्त्वनिर्णयः।
प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमोऽर्थापत्तिरभावश्चेति पद प्रमाणानि । नित्याद्येकान्तवादः । वेदविहितानुष्ठानं मोक्षमार्गः । नित्य-

१ व ड पुस्तके 'तदा' छ या चांय य" इत्यपि । २ व पुस्तके "दर्शनानि" इत्यप्यम् ॥

निरतिशयसुखाविर्भावश्च मोक्षः । इत्यादि मीमांसकमतम् २ । बुद्धदर्शने बुद्धो देवता । दुःखायतनसमुद्रयमार्गरूपाणि
आर्यसत्यसंज्ञानि चत्वारि तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे प्रमाणे । क्षणिकैकान्तवादः । सर्वक्षणिकत्वसर्वनैरात्म्य-
वासनोक्तेः शसमुद्रयच्छेदनं प्रदीपस्येव ज्ञानसन्तानोच्छेदश्च मोक्षः । इत्यादि बौद्धमतम् ३ । नैयायिकदर्शने ईश्वरो देवता ।
प्रमाण १ प्रमेय २ संशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टान्त ५ सिद्धान्त ६ स्वयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितण्डा १२ हेत्वा-
भास १३ च्छल १४ जाति १५ निग्रह १६ स्थानानि षोडश तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति चत्वारि प्रमाणानि । नि-
त्यानित्यैकान्तवादः । आत्मादिप्रमेयतत्त्वज्ञानं मोक्षमार्गः । पष्टिन्द्रियाणि ६, पद् विषयाः १२, पद्बुद्धयः १८, सुखं १९, दुःखं
२०, शरीरं २१ चेत्येकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तं छेदे च मोक्षः । इत्यादि नैयायिकमतम् ४ । वैशेषिकदर्शनेऽपी-
श्वरो देवता । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषमत्राख्याः पद् पदार्थास्तत्त्वतयाऽभिप्रेताः । प्रत्यक्षमनुमानं चेति प्रमाणद्वयं ।
नित्यानित्यैकान्तवादः । आत्मनः श्रवणमननिदिध्यासनसाक्षात्कारो मोक्षमार्गः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्का-
ररूपाणां नवानां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे च मोक्षः । इत्यादि वैशेषिकमतम् ५ । सांख्यदर्शने ईश्वरः कपिलो वा देवः ।
आत्मा, प्रकृतिः, महानहङ्कारः, गन्धरूपरसपर्शशब्दाख्यानि पञ्च तन्मात्राणि, पृथिव्यग्नेजोवाय्वाकाशाख्यानि पञ्च भूतानि,
घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनोसीति पद् बुद्धिन्द्रियाणि, पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि इत्येवं पञ्चविंशति
तत्त्वानि । प्रत्यक्षमनुमानमागमश्चेति प्रमाणत्रयम् । नित्यैकान्तवादः । पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं मोक्षमार्गः । प्रकृतिपुरुषविवेक-
दर्शनान्निवृत्तायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः । इत्यादि सांख्यमतम् ६ ॥ नास्तिकाः कापालिकाः, तेषां दर्शना-
भङ्गं सर्वज्ञो नास्ति, अग्रो नास्ति, धर्मोऽपि नास्ति, जीवो नास्ति, परलोको नास्ति । इत्यादि तन्मतम् । प्रत्यक्षं चैकं
प्रमाणम् । मोक्षोऽपि नास्त्येव । इति नास्तिकमतम् । इत्येवंभूतपद्दर्शनतर्का इति ॥ ७ ॥ तथा भाषापट्टम्, सं-
स्कृत १ प्राकृत २ शौरसेन ३ मागध ४ पंशाचिक ५ अपभ्रंश ६ लक्षणम् । तत्र संस्कृतं । यथा—
“ सत्संगत्या जिनपद-नत्या गुरुसेवया सदा दयया । तपसा दानेन तथा, स्यात्सफलं मानुषं जन्म ॥ १ ॥ प्राकृतं
यथा—“ लच्छी गिहीण लज्जा, लुचईणं नरवईण सोंडीरं । दिट्ठी सुहाण कव्वं, बुहाण खलु मंडणं परमं ॥ २ ॥ ”
शौरसेनी यथा—“ तौयध समग्ग पुत्वि, तायह समंगपि भोदु तुह भइं । होदु जयंसुत्तंसो, तुह कित्तीए अपुरवाए ॥ ३ ॥ ”
मागधी यथा—“ शपलविवस्कालहिदे, पिस्कंदे सव्वमोल्लदिट्ठीए । मिदपिअमाचस्कंदे, चिट्ठदि मग्गमि मोकंसस ॥ ४ ॥ ”
पैशाचिकी यथा—“ यति अरिहरपरमंतो, पठियते कीर ते न जीववधो । याति सनाति सजाति, ततो जनो निव्वुत्ति
जाति ॥ ५ ॥ ” अपभ्रंशभाषा यथा—“ ते धन्ना कन्नुल्लडा, हियडुल्लातिरुयत्थ । जे खाणि खाणि बुल्लडईं, घुंढईं धरइ
सुअत्थ ॥ ६ ॥ ” इत्येतत्पद्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गार्थः ॥ ५ ॥

अथ पञ्चमीपद्त्रिंशिकासूत्रगाथायामाह—

सर्गभयरहिओ सगपिं—डंपांणएसणसुंहेहि संजुत्तो । अट्टमयठ्ठाणरहिओ, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ ६ ॥

व्याख्या—सप्तभयरहितः, सप्तपिण्डैषणासप्तपानीयैषणासप्तसुखैषुक्तः अष्टमदस्यानरहितश्चेति पद्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जय-
त्विति समासार्थः । विस्तरार्थस्वयम्—भयसप्तकं इहलोके १ परलोका २ ऽऽदाना ३ ऽऽकस्मिका ४ ऽऽजीविका ५ मरणा

६ऽश्लोक ७ भयलक्षणम् । यदाह—“इहपरलोका २ दाण ३ म-कम्हा ४ आजीव ५ मरण ६ मसिलोइ ७ ति ” । देवेभ्यो देवस्य नरेभ्यो नरस्य तिर्यग्भ्यस्तिरथः नारकेभ्यो नारकस्य यद्भयं तदिहलोकभयम् १ । नरतिर्यग्भ्यां देवस्य, देवतिर्यग्भ्यां नरस्य, देवनाराभ्यां तिरथः, देवान्नारकस्य च यद्भयं तत्परलोकभयम् २ । मा अयं इदं मदीयं वस्तु बलादादास्यतीत्यादानभयम् ३ । निर्हेतुकं केवलस्वमनोभ्रान्तिजनितं यद्भयं तदाकस्मिन्भयम् ४ । आजीविका-जीवनवृत्तिः, तदुपायचिन्ता-जनितमाजीविकाभयम् ५ । मरणभयं प्रतीतम् ६ । अश्लोकोऽप्यशः, तद्भयमश्लोकभयम् ७ । इत्येवविधभयसप्तकरहितः । तथा पिण्डैषणासप्तकं संसृष्टा १ असंसृष्टा २ उद्धता ३ अल्पलेपा ४ अवगृहीता ५ प्रगृहीता ६ उज्जितधार्मिका ७ लक्षणम् । यदाह—“ संसृष्ट १ मसंसृष्टा २, उद्धिय ३ तह अप्पलेविया ४ चेत्त । उग्गाहिया ५ पग्गाहिया ६ उज्जियधम्मा ७ य सत्तमिया ॥ १ ॥ ” तत्र संसृष्टा दध्यादिका १ । असंसृष्टा मोदकादिका २ । कस्यापि कृते परिवेषणायोत्पाटिता उद्धृता ३ । बल्लचणाहादिका अल्पलेपा ४ । पिठराज्जाजानन्तरे क्षिप्ता अवगृहीता ५ । भोक्तुं परिवेषिता प्रगृहीता ६ । त्यागार्हा उज्जिनधर्मा ७ । इत्येताभिः पिण्डैषणाभिः संयुक्तः । पानैषणाऽप्येवंविधा एव । नवरं संसृष्टा तन्दुलोदकादिका, असंसृष्टा विकटोदकादिका, अल्पलेपा सौवीरादिका, इत्येताभिरपि युक्तः । सुखसप्तकं यथा—संतोष १ करणजय २ प्रसन्नचित्तता ३ दयालुता ४ सत्य ५ शौच ६ दुर्जनपरिहार ७ लक्षणम् । यदाह—“ सतोसो १ करणजओ २, पसन्नचित्तं ३ दयालुभावो ४ य । सच्चं ५ सोयं ६ दुज्जण-परिहारो ७ इय सुहा सत्त ॥ १ ॥ तं नत्थि सुहुं चक्की-ण नेव इंदाण नमिरअमराणं । जं निज्जियमयणाणं, सुणीण संतोसनिरयाणं ॥ २ ॥ तरलतरतुरअतुच्छा-णि जेहि करणाणि पंचवि जिणित्ता । सवसीकयाइं ते चिय, जयंमि सुहिणो पुरिससीहा ॥ ३ ॥ सरयससिसरिससुअना-णवारिधारहिं धोवियं जेहिं । सुपसच्चं निययमणं, विहियं ते सुखमणुपत्ता ॥ ४ ॥ सव्वेसिं जीवाणं, दयावरा जे ह्वंदि नरवसहा । करकमलतले तेसिं, भमरिब्ब सिरी समल्लियइ ॥ ५ ॥ परदुवसुप्पायगवय-णभणणविरयाण पुरिसरयाणाणं । इहलोए परलोए, वल्लाणपरंपरा पग्गा ॥ ६ ॥ सीलकवयं न भिच्चं, जेसिं तिवखोहिं कामवाणेहिं । कप्पूरतारकिजीइ, तेहिं भरियं धरावलणं ॥ ७ ॥ दुस्सी-ल्लोयसंस-ग्गाचायवद्धायाराण जीवाणं । गुणवल्लीउल्लासं, लहेइ सुविवेयफलजालं ॥ ८ ॥ एयाइं ताइं सत्त य, सुहाइं जाइं जए पसिद्धाइं । एएहिं जो य सुहिओ, सुच्चिय परमत्थओ सुहिओ ॥ ९ ॥ ” इत्येवंविधैः सप्तभिरपि सुखैः संयुक्तः । तथा अष्ट मदस्थानानि जाति १ कुल २ रूप ३ बल ४ श्रुत ५ तपो ६ लाभ ७ श्री ८ मढरूपाणि । यदाह—“ जाइ १ कुल २ रूप ३ बल ४ सुअ ५-तव ६ लाभ ७ सिरीहिं ८ अट्टमयमत्तो । एयाइ चिय वंधइ, असुहाइं वहु च संसारो ॥ १ ॥ ” अपि च—“ जातिभेदाच्चैकविधा-नुचमाधममध्यमान् । दृष्ट्वा को नाम कुर्वीत, जातु जातिमदं सुधीः ? ॥ १ ॥ अङ्गुलीना-नपि प्रेक्ष्य, प्रज्ञाश्रीशीलशालिनः । न कर्तव्यः कुलमदो, महाकुलभवैरपि ॥ २ ॥ सप्तधातुमेव देहे, चयापचयधर्मिणि । ज-रारूजाभिभाव्यस्य, को रूपस्य मदं वरेत् ॥ ३ ॥ बलवन्तोऽपि जरसि, मृत्यौ कर्मफलान्तरे । अवलाश्रेत्ततो हन्त !, तेषां बलमदो मुधा ॥ ४ ॥ श्रीमद्गणधरेन्द्राणा, श्रुत्वा निर्माणधारणे । कः श्रेयत श्रुतमदं, सवर्णहृदयो जनः ॥ ५ ॥ नाभेयस्य तपोनिष्ठां, श्रुत्वा वीरजिनस्य च । को नाम स्वल्पतपसि, स्वकीये मदमाश्रयेत् ॥ ६ ॥ अन्तरायक्षयादेव, लाभो भवति नान्यथा । ततस्तु वस्तुतत्त्वज्ञो, न लाभमदमुद्वेहेत् ॥ ७ ॥ गुणोज्ज्वलादापि भ्रष्टये-होपदन्तमपि श्रेयेत् । कुशीलस्त्रीव या श्रीः मा, न मदाय विवेकिनाम् ॥ ८ ॥ ” इत्येतेर्मदस्थानैरपि रहितो गुरुः । इति गार्थः ॥ ६ ॥

अथ सूत्रतः षष्ठीपदत्रिंशिकांमाह—

अट्टविहनाणदंसण-चारिन्तायारवाइगुण कल्लिओ ।

चउविहवुंद्धिसमिद्धो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ ७ ॥

व्याख्या—प्रत्येकमष्टविधज्ञानाचारदर्शनाचारचारित्राचारवादिगुणकालितः, चतुर्विधवृद्धिसमृद्धयेति पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । त्रिस्तरार्थस्त्वयम्—अष्टविधो ज्ञानाचारः कालविनयादिकः । यदाहः—“ काले विणए बहु-मा-णे उवहाणे तंहा अ निण्हवणे । त्जण अत्थ तदुभए, अट्टविहो नाणमायारो ॥ १ ॥ जं जम्मि होइ फाले, आयारि-यव्व स कालआयारो । सेसो होइ अकालो, तत्थ य धमएण दिट्ठतो ॥ २ ॥ नीयासणमजलिप-ग्गाहाइ विणओ इटं च सेणियओ । बहुमाणो मणपीई, तत्थ पुलदेण आहरणं ॥ ३ ॥ दुग्गइपडणुवधरणं, उवहाणं जत्थ जत्थ जं सुत्ते । आगा-दमणाग्गादे, मासतुसाई इहाहरण ॥ ४ ॥ निण्हवण अवलावो, तत्थ य दग्गसुरेण दिट्ठतो । वजण अत्थ तदुभए, दामन्न-ममाइणो येयो ॥ ५ ॥ ” अष्टविधो दर्शनाचारो निःशङ्कित्तदिकः । यदाह—“ निस्सकिय १ निक्कंखिय २ निव्वित्तिगि-च्छा ३ अमूढदिट्ठी ४ य । उववूह ५ थिरीकरणे ६, वच्छ ७ पभावणे ८ अट्ट ॥ १ ॥ ससयकरण संका, वालदुगेणित्थ होइ दिट्ठतो । अन्नदंसणाणं, कंवल्लए सेवगो नाय ॥ २ ॥ साहुदुग्गालक्खण-विच्चिगिच्छाए दुग्गधिया नाय । परवाइ-वंवरेहिं, अमूढदिट्ठी उ सुलसाई ॥ ३ ॥ तवसुयपहुहगुणाणं, कण्हो उववूहण सया कुणइ । वम्ममि कओ सुथिरो, आ-सादो खुडुगसुणेणं ॥ ४ ॥ निचंपि सधम्माण, वच्छं कुणह वयरसामिब्ब । सासणपभावगा पुण, अजरक्खिग्गमाइणो

अष्ट ॥ ५ ॥ ” अष्टविधधारिणाचारः सभितिशुभलक्षणः । यदाह—“ पणिष्ठाणजोगलुचो, पंचहिं सपिईहिं 'तीहिं गुतीहिं । एस चरित्तयारो, अट्टविहो होइ नायव्वो ॥१॥ ” तथा अष्टविधाचारवर्दादिगुणा अपि गुरोरेव । ते चामी-आचारवान् १ अवधारणावान् २ व्यवहारवान् ३ अपत्रीढकः ४ कारकः ५ अपरिशावी ६ निर्यापकः ७ अपायदर्शी ८ चेति । यदुच्यते—
 “ आयाख १ मवहारव २, ववहारो ३ वीलए ४ पकुब्बी ५ अ । अपरिस्तावी ६ निज्जव ७, अवायदंसी ८ गुरू भ-
 णिओ ॥ १ ॥ आयाखमायारं, पंचविहं मृणइ जो उ आयरइ । अवहारवमवहारे, आलोयंतस्स तं सच्चं ॥ २ ॥ ववहारव
 ववहार, आगममाई उ मृणइ पंचविहं । उववीलव गूहतं, जह आलोएइ तं सच्चं ॥ ३ ॥ आलोइयम्मि सोहिं, जो कारावई
 सो पकुब्बी उ । जो अन्नस्सवि दोसे, न कहेई अ सो अपरिसावी ॥ ४ ॥ निज्जवओ तह कृणइ, निव्वई जेण तं तु प-
 ष्चिउ । इहपरलोयावाए, दंसेई अवायदंसी उ ॥ ५ ॥ ” चतुर्विधा बुद्धिः, आत्पत्तिक्यादिका । यदाह—“ चप्पइया १
 वेणइया २, कम्मिय ३ तह पारिणाभिया ४ चेव । बुद्धी चउव्विहा खलु, निदिट्ठा समयवेऊहिं ॥ १ ॥ पुव्वपदिट्ठमइय-
 वेइयतक्खणविसुद्धगाहियट्ठा । अच्चाइयफलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम ॥ २ ॥ भरानित्थरणसमत्था, तिवग्गसुचत्थगारिय-
 पेयाला । (पर्यन्तेत्यर्थः) उभंओलोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ ३ ॥ उवओगादिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलण-
 विसाला । साहुकारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ ४ ॥ ” कर्मप्रसङ्गोऽभ्यासः, परिघोलनं विचारः, ताभ्यां विस्ती-
 र्णेत्यर्थः । “ अणुमाणहेउदिट्ठ-तसाहिया वर्धवियक्कपरिणाया । हियनिस्सेसफलवई, बुद्धी परिणाभिया नाम ॥ ६ ॥ चप्प-

१ व-पुस्तके-“ तिहि उ ” इत्यपि । २ “ बाधिणा ” इति प्रकृतम् । ३ व-पुस्तके-“ मयवीलव ” इत्यपि । ४ व-पुस्तके-“ च्चेई हो ” इत्यपि ।
 ५ व-पुस्तके-“ निग्गमावठ ” इत्यपि । ६ व-पुस्तके-“ देवेइ ” इत्यपि । ७ व-पुस्तके-“ उमय ” इत्यपि । ८ व-पुस्तके-“ वयविकव ” इत्यपि ॥

चिय भरहाई, वेणइयाए निमिचमाईया । कम्मिय हिरण्णियाई, परिणाभियबुद्धि अभयाई ॥ ७ ॥ ” इत्येवं पदत्रिंशद्गुणो
 गुरुर्जयतु । इति गायार्थः ॥ ७ ॥

अथ सप्तपदत्रिंशिकासूत्रगाथायाह—

अट्टविहकर्ममअट्टं-गजोर्गमहंसिद्धिजोर्गादिट्टिविउ ।

चउविहइणुओगनिउणो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥ ८ ॥

व्याख्या—अष्टविधकर्मणां, अष्टाङ्गयोगस्य, अष्टाङ्गमहासिद्धेः, अष्टाङ्गयोगदृष्टेश्च स्वरूपं वेत्ति इत्यष्टविधकर्मोऽष्टाङ्ग-
 योगमहासिद्धियोगदृष्टिविदुः, चतुर्विधानुयोगनिपुणो विचक्षणश्चेति पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वय-
 म्—अष्टविधानि कर्मणि ज्ञानावरणीयादीनि मूलप्रकृतिरूपाणि सोचरप्रकृतिविस्तराण्यपि विदन् गुरुर्भवति । तानि क-
 र्माणि च ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयं यु५ नाम६ गोत्रा७ न्तरायलक्षणानि । यदाह—“ इह नाण१
 दंसणावग्-ण२ वेय३ मोहा४ उ५ नाम६ गोयाणि७ । विग्धं च पण नव दु अ-द्वीत्तं चउत्तिसय दु पणविहं ॥ १ ॥ ” इ-
 त्यादि विस्तरः कर्मविपाकादेरवसेयः । तथा अष्टाङ्गो योगो यमनियमादिकः । यदाह—“ यम१ नियमार सन२ पवनधे-
 प्रत्याहाराः५ सुधारणा६ ध्यानमू७ । सुसमाधि८ श्रेत्यष्टा-वह्णानि वदन्ति योगस्य ॥ १ ॥ अहिंसामृततासोय-ब्रह्माज्किंच-
 नता यमाः । नियमाः शौचं संतोषः, स्वाध्यायतपसी अपि ॥ २ ॥ देवताप्रणिधानं च, करणं पुनरासनम् । प्राणायामः

१ व-पुस्तके-“ ज्ञानावरणादीनि ” इत्यपि ॥ २ “ नियमा शौचसंतोषो ” इति नाममात्रा ॥

प्राणयमः, श्वासप्रश्वासरोधनम् ॥ ३ ॥ प्रत्याहारस्तिवन्द्रियाणां, विषयेभ्यः समाहृतिः । धारणा तु कचिच्छ्लेषे, चित्तस्य
 स्थिरबन्धनम् ॥ ४ ॥ ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसन्ततिः । समाधिरस्तु तदेवार्थ-मात्राभासनरूपकम् ॥ ५ ॥ ” इति ।
 तथाऽष्टौ महासिद्धयो मादौ(है)श्वर्यरूपा लब्धयो लघिमाद्याः । यदाह—“ लघिमा१ वशिन्तेर शित्वरे, प्राकाभ्यं४ महिमा ५-
 ऽणिमा ६ । यत्र कामावसायित्व७, प्राप्ति८ रैश्वर्यमष्टधा ॥ १ ॥ भवेत्लघिमवानर्क-तूलादपि लघुर्लघुः । वशित्वसिद्धिमान्
 जन्तून्, क्रूरानपि वशं नयेत् ॥ २ ॥ ईशित्वशक्तिमान् शक्रा-देरपि स्यान्महाद्धिः । प्राकाभ्यवान् श्रुवीवाप्तु, श्रुवि वाप्तिवच
 चङ्क्रमेत् ॥ ३ ॥ महन्महिमवान्मेरो-रपि कुर्याद्गुः क्षणात् । विशेषाणिमवान् सूची-छिद्रेऽपि तनुतानवत् ॥ ४ ॥ भवेत्क-
 मावसायित्वा-त्कामचारी सदाऽपि हि । प्राप्तिप्रभावतोऽर्कादीन्, स्पृशेद्धस्योऽपि हेलया ॥ ५ ॥ ” तथा मित्रातारादयो यो-
 गदृष्टयोऽप्यष्टावेव । यदाह—“ मित्रा१ तारा२ वला३ दीमा४, रिथरा५ कान्ता६ प्रभा७ परा८ । नामानि योगदृष्टिनां,
 लक्षणं च निबोधतः ॥ १ ॥ वृणगोमयकाष्टाभि-कणदीपप्रभोपमा । रत्नतारार्कचन्द्राभा, सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥ २ ॥ ” तथा
 चत्वारोऽनुयोगाः चरणानुयोगाद्याः । यदाह—“ चचारि य अणुओगा, चरणे घम्म गणियाणुओगे य दवि अणुओगे य
 तहा, अहकम्म ते महिद्धीया ॥ १ ॥ सविसयवलवचं पुण, जुज्जइ तहविहु महिद्धिय चरण । चारिचरवस्वणट्ठा, जेणियरे
 तिणिण अणुओगा ॥ २ ॥ चरणपट्टिवसिहेऊ, घम्मकहा कालदिवखमाईया । दाविए दंसणसुद्धी, दसणसुद्धस्स चरणं तु
 ॥ ३ ॥ जह रण्णो विसपसुं, वयरे कणगे य रयय लोहेया चचारि आभरा खलु, चउण्ण पुत्ताण ते दिण्णा ॥ ४ ॥ चिंता
 लोहागरिण, पट्टिसेहं कृणइ सो उ लोहस्स । वयराईहि य गहणं, करिंति लोहस्स तिभियरे ॥ ५ ॥ एवं चरणंभि ठिओ,

करेद् गहणं विहीद् इयरेसि । एषण कारणेण, ह्वइ हृ चरणं महिद्वीयं ॥ ६ ॥ ” यद्वा चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि । यदाह—“चत्वारि अणुओगदारा पञ्चत्वा । तंजहा—उवकमो? निवखेवोर अणुगमोरे नओध य ॥” तेष्वपि निपुणो-विद्वाः, इत्येवं षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

अथाष्टमषट्त्रिंशिकासूत्रगाथामाह—

नवतत्तण्णू नवंबं-भंगुत्तिगुत्ते नियाण नवरहिओ ।
नवकंप्पकयविहारो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥ ९ ॥

व्याख्या—नवतत्त्वज्ञो, नवब्रह्मचर्यगुप्तो, निदाननवकरहितो, नवकल्पकृतविहारः, इति षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—नवतत्त्वानि जीवाजीवादीनि । यदाह—“ जीवा १ जीवा २ पुण्णं ३, पावा ४ सव ५ सं-बरो ६ य निज्जरणा ७ । बंधो ८ मुक्खो ९ य तथा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥ १ ॥ ” इत्यादि नवतत्त्वप्रकरणाभ्रवतस्त्व-विस्तरविचारोऽवसेयः । नव ब्रह्मचर्यगुप्तयस्तु कुसंसर्गादिदोपराहितवसत्यासेवनाथाः । यदाह—“ वसहि १ कइ २ नि-सिज्जिदिय ३, कुइत्तर ४ पुव्वकीलिय ५ पणीए ६ । अइमाया ७ हार ८ विभू-सणा ९ य नव वंभगुत्तीओ ॥ १ ॥ जं विविचमणाइअं, रहियं इत्थिजणेण य । वंभचेरस्स रक्खद्वा, आलयं तु निसेवए ॥ २ ॥ मणपल्हायजणणी, कामरा-गविबहुणी । वंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ ३ ॥ समं च संयवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं । वंभचेररओ भिक्खू, निव्वसो परिवज्जए ॥ ४ ॥ अंगपच्चगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं । वंभचेररओ भिक्खू, चवखुगिज्जं विवज्जए ॥ ५ ॥ कुइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं । वंभचेररओ भिक्खू, सोयगिज्ज विवज्जए ॥ ६ ॥ हासं फिइं रयं दप्पं, सयणं चित्तासयाणि य । वंभचेररओ थीणं, नाणुत्तिते कयाइवि ॥ ७ ॥ पणीयं भत्तपाणं तु, ख्विप्पं मयविबहुणं । वंभचेररओ भिक्खू, निव्वसो परिवज्जए ॥ ८ ॥ धम्मं लद्धुं मियं कालं, जरात्थं पणिहाणवं । वंभचेररओ भिक्खू, नाइ निबंढं तु भुंजए ॥ ९ ॥ विभूसं परिवज्जिजा, सररीरपरिमंढणं । वंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥ १० ॥ ” तदेताभि-र्नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तः । तथा नव निदानानि राजत्वाद्यभिलाषरूपाणि । यदाह—“ राया १ उग्गाइसुओ २, इत्थी ३ पुरिसो ४ तहेव देवो ५ य । आयप्पयार ६ अविया ७ रसावओ ८ तह दरिइसुओ ९ ॥ १ ॥ ज चक्कराईणं, पयवीए पत्थणं करे जीवो । बहुसुकयविक्रएणं, रायचनियानमेयंति ॥ २ ॥ नरयनिमिच रज्जं, तम्हा उग्गाइसुकुलसंभूओ । हुज्जा-इमिय नियानं, जं कीरइ तमिह उग्गाइ ॥ ३ ॥ जं पुरिसो महिलत्तं, अहिलंसइ तमिह इत्थियनियानं । तं पुण पुरिस-नियानं, जं थी पुरिसत्तणं महइ ॥ ४ ॥ वेमाणियाइसुरवर-रिद्धिकए जं सुरत्तणं जीवो । पत्थइ तवेण त पुण, देवनि-याणं वियाणाहि ॥ ५ ॥ जे कामेसु अत्तिचा, बहुखुयले अत्तणो विउव्वंति । देवा तैसि फए जं, नियानमेयं अवी-यारं ॥ ६ ॥ बोहिनिमिचं सावय-कुलाहिलासो सुहो परं तहवि । कयसुकयविक्रएणं, नियानमेयं भवनिमिचं ॥ ७ ॥ एवं चरणत्थी जं, दरिइपुत्तत्तणं समहिलसइ । तं नवमनियानंपिहु, असुहानियानं म्णुणेयव्वं ॥ ८ ॥ ” एतैर्निदानै रहितः । ‘नवनियानरहिओ’ इति प्राप्ते प्राकृतत्वाच्छन्दोभङ्गनिरासार्थं व्यत्ययेनोपन्यासः । तथा नवकल्पलक्षणं, तच्च सुप्रतीतमेव । उद्यवविहारित्वं हि सद्गुरुलक्षणम् । यतः—“ सपणाणं सउणाणं, ममरकुलाणं च गोकुलाणं च । अनियाओ वसहीओ,

१ इ-पुस्तके—“ काले ” इत्यपि । २ नास्ति ३ इ-इ-पुस्तके “ लेण ” इत्यपि ॥

सारइयाणं च मेहाणं ॥ १ ॥ दंसणसोही थिरकर-णभावणा अइयसत्थकुसलत्तं । जणवयपरिच्छणाविय, अणिययवासे गुणा हुंति ॥ २ ॥ ” नित्यवासे तु दोषः । यदाह—“ पडिबंधो लहुअत्तं, अजणुवयारो अदेसविच्चाणं । नाणाईण अबुद्धी, दोसा अविहारपक्खंमि ॥ १ ॥ ” इत्येवं षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

अथ नवम्याः षट्त्रिंशिकायाः सूत्रगाथामाह—

दसभेयअसंवरंसं-फिलेसंउवंघायविरहिओ निच्चं ।

हासाइछकरहिओ, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥ १० ॥

व्याख्या—प्रत्येकं दशभेदभिन्नैरसंवरसंक्षेपोपघातै रहितः, तथा हास्यादिषट्करहितश्चेति षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—दशभेदोऽसंवरः पञ्चकरणत्रियोगौघोपग्रहिकोपधिष्वप्रत्यारूपानरूपः । यदाह—“ दसहा अ-संवरो खलु, इंदियपणगस्स ५ मणद वय ७ तनूणं ८ । ओहोवगगरुक्खो-वहीइ १० अप्पचत्वाणेणं ॥ १ ॥ ” दशभेदः संक्षेप-स्तु, उपध्दु १ पाश्रय २ कपाया ३ हार ४ मनो ५ वचः ६ काया ७ ज्ञाना ८ उदर्शना ९ चारित्र १० रूपः । यदाह—“ उवहि १ वस-ही २ कसाया ३ उहार ४ मणो ५ वय ६ तणूण ७ मन्नाणं ८ । निहसण ९ मचरिचं १०, संकिलेसो भवे दसहा ॥ १ ॥ ” दशघा चोपघातो यथा—उद्गमोपघातः १, उत्पादनोपघातः २, एषणोपघातः ३, परिकर्मणोपघातः ४, परिहरणोपघातः ५, ज्ञानोपघातः ६, दर्शनोपघातः ७, चारित्रोपघातः ८, अप्रीतिकोपघातः ९, संरक्षणोपघातः १० अति । यदाह—“ दस संजमोवघाया, अग्गम १

१ इ-पुस्तके—“ अहपत्थ १ इत्यपि ॥

उप्यायणे २ स ३ परिक्रम्ये ४ । परिहरण ५ नाण ६ दंसण ७ चरित्त ८ आचिअण ९ संरपत्ते १० ॥ १ ॥” इत्येतैगसंवरसंज्ञे-
पयातैविरहितः । हास्यादिपदकं तु हास्य? रत्य २ रति ३ भय ४ शोक ५ जुगुप्सा ६ लक्षणं तु प्रतीतयेव, तेनापि रहितः । इति
पद्मिशाहुणो गुरुर्जयतु । इति गायार्थः ॥ १० ॥

अथ दशमीपद्मिशाकामूत्रगाथामाह—

दसविहसामायौरी, दसचित्तसमाहिठाणलीणमणो ।

सोलसकर्त्तीयचाई, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ ११ ॥

व्याख्या—सुगमैव । नवरं दशविधसामाचारी आवश्यकयादिका । यदाह—“गमने आचस्त्रियं? बुद्ध्या, ठाभे
शुद्ध्या निसीहियं २ । आपुच्छणा ३ सयंकरणे, परकरणे पढिपुच्छणं ४ ॥ १ ॥ छंदणा ५ दव्यजापणं, इच्छाकारो ६ य सारणे । विज्जा-
कारो ७ सनिदाए, तहकारो ८ पडिस्सुए ॥ २ ॥ अव्युत्तणं ९ गुरुपूजा, अञ्जणे उवसंपया १० । एसा दसहा साहसुत्त, सामा-
चारी पवेईया ॥ ३ ॥” दश चित्तसमाधिस्थानानि स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तशयनासनवर्जनादीनि । यदागमः—“नो इत्थीपसु-
पंडग-संसत्ताई सयणासणाई सेविता भवइ १, नो इत्थीणं कइ कहिता भवइ २, नो पणीपरसभोई भवइ ३, नो पाणभोय-
णस्स अंमाई आहारिता भवइ ४, नो पुब्बरयपुब्बकीलियाई सेविता भवइ ५, नो इत्थीद्वानाई सेविता भवइ ६, नो इत्थी-
णं इंदियाई गणोरमाई आलोइय आलोइय निज्जाइत्ता भवइ ७, नो सएरुवगंघाणुवाई भवइ ८, नो सिलोगाणुवाई भवइ ९,

१ २ ३ पुस्तके— “ अगाई नाम ” इत्यपि ॥

नो सायासुखपडिवद्धे भवइ १० ॥” इति । कपायपोदशकं च अनन्तानुयन्ध्यादिचतुर्भेदभिन्नक्रोधादिचतुष्करूपम् । यदाह—
“कोहो माणो माया, लोहो चउरोवि हुंति चउभेया । अण अप्पचक्खाणा, पधक्खाणा य संजलणा ॥ १ ॥” ‘अणसि’ अ-
नन्तानुयन्धिनः । तथाऽत्रोपमानादयः संज्वलनानेवादौ कृत्वा दर्शिताः । यदाह—“ जलरेणुपुदविपव्वय-राईसरिसो षड-
व्विहो कोहो । तिणिसलयाकट्टट्टिय-सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १ ॥ मायावलोहिगोसु-त्तिमिंदिसगयणवरंमूलसया । लोहो
हलिहखंजण-कहमाकिमिरागसारिच्छो ॥ २ ॥ पक्खचउमासवच्छर-जावज्जीवाणुगामिणो कमसोदेवनरतिरियनारय-गहसा-
हणहेअवो भणिया ॥ ३ ॥ कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो । माया मिताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो
॥ ४ ॥” इत्येवं दशविधसामाचारीदशचित्तसमाधिस्थानकेषु लीनमनाः, पौदशकपायत्यागी चेति पद्मिशाहुणो गुरुर्जयतु
इति गायार्थः ॥ ११ ॥

अथैकादशीपद्मिशाकामूत्रगाथामाह—

पडिसेवसोहिदोसे, दस दस विणयाइचउसमाहीओ ।

चउंभेयाउ सुणंतो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ १२ ॥

गमनिका—प्रतिसेवादोपात्र दश, शोधिदोपांश दश, विनयादिचतुःसमार्धीश प्रत्येकं चतुर्भेदभिन्नान् जानकिति
पद्मिशाहुणो गुरुर्जयत्विति पिण्डार्थः । स्फुटार्थस्त्वयम्—प्रतिसेवादशकं दर्पादिकम् । यदाह—“दप्प १ प्पमाय २ ऽणाभोगे ३,
आउरे ४ आवईसु ५ य । संदि ६ सहसागारे ७, भए ८ पओसे ९ य वीमंसा १० ॥ १ ॥ दप्पो उ वर्गणाई, कन्दप्पाई
तहा पमाउवि । विस्तरणमणाभोगो, आउरे रुअरुहार्इहिं ॥ २ ॥ दव्वाइअलभे पुण, चउप्पयारा उ आवई होइ । सुद्धं-
मिवि संकाए, ज संके तं समासजे ॥ ३ ॥ पुत्वि अपासिऊण, पाए छुंमि ज पुणो पासे । न चएइ नियत्तेउ, पायं सह-
साकरणमेयं ॥ ४ ॥ रायसीहाइभयओ, पक्कहणाई य रुखचउणाई । कोहाईओ पओसो, वीमंसा सेहमाइणं ॥ ५ ॥” दश
शोधिदोपाः आकम्पयित्त्वेत्यादिकाः । यदाह—“ आकंपईत्ता १ अणुमाणइत्ता २ जं दिट्टं ३ वायरं ४ च सुहुमं ५ वा ।
छन्नं ६ सहाउलयं ७, बहुजण ८ अन्वच ९ तस्सेवी १० ॥ १ ॥ वेयाक्काईहिं, पुत्वि आकंपइत्तु आयरियं । आलोएई
कइं मे, थोवं वियरिज्जं पच्छिंतं ? ॥ २ ॥ धलो जो कुणइ तव, अहं न सक्केमि कत्थ मे सची ? । तुब्भेवि मज्जं यामं, जाणह
अणुमाणणा एसा ॥ ३ ॥ दिट्ठा उ जे परेणं, दोसा वियदेइ तच्चिय न अणे । सोहिभयां जाणंतु य, एसो एर्यावराहुत्ति ॥ ४ ॥
वायर बहुवराहे, जो आलोएइ सुहमए नेव । अहवा सुहमे वियदई, परं मन्तंते उ एवं तु ॥ ५ ॥ जो सुहमे आलोयह,
सो कह नालोइ वायरे दोसे ? । अहवा जो चायरए, वियदई सो किं न सुहुमे उ ? ॥ ६ ॥ अमुगवराहे पत्ते, किं पच्छिचं-
ति पुच्छियं छन्नं । काहं सयंति अहवा, छन्नं गुरुणोऽपि निसुणंति ॥ ७ ॥ पक्खियचाउम्मासिय-संवच्छरिएसु सोहिकालेसु ।
सहाउले कइइ, दोसे सो होइ सत्तमओ ॥ ८ ॥ आलोइऊण गुरुणो, पायच्छिच्च पडिच्छिंतं तत्तो । तमसइहओ पुच्छइ,
अन्नं अट्टमो दोसो ॥ ९ ॥ जो सुअपरियाएहिं, अर्व्वत्तो तस्स निययदुच्चरियं । आलोयंतस्स पुट्ट, नवमो आलोयणा-

देसां ॥१०॥ ते चैव जोऽवराहे, सेवइ मूरी स ढांइ तस्सेवी । समदोसुं मियं दाहि—त्तिं तस्स आलोयणे दसमो ॥११॥ ”
 चतुर्विधानि चन्वारि विनयश्रुनतपआचाररूपाणि समाधिस्थानानि । यदागमः—“चउच्चिहा खलु विणयसमाही भवइ ।
 तजहा—अणुसासिज्जंतो सुम्मूमइ? सम्मं संपडिवज्जइ? वेयमाराहइ? न भवइ अत्तसंपगाहिए चउत्थं पयं भवइ, भवइ य इत्थ
 सिलोंगो—“पेहेइ हियाणुमासणं, सुम्मूमइ तं च पुणो अहिट्टए । न य माणमएण सज्जइ, विणयसमाहिआयंयट्टिए ॥११॥ ”
 चउच्चिहा खलु सुअसमाही भवइ । तजहा—सुयं मे भविस्सइत्ति अज्जाइयव्वं भवइ ?। गंगगचित्तो भविस्साभित्ति अज्जाइयव्वं
 भवइ २ । अप्पाणं ठावइस्साभित्ति अज्जाइयव्वं भवइ ३ । ठिओ परं ठावइस्साभित्ति अज्जाइयव्वं भवइ ४ ॥ चउच्चिहा खलु
 तवसमाही भवइ । तंजहा—नो इहलोगट्टयाए तवमहिट्टिज्जा?, नो परलोगट्टयाए तवमहिट्टिज्जा?, नो कित्तिवण्णसहसिलोगट्टयाए
 तवमहिट्टिज्जा?, नभत्थ निज्जरट्टयाए तवमहिट्टिज्जा ४ ॥३॥ चउच्चिहा खलु आयारसमाही भवइ । तंजहा—नो इहलोगट्टयाए
 आयारमहिट्टिज्जा ?, नो परलोगट्टयाए आयारमहिट्टिज्जा?, नो कित्तिवण्णसहसिलोगट्टयाए आयारमहिट्टिज्जा ?, नभत्थ
 आरंहेतेहि हेज्जहि आयारमहिट्टिज्जा ४ ॥” इत्येवं पट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

अथ द्वादशीपट्त्रिंशिकासूत्रगाथामाह—

दसविहवेआवच्चं, विणयं धम्मं च पडु पयासंतो । वज्जियअकप्पच्छक्को, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥१३॥

व्याख्या—दशविधवैयावृत्तं, दशविधविनयं, दशविधं धर्मं च पडु प्रकाशयन् वर्जिताकल्पपट्टश्चेति पट्त्रिंशद्गुणो

१ समशेष इति । २ दारयतीति । ३ मोक्षार्थिक । ४ कण्यापदितव्य कथ्येत्यय वा । ५ स्वकौकादि । ६ अधिपेइ । ७ अरंभणीने ॥

गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—दशविधं वैयावृत्त्यं आचार्यादिविषयम् । यदाह—“आयरिय? उवज्जाए, २,
 तवस्सि? सेहे? गिलाण? साहसुं? । समणुत्त? संघ? कुल? गण?—वेआवच्चं हवइ दसहा ॥ १ ॥ ” अत्र समनोज्ञाः
 समानधर्माणः, सङ्घश्चतुर्विधः, कुलमेकपुरुषसंततिरूपम्, तत्समुदायो गणः । तथा दशविधो दिनयोऽर्हदादिविषयः । यदा-
 ह—“अरिहंत? सिद्ध? चेइ? सुए? य धम्म? य साहुवग्गे? य । आयरिय? उवज्जाए, ८, पवयणे? दंसणे? विणओ
 ॥१॥ अरिहंता विहरंता, सिद्धा कम्मकरया सिवं पत्ता । पडिमाओ चेइयाइ, सुयं च सामाइयाइयं ॥२॥ धम्मो चरित्तधम्मो, आहारो
 तस्स साहुवग्गुत्ति । आयरियउवज्जाया, विसेसगुणंसंगया तत्थ ॥ ३ ॥ पवयणमसेससंधो, दंसणमिच्छंति इत्थ सम्मत्तं ।
 विणओ दमण्हमेसिं, कायच्चो होइ एवं तु ॥ ४ ॥ भत्ती बहुमाणो व-ण्णजणण नासणमवण्णवायस्स । आसा-
 यणपरिहारो, विणओ संखेवओ एसो ॥ ५ ॥ ” तथा दशविधो धर्मः क्षान्त्यादिको यतिधर्मः । यदाह—“खंती? म-
 ह्व? २ अज्जव? ३, सुत्ती? ४ तव? ५ संजमे? ३ य चोद्धव्वे । सच्चं? ७ सोयं? ८ आकिं-चणं? ९ च वंभं? १० च जइधम्मो ॥ ? ॥
 कोहस्स निग्गहो खंती, मह्वो माणनिग्गहो । अज्जवो य अमाइत्तं, सुत्ती लोहस्स निग्गहो ॥ २ ॥ तवो इज्जानिरोहो य,
 संजमो पाणिणं दया । सच्चं हियं मियं वक्कं, सोअमज्जप्पसोहणं ॥ ३ ॥ आकिंचणमगं थत्तं, वंभं मेहुणवज्जणं । एसो दस-
 विहो साहु-धम्मो सव्वन्नुदेसिओ ॥ ४ ॥ एयं दसविहं धम्मं, जे चरंति महेसिणो । ते संसारसमुहस्स, पारं गच्छंति नी-
 रया ॥ ५ ॥ ” अकल्पनीयादिपदकं प्रतीतमेव । यदुच्यते—“अकप्पाईण छक्कं तु, अकप्पो गिहिभायणं । पलियं कनि-

१ भवशाक्षित । २ उ-मुस्तके—“सया जय ” इत्यपि । ३ उ-गुप्तके—“यय ” इत्यपि ॥

सिज्जाए, सिर्णाणं सोहवज्जणं ॥ ’ ॥ ” एतद्विस्तरस्तु श्रीदशवैकालिकादवसेयः । इत्येवं पट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु ।
 इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

अथ त्रयोदशीपट्त्रिंशिकासूत्रगाथामाह—

दसभेयाइ रुईएँ, दुवालसंगेसुं वीरुवंगेसु । दुविहसिन्ववाइनिउणो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥१४॥

व्याख्या—दशभेदायां रूचौ, द्वादशाङ्गेषु, द्वादशोपाङ्गेषु, द्विविधशिक्षायां च निपुण इति पट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जय-
 त्विति मुकुलितार्थः । विकसितार्थस्त्वयम्—दशभेदा रुचिर्निसर्गोपदेशादिका । यदाह—“निस्सग्गु? वएसरुई? २, आ-
 णरुई? सुत्त? ४ वीय? ५ रुइमेव । अभिगम? ६ वित्थाररुई? ७, किरिया? ८ संखेव? ९ धम्म? १० रुई ॥१॥ जो जिणदिट्ठे भावे,
 चउच्चिहे सहहेइ सयमेव । सो होइ निसग्गरुई, तव्विरीओवएसरुई ॥ २ ॥ जिणआणं मन्नंतो, जीवो आणारुई गुणे-
 यच्चो । अंगोवंगार्इयं, मन्नंतो होइ सुत्तरुई ॥ ३ ॥ एगपयाणेगए, जस्स मई पसरए स वीयरुई । सो होइ अभिगगरुई,
 सुत्तं जेणित्थ ओदिट्ठं ॥ ४ ॥ जो मुणइ सव्वभावे, सव्वपमाणेहिं विन्थरुई सो । सभियाइसु आउत्तो, जो खलु किरि-
 यारुई सो उ ॥ ५ ॥ सो संखेवरुई जो, चिलाइपुत्तु च्च बुज्जई तत्तं । सहहइ जिणाभिहित्तिय, जो धम्मं सो हु धम्मरुई ॥ ६ ॥ ”
 द्वादशाङ्गी तु आचारादिदृष्टिवादान्ता । यदागमः—“नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इभं वाइयं दुवालसंगं गणिपिढगं व-
 गवंतं, तंजहा—आयारो?, सूयगढो?, ठाणं?, समवाओ?, विवाहपन्नत्ती?, नायाधम्मकहाओ?, उवासगदसा-

ओ ७, अंतगद्दसाओ ८, अणुचरोववाईयदसाओ ९, पण्हावागरणं १०, विवागसुअं ११, दिद्वियाओ १२ ॥” इति ।
द्वादशोपाही तु औपपातिकादिलक्षणा । यदाहुः—“ उवाइय ? रायपसे—णीय २ तह जीवंभिगम ३ पञ्चवणा ४ । जमूपमती ५
चंद ६—सुरपञ्चि ७ नामाओ ॥ १ ॥ निरयावलिआ ८ कप्पा—वयस ९ पुष्पी य १० पुष्कचूली य ११ । वण्हीदसा ३ १२
एव, वारसुवगाण नामाइ ॥ २ ॥ ” द्विविधा शिक्षा, ग्रहणा १ ऽऽसेवना २ लक्षणा । यदाह—“ सिक्खा नाम परिष्णा, सा
पुण दुविहा सुए समखाया । पढमा गहणपरिष्णा १, बीया आसेवणपरिष्णा २ ॥ १ ॥ ” इत्येवं पदत्रिंशद्गुणो गुणत्रयपटु ।
इति गायार्थः ॥ १४ ॥

अथ चतुर्दशी पदत्रिंशिकामाह—

एगार सडूपडिमां, वारसवयं तेरकिरियंठाणे य । सम्मं उवएसंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥१५॥

व्याख्या—कण्ठ्या । नवरं एकादश श्राद्धप्रतिमा दर्शनप्रतिमादिकाः । यदाह—“ दंसण ? वयर सामाइय ३, पो-
सह ४ पढिमा ५ अचंभेसच्चित्ते ७ । आरंभ ८ पेस ९ उदि—दृ १० वज्जेए समणभूए ? ? य ॥ १ ॥ एगाइमासडुक्कीए, एयाओ हुंति
कालओ । अणुद्वारणं पुणो एवं, पढमाए सुद्धदंसणं ॥ २ ॥ बीया पढिमा नेया, सुद्धाणुव्वयपालणं । सामाइयपढिमा उ, सुद्धं
सामाइअ चिय ॥ १ ॥ अट्टमीमाइपव्वेसु, सम्मं पोसठपालण । सेसाणुद्वारणजुत्तस, चउत्थी पढिमा इय ॥ ४ ॥ निक्कपो का-
उत्सग्ग तु, पुव्वुत्तगुणसजुओ । करेइ पव्वराइसु, पचमी पढिमा इया ॥ ५ ॥ छट्ठीए वभयारी सो, फामुयाहारसत्तमी । वजे
सावज्जमारभ, अट्टमिं पडिवण्णओ ॥ ६ ॥ अवरेणावि आरभ, नवमी नो करावए । दसमी पुण उदिद, फामुयंपि न भुंजए
॥ ७ ॥ इकारसीइ निसंसंगो, धरेइ लिंगं पढिगहं । कयलोओ सुसाहुव्व, पुव्वुत्तगुणसायरो ॥ ८ ॥ नाममित्थिमि बुत्त, किं-
चित्ति सख्वओ । उवासगपढिमाण च, विसेसो सुयसायरे ॥ ९ ॥ ” तथा द्वादशसंख्यानि श्राद्धव्रतानि स्थूलप्राणातिपात-
निवृत्त्यादीनि । यदाह—“ पाणिवह ? गुसावाए २, अदत्त ३ मेहुण ४ परिगहे ५ चेव । दिसे ६ भोग ७ दह ८ समइय ९,
देसे १० पोसह ११ ऽतिहिविभागे १२ ॥ १ ॥ सकप्पनिरवराह, दुहा तिहा तसजिआ न इंतव्वा । कन्नालियाइपमुहं, यूला-
न्नीय न वत्तव्व ॥ २ ॥ खत्तखण्णाइचोर—कारकरमदत्तय न धेत्तव्व । परदारपरीहारो, अहवावि सदारसतोसो ॥ ३ ॥ पण-
धन्नाइपरिगह—परिमाण माणवेहिं कायव्व । किञ्चा सयलदिसासुं, अवही अवहीरिउं लोह ॥ ४ ॥ महुमंसाईचाया, फायव्वा
विगइपमुहपरिसखा । जहसत्तिऽणत्थदडो, वज्जेयव्वो अइपयंढो ॥ ५ ॥ समभावो सामइय, खणिएणं तं सयावि कायव्व । देसा-
वगासिय पुण, सयलवयाणापि साखिवण ॥ ६ ॥ देसे सव्वे य दुहा, ससत्तिपोसहवय विहेयव्व । साहूण मूद्धद्वारणं, भत्तीए सं-
विभागवय ॥ ७ ॥ एव दुवालसविहं, गिहियम्म पाणियो विहियविहिणो । कयसो विसोहिउं क—म्मकयवरं जति परमपर्यं
॥ ८ ॥ ” त्रयोदशक्रियास्थानानि अर्थानर्थादीनि । यदाह—“ अट्टा १ ऽणट्टा २ हिंसा ३—ऽकप्पा ४ दिद्वि ५ य मोस ६
दिन्ने ७ य । अज्जत्थ ८ माण ९ मित्ते १०, माया ११ लोहे १२ रिआवहिया १३ ॥ १ ॥ ” तत्रार्थक्रिया अर्थदण्डरूपा १ । तद्वि-
परीताऽनर्थक्रिया २ । हिंसाक्रिया प्राणिवधलक्षणा ३ । सहसाकारेण आकस्मिकीक्रिया ४ । दृष्टिभ्रमाद् दृष्टिकीक्रिया ५ । अ-
लीकरूपा मृषाक्रिया ६ । अदत्तक्रिया स्तेयलक्षणा ७ । अध्यात्मक्रिया चित्तकलमलकरूपा ८ । मानक्रिया अहङ्कृतिरूपा ९ ।
अभिप्रायक्रिया द्वेषलक्षणा १० । मायाक्रिया चित्तकौटिल्यमथाना ११ । लोभक्रिया शृद्धिरूपा १२ । ईर्ष्यापथिकीक्रिया केवल-

१ सफलदिश सु अवाये काये अवधीये लोच्य ॥

नामेकसार्थयिकरूपा १३ । इति गायार्थः ॥ १५ ॥

अथ पञ्चदशी पदत्रिंशिकामाह—

वारसउवओगविउ दसविहपच्छिंतदाणनिउणमई । चउदसउवंगरणधरो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ १६ ॥

व्याख्या—सुतो भव । नवर उपयोगद्वादशक ज्ञानपञ्चकाऽज्ञानत्रिकदर्शनचतुष्कलक्षणम् । यदाह—“ नाण पचविह तह,
अन्नाणतिगं च अट्ट सागारा । चउ दंसणमणगारा, वारस जियलक्खणुवओगा ॥ १ ॥ ” दशविधमायाश्रित त्वालोचनादिकम् ।
यदाह—“ त दंसविहमालोपण—पडिरुमणोभयविवेगउत्सग्गे । तवळेअमूलअणव—ट्टिए अ पारचिए चेव ॥ १ ॥ उद्धरणमल-
णपूरण—गालणमियभमणअसणजयणा य । तत्तियतयंग उअण मफासवाओ वणे उवमा ॥ २ ॥ ” चतुर्दशोपकरणानि मुखद-
त्तिकादीनि । यदाह—“ मुहपुत्ती रपहरण, कप्पातिय सत्त पत्तउवगग्गे । मत्त च चोलपट्टो, उवही थेराण चउदसहा ॥ १ ॥
पत्त पत्ताअथो, पायद्ववण च पायंकेसरिया । पडलाई रयत्ताण, गुच्छओ पायंनिज्जोगो ॥ २ ॥ ” इति गायार्थः ॥ १६ ॥

अथ षोडशी पदत्रिंशिकामाह—

वारसभेयंमि तंवे, भिक्खुं पडिमासु भवणंणामुं च । निच्चं च उज्जसंतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥ १७ ॥

व्याख्या—कण्ठ्या । नवर द्वादशभेद तपोऽनशनादिरूपम् । यदागमः—“ अणसण १ मूणोयरिया २, विंचीसखेवण ३
रसथाओ ४ । कायकिलेसो ५ सली—णया ६ य वज्जो तवो होइ ॥ १ ॥ पायाच्छितं १ विणओ २, वेयावच्च ३ तहेव

१ इंसो हि न्यस्तोपाम् । २ न—पुस्तके—“ मालोदण पडिक्कग्गे, मसि विवेग त्हेव उरसग्गे ” इत्यपि । ३ उद्धरण मर्दन पूर्ण (कट्टमथदि.) गालन (पुष्पधित्ते)
मित्थेण । अन्नाणवतना वावउदद—छेदेने अस्पृशवादे वणे उपमा (तथा अन्नाणोवतनादे) । ४ पात्रमात्रेणचीवरसण्ड । ५ पात्रोपकल्पानि ॥

सज्जाओ ४ । ज्ञानं ५ उम्सगोऽवि य ६, अग्नितरओ तवो होइ ॥ ३ ॥ ” द्वादश भिक्षुप्रतिमास्वेकमासादिकाः । यदा-
गमः—“ मासाई सत्तता ७, पदमा त्रिय ८ तइय ९ सत्तगइदिणा १० । अहराई ११ एगराई १२, भिक्खुपाडिमाण बारसगं
॥ १ ॥ पडिवज्जइ एयाओ, संघयणभिईजुओ महामत्तो । पडिमाउ भाविअप्पा, सम्मं गुरुणा अणुत्ताओ ॥ २ ॥ गच्छे
च्चिय निम्माओ जा पुच्चा दस भवे असंपुण्णा । नवमस्म तइय वत्थु, होइ जहन्नो सुयाभिगमो ॥ ३ ॥ वोसट्टेच्चत्तेहे. उवस-
गसो जहेव जिणकप्पी । एम्मणंअभिगहणीया, भत्तं च अलेवडं तस्स ॥ ४ ॥ गच्छा विनिक्खमिप्ता, पडिवज्जइ मामिय महापडिमं ।
दंतेगमोअणम्म व, पाणस्स व तन्थ एग भवे ॥ ५ ॥ जन्थज्जयमेईं मुरो, न तओ ठाणा पयापि चालेइ । ता एगराइवासी, एग
च दुगं च अत्राप ॥ ६ ॥ दुट्टाण हत्थिमाईण, नो भएणं पर्यपि ओर्मरइ । एमाइनियमसेवी, विहरइ जाऽव्हिओ मासो ॥ ७ ॥
पच्चा गच्छमुवेई, एअं दुमास तिमास जा सत्त । नवरं दत्ती वड्ढइ, जा सत्त उ सत्तमासीए ॥ ८ ॥ तत्तो य अट्टमीआ, भवई इह
पदम सत्तराईट्टी । तीए चउत्थचउत्थेण, अपाणएणं अँह वित्तो ॥ ९ ॥ ” पारणके चाचाम्ल दत्तिनियमो नास्तीति ।
“ उर्त्ताणो पासिट्ठो, नेत्तोञ्जिओवि ठाणठाइत्ता । सहइ उवसग्ग घोरे, दिव्वाई तत्थ अविक्कपो ॥ १० ॥ दुच्चावि एरिस
च्चिय, बहिया गामाइयाण नवरं तु । उक्कुँलंगंडसाई, दंडायय उच्चठाइत्ता ॥ ११ ॥ तच्चावि एरिस चिय, नवरं ठाणं च
तन्थ गोदोही । वीर्रोसणमहवावी, ठाइत्ता अवहुँज्जो वा ॥ १२ ॥ एमेव अहोराई, छट्टं भत्तं अपाणगं नवरं । गामनगराण

१ अणुत्तः (नित्यः) । २ परीपशोपमगमद्वेजायांणात् संस्कारवर्गनाथ । ३ भक्तैपगदि सामिग्रहं । ४ अलेपट्ट । ५ मट्टतप्पेपत्तक्षणा । ६ अपसरति क्षयमार्गो ।
७ व-पुरतके-“ जीव ” इत्यपि । ८ उतान (उर्ध्वमुखशायी) पार्श्वशायी नेपथिक स्थानमूर्ध्वस्थान कामोर्गस्यतेन ख्याता । ९ व-पुरतके-“ नेत्तञ्जिओव ठाणठाइत्तो ”
इत्यपि । १० उक्कुँलंगंडसाई वक्त्रकाष्ठवच्छेदनात् दण्डवदायत । ११ व-पुरतके-“ तु ” इत्यपि । १२ अणुत्तसिद्धादिनवतरयानम् । १३ आम्रवापुक्कतया ॥

बहिया, वग्गारियंपाणिए ठाणं ॥ १३ ॥ एमेव एगराई, अट्टमभत्तेण ठाणवाहिरोओ । ईसीपैभारगए, अणिमिसनयणेग-
दिट्ठी य ॥ १४ ॥ ” एतस्यामेकरात्रिप्रतिमायां लाभास्त्रयः—“ एगराइयं भिक्खुपाडिमं पालेमाणस्स ओहिनाणे वा मणपज्जवनाणे
वा केवलनाणे वा समुप्पज्जइ ” इति ॥ द्वादश भावनाश्च अनित्यतादिकाः । तथाहि—“ ताओऽणिच्चमसरण, भवमेगव अनच
असुइत्त । आसव संवर निज्जर, सुधम्म तियल्लोय बोही य ॥ १ ॥ धणसयणगेहदेहा—उरूवतारुणसुइपहुत्ताइं । अच्चतमणि-
च्चाई, पडिवंधो तेसु को ? जीव ! ॥ २ ॥ पियमायभायजाया—सुयहयगयसुहडकोडिमज्झावि । रक्खु व्व सरणहीणो, ही हीरइ
मञ्जुणा जीवो ॥ ३ ॥ अन्नककायजाईगयनत्तयवेयंवेयपरवात्ता । रे जिये ! भवरंगगओ, नड्ड व्व नडिओऽसि कह न तुमं ?
॥ ४ ॥ इह दुहसुहजम्मणमर—णवंधमुक्खाइं हुंति इक्कस्स । जीवस्स ता तुमं कीस ? कुणसि सयणेसु पडिवंधं ॥ ५ ॥ अन्नं
इमं सरीर, अन्नो जीवुत्ति निच्छओ एसो । ता किं कुणसि ममत्त, देहे रे जीव ! दुहगेहे ॥ ६ ॥ कलिलमलरुहिरवसमं—सापि-
त्तमुत्तअट्टिभरियापि । कुहियकलेवरमेयं, हट्ठी मुद्धो मुणइ सुद्धं ॥ ७ ॥ मिच्छत्तपमायाविर—इजोगपमुहा हु आसवदुवारा ।
कम्मोहिं जलोहि व पू—रयंति आयं तलायं व ॥ ८ ॥ सम्मापमायाविरई—गुत्तीपमुहोहिं दढकवाडेहिं । सवरियासवदारं, आयत-
लायं लहुं कुणसु ॥ ९ ॥ खलियनवत्तलिलसलिला—गमोऽवि पुव्वकयपावपंकाओ । छुट्टसि न जीव ! तववा—रसप्पतावं
विणा कहवि ॥ १० ॥ कत्थावि किया न सुदया, कत्थावि सुदया न निम्मला समया । समयादधीकिवाहिं, पवत्तिओ जयइ
जिणधम्मो ॥ ११ ॥ जत्थ भमिओऽसि पुट्ठिं, अणंतसो जीव ! जोणिलक्खेसु । त लोणसरुवं चिय, चित्ततो कुणसु सुह-
ज्ञाणं ॥ १२ ॥ को जाणइ लब्भइ वा, न वत्ति वोही पुणोऽवि रे जीव ! । ता इह लहियं बोहिं, सुंहोवम कुणसु रंक् ! पुव्व ॥ १३ ॥ ”

१ प्रमाणमुद्रद्वयतया । २ अवातेषदप्रमाण । ३ कोटिमध्यादपि । ४ वेदव्य परावर्त्तात् । ५ व-व-पुरतके-“ जीव ” इत्यपि । ६ समताद्वयाद्विधादि । ७ आधारापुपाभित्त् ॥

इत्येव पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गायार्थः ॥ १७ ॥

अथ सप्तदशीं पट्त्रिंशिकामाह—

चउदगुणठाणनिउणो, चउदसपडिह्वपमुहगुणकलिओ । अट्टसुहुमोर्वएसी, छत्तीगुणो गुरु जयउ ॥

व्याख्या—गदितार्था । नवर चतुर्दशगुणस्थानानि मिध्यादृष्ट्यादीनि । यदाह—“ मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे
पमत्त अपमत्ते । नियट्टि अनियाट्टि सुहुम, उवसमखीण सजोगि अजोगिगुणा ॥ १ ॥ जीवाउपयत्थेयु, जिणोवड्टेयु जा असवह-
णा । सहहणा वि य मिच्छा, विवरीयपरूवणाए य ॥ २ ॥ ससयकरण जपि य, जो तेसु अणायरो पयत्थेयुं । त पचविह
मिच्छं, तदिट्ठी मिच्छदिट्ठी य ॥ ३ ॥ उवसमअद्धाइडिओ, मिच्छमपत्तो तमेव गतुमणो । सम्म आसायतो, सासायणिमो
मुणेयव्वो ॥ ४ ॥ जह गुडदहिणी महिया—णि भावसाहियाणि हुंति मीसाणि । भुजतस्स तहोभय, तदिट्ठी मीसदिट्ठी य ॥ ५ ॥
तिविहोवि हु सम्मत्ते, थेवावि न जस्स विरइ कम्मवसा । सो अविरइत्ति भण्णइ, देसे पुण देसविरई य ॥ ६ ॥ विगहाकसाय-
निहा—सहाइरओ भवे पमत्तुत्ति पंचसमिओ तिगुत्तो, अपमत्तजईं मुणेअव्वो ॥ ७ ॥ अप्पुव्वं अप्पुव्व, जहुत्तर जो करईं डिइफं ।
रसकंडं तग्घायं, सो होइ अपुव्वकरणो य ॥ ८ ॥ विणियट्टंति विसुद्धिं, सैमयपइट्टावि ज च अनुत्त । तत्तो नियट्टिठाण, विवरी-
यमओ अ अनियाट्टी ॥ ९ ॥ धूलाण लोहखडा—ण वेयगो वायरो मुणेयव्वो । सुहमाण होइ सुहुमो, उवएसतेण तु उवसंतो
॥ १० ॥ खीणम्मि मोहणिज्जे, खीणकसाओ सजोगजोगुत्ति । हुत्ति पउत्ता य तओ, अपवत्ता हुत्ति हु अजोगी ॥ ११ ॥ ”
चतुर्दश प्रतिरूपमसुखा गुणाः प्रतीता एव । यथा—“ पडिक्खो तेयस्सी, जुगप्पहाणागमो महुवरक्को । गंभीरो विइमत्तो, उवए-

१ “विपरीयपरूवणा जा य” इत्यपि । २ गुणपञ्चमिध अपि ॥

सपरो य आयरिओ ॥ १ ॥ अपरिस्तावी सोमो, संगहसीलो अभिगहर्षे य । अविकत्यणो अचबलो, पसंतहियओ गुरु होह ॥ २ ॥" अष्ट सूक्ष्माणि स्नेहसूक्ष्मादीनि । यथा— "सिणेह १ पुष्पसुहृमंर च, पाणुरे चिंगंध तदेव य । पणगं५ बीय६ हरियं७ च, अंहसुहृमं८ च अट्टमं ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

अयाष्टादर्शा पदत्रिंशिकामाह—

पंचदसजोगसंज्ञा—कहणेण तिगारवाण चाएण । सल्लतिगवज्जणेणं, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥१९॥

व्याख्या—गताथैव । पञ्चदश योगाः सत्यमनःप्रभृतयः । यदाह—“सम्भं? मोसं२ मीसं३, असच्चमोसं मणं तह वई य । उरल विउज्वाहारा, मीस्ता कम्मिग पनर जोगा ॥ १ ॥” एतद्गमनिका—अस्ति जीवः सदसद्रूपो वा देहमात्रव्यापक इत्यादि यथाऽवस्थितवस्तुविकल्पनपरं सत्य मनः १ । जल्पनपर सत्यं वचः २ । तद्विपरीतं मनो वचो वाऽसत्यम् ४ । धरखादिर-पलाशादिषु अंशोकसद्भावादसत्यम्, तेषामपि सभवात् सत्यामिति मिश्रविकल्पनपरं मनो वचो वा मिश्रम् ६ । आमन्त्रणप्र-ज्ञापनादिरूपं हे देवदत्त ! घटमानय, धर्म कुरु, इत्यादि विकल्पनजल्पनपर मनो वचो वाऽसत्याऽमृत्यम् ८ । औदारिककाययो-गः १, औदारिकमिश्रकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिश्रकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिश्रका-ययोगः ६, कर्मणकाययोगः ७ चेति पञ्चदश योगाः । पञ्चदशसंज्ञास्त्वाहारसंज्ञादिकाः । यदाह—“चउसन्नाहारार्हं, दसस-न्न कसायओधलोगजुया । पनरससन्ना सुहदु-क्खमोहोविचिगिच्छसोअजुया ॥१॥” तत्राहारसंज्ञा जलाद्याहारप्राहिणस्तृणादेरिव १ ।

१ = पुस्तके—“पलाशादिमिश्रेण” इत्यपि । २ धववनमिरपाऽपिापये ॥

भयमोहनीयोदयाद्भयसंज्ञा, सकोचिनीवह्यादेरिव २ । लोभमोहनीयोदयात्परिग्रहसंज्ञा, तन्तुभिर्द्वित्यादि वेष्टयन्त्या वह्यादेरिव ३ । वेदमोहनीयोदयान्मैथुनसंज्ञा, चम्पकतिलकाशोकादीनामिव ४ । क्रोधोदयात्क्रोधसंज्ञा, कूपादाक्रोशकं प्रति धावतः पारदादेरिव ५ । मानोदयान्मानसंज्ञा, हुंकारान्मुञ्चतः कोकनदकन्दादेरिव ६ । मायोदयान्मायासंज्ञा, दलैः फलान्याच्छादयन्त्याभिर्भटिकाव-ह्यादेरिव ७ । लोभोदयाल्लोभसंज्ञा, निधान प्ररोहैर्वैष्टयतो विल्वपलाशादेरिव ८ । ज्ञानोपयोगरूपा ओघसंज्ञा, सचरज्जनमार्गं परिहरन्त्या दृत्याचारोहन्त्या लतादेरिव ९ । दर्शनोपयोगरूपा लोकसंज्ञा, सूर्योदयाद्विकसतः कमलादेरिव १० । साताऽसाता-नुभवरूपे सुखदुःखसंज्ञे, सर्वजीवानां प्रतीते १२ । मिथ्यादर्शनरूपा मोहसंज्ञा, सूर्याभिमुखवस्तुयोजिकौपध्यादेरिव १३ । वि-प्लुतिरूपा विचिकित्सा, सा चाऽशुचिर्स्पर्शादृष्टिदोषादेर्वा म्लानि भजन्त्यास्तथाविधवह्यादेरिव १४ । शोकमोहनीयोदयाञ्चो-कसंज्ञा, अश्रूणि विमुञ्चन्त्या रुदन्तीवह्यादेरिव १५ । गारवत्रिकं च ऋद्धि १ रस २ सात ३ लक्षणम् । तथा चाह श्रीधर्म-दासगणिः—“पवराइ वत्थपाया—सणोवगरणाई एस विभवो मे । अविय महाजणनेया, अहंति अहं इड्डिगारविओ ॥ १ ॥ अरस विरसं ल्हं, जहोववण्ण च निच्छए भुत्तुं । निद्धाणि पेसलाणि य, मग्गइ रसगारवे गिद्धो ॥ २ ॥ सुस्ससई सरीर, स-यणासणवाहणापसंगपरो । सायागारवगुरुओ, दुक्खस्स न देइ अप्पाण ॥ ३ ॥” शल्यत्रिकं माया १ निदान २ मिथ्या-दर्शन ३ शल्यरूपम् । यदाह—“पट्टमं मायासल्ल १, नियाणसल्लं २ तथा भवे वीयं । तइयं मिच्छादंसण—सल्ल ३ भणियंक्क-विवांग ॥ १ ॥ एएहिं सल्लेहि, सल्लियहियओ मरेइ जो जीवो । सो असुहासुं गच्छइ, गईसु बहुसो चिणिअपावो ॥ २ ॥” इति गाथार्थः १९ ॥

१ जज्ञी । २ विचयप ॥

अथैकोनविंशतितर्मा पदत्रिंशिकामाह—

सोलससोलसउर्गम—उर्प्पीयणदोसविरहियाहारो ।

चउविहभिग्गह्निरओ, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २० ॥

व्याख्या—प्रकटार्था । नवरं पडशोड्ढमदोपा आधाकर्मादयः । यदाह—“आहाकम्मू १ हेसिय२—पूइयकम्मो ३ यं मीसजाए४ य । ठवणा५ पाहुडियाए६, पाओयर७ कीय८ पामिच्चे ९ ॥१॥ परिअट्टिए १० अभिहहु ११—विभ्वे १२ मालोहडे १३ य अच्चिज्जे १४ । अणिसिट्ट १५ ज्जोयरए १६, सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥ २ ॥” तद्गमनिका चेत्यम्—यत् पदकायविराधनया यतिन आधाय सकल्पेनाशनादिकरण तदाधाकर्म १ । यत्पुनर्गृहिणा स्वार्थं कृतं पश्चाद्यत्युद्देशेन प्रथक् क्रियते तदैर्देशिकम् । तत्रेधा, तत्र यद्यथाभूत समुद्धृत तत्तथाभूतमेव यावदर्थिकादीना चतुर्णासुद्दिश्यमानमुद्दिष्टैर्देशिकम् २ । यत्पुनः कूरादि दध्या-दिना व्यञ्जनादिना वा जीवविराधना विना संस्क्रियते तत्कृतैर्देशिकम् २ । यच्चगन्यादिना जीवविराधनापूर्वं मस्क्रियते तत्क-र्मैर्देशिकम् ३ ॥ तत्रिचिधमपि चतुर्था—यावदर्थिकसुदेशम् १ । पापण्डिकार्थं समुदेशम् २ । श्रमणेभ्य आदेशम् ३ । निर्ग्रन्थेभ्यः समादेशम् ४ ॥ एव द्वादशधा औद्देशिकम् । यदुद्गमकोटिदोषदुष्टसंज्ञात् शुद्धमपि अपवित्र तत्पूतिकर्म ३ । यदात्मनो हेतोर्गृह-स्थेन यावदर्थिकादिहेतोश्च मिलितमारभ्यते तन्मिश्रम् ४ । यत्पतिनिमित्तं गृही स्यापथित्वा मुञ्चति तद्द्रव्यतः स्थापना ५ । यत्स्वनिमित्तमपि गृही व्रतिन जाजिगमिपून जिगमिपून वा ज्ञात्वा अर्वाक् परतो वा तदर्थमारभते तत्प्राभृतिका ६ । यन्महा-न्धकारस्थितस्य यतिनिमित्तं दीपादिना प्रकटनं बहिरालोके नयन वा तत्प्रादुर्करणम् ७ । इत्स्वकीयपरकीयाभ्या मूल्येन वि-साधित तत्क्रीतम् ८ । यदुच्छिन्न याचित्वा गृही दत्ते तत्प्रामित्यम् ९ । यत्पुनः परावर्त्य गृही यतिभ्यो दत्ते तत्प्रा(परा)वर्ति-

तम् १० । यद्ग्रामान्तराद्गृहाद्वा यतिनिमित्तमानीतं तदाहृतम् ११ । यन्मुद्रितकुतुपादिमुखं यतिहेतोस्नुमुद्रय गृही घृणादि दत्ते तदुद्दिश्यम् १२ । यत्करदुर्गाद्यं मालादिभ्य उच्चार्य गृही दत्ते तन्मालापहतम् १३ । यद्बलात्कस्मादपि उद्गान्य गृही दत्ते तदाच्छेद्यम् १४ । यद्बहुसाधारणं अन्यैरदत्तं एको गृही दत्ते तदनिष्टम् १५ । यद्गृहिणा मूलारम्भे स्वार्थकृते तन्मध्ये यतिनिमित्तमधिकावतारणं सोऽध्यवपूरुः १६ । इत्युद्गमदोषाः षोडश ॥ “ धाई दूइ निमित्ते, आजीव वणीमगे तिगिञ्जा य । कोहे माणे माया, लोभे य हवति दस एए ॥ १ ॥ पुर्वि पञ्चा संधव, विज्जा मंते य चुण्णजोगे य । उप्पायणाइ-दोसा, सोलसमे मूलकम्भे य ॥ २ ॥ ” यदा पिण्डार्थं दातुं पत्यानामङ्कारोपणादिलालनं करोति तदा धात्रीदोषः १ । पिण्डार्थमेव संदेशकनयनादिक्रमणे दूतीदोषः २ । पिण्डार्थं लाभालाभकथने निमित्तदोषः ३ । पिण्डार्थं दातुः सत्कजात्यादि स्वस्य प्रकाशयतः आजीवनादोषः ४ । यो दाता यद्भक्तस्तस्याग्रतस्तद्भक्तमात्मानं दर्शयतः साधोर्वनीपकदोषः ५ । पिण्डार्थं टातृगृहे औपधादिना वमनादिना वा प्रतिकुर्वतो वैद्यादि सूचयतो वा चिकित्सादोषः ६ । बलविधाराजवर्णकतपःशक्तिप्रभावादि कोपभयाद्यं लभते स कोपपिण्डः ७ । प्रशंसिनोऽपमानितो वा दातुरभिमानोत्पादनेन यल्लभते स मानपिण्डः ८ । एकगृहाद्गृहीत्वा रूपान्तरं कृत्वा मायावशाद्यत्पुनर्ग्रहणार्थं प्रविशति स मायापिण्डः ९ । कस्यापि वस्तुनो गृह्या बहुतरमदतो लोभपिण्डः १० । जननीजनकश्वशूशुरादिसंबन्धपरिचयरूपं कुर्वतः पूर्वं पश्चाद्वा दानादातारं वर्णयतो वा संस्तवदोषः ११ । स्त्रीरूपदेवताधिष्ठितं पूर्वसेवाऽऽराध्यं च सप्रभाववर्णाभ्यां पिण्डार्थं प्रयुञ्जानस्य विद्यापिण्डः १२ । पुरुषदेवाधिष्ठितं पवित-सिद्धं च सप्रभाववर्णाभ्यां प्रयुञ्जानस्य पुनर्मेन्त्रपिण्डः १३ । अदृशीकरणहेतु नयनाञ्जनादिकं कुर्वतश्चूर्णपिण्डः १४ । सौ-

१ इ-पुस्तके-“ प्रकाशने ” इत्यमि । २ ब-पुस्तके-“ पूर्वसेवाघरसेवारा यय ” इत्यमि ॥

भाग्यदौर्भाग्यफलान् पादलेपप्रभृतीन् योगान् पिण्डार्थमेव प्रयुञ्जानस्य योगपिण्डः १५ । मङ्गलस्नानमूलिकाद्यौपधिरक्षादिना गर्भकरणविवाहभङ्गादि वशीकरणेणादि च पिण्डार्थं कुर्वतो मूलकर्म १६ ॥ इत्युत्पादनादोषाः षोडश ॥ तथाऽभिग्रहचतुष्कं द्वय १ क्षेत्र २ काल ३ भावा ४ भिग्रहरूपम् । यदाह—“ दन्वओ १ खिचओ २ चैव, कालओ ३ भावओ ४ तथा । अभिग्रहा उ साहूणं, एवं हुंति चउच्चिहा ॥ १ ॥ ” श्रूयते श्रीमन्महावीरस्य चतुर्धाऽप्यभिग्रहः । यथा—“ पृथ्वीनायसुत भुजिप्यचरिता इतीमिता मुण्डिता, भुक्तक्षामा रुदनी विधाय पदयोरन्नर्गतां देहलीम् । कुल्पापान् प्रहरद्वयव्यपगमे मे सूर्पकोणेन चेद्, दद्यात्पगणकं तदा भगतः सोऽयं महाभिग्रहः ॥ १ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथ विंशतितमी पद्विंशिकांमाह—

सौलसत्रयर्णविहिन्नु, सतरसविहसंजंममि उज्जुत्तो ।

तिविराहणाविराहो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २१ ॥

व्याख्या—गतार्था । नवरं षोडशधा वचनविधिः कालत्रिकादिकः । यदाह—“ कालतियं३ वयणतियं६, लिंगति-यं९ तह पस्वखपच्चक्वं । उषणयवणय चउक्कं, अज्झैत्थं चैव सोलसमं ॥ १ ॥ ” कालत्रिकं अतीतादि । यथा—कृतवान् करोति करिष्यति । वचनत्रिकं एकवचनद्विवचनबहुवचनलक्षणम् । लिङ्गत्रिकं स्त्रीपुरुषनपुंसलक्षणम् । परोक्षं स देवदत्त । प्रत्यक्षं एष देवदत्तः । ‘उवणयवणय’ इति उपनीतोपनीतं वचनं चतुर्धा, तत्र उपनीतोपनीतं यथा—अयं

१ “जरीरिता” इत्यमि । २ प्र-पुस्तके-“सुपन-” इति वचन-संज्ञा । द्विकक्षेत्रे चत्वार । ३ अ-पुस्तके-“सुपन-” इति वचन-संज्ञा । ४ मन्त्र-संज्ञा ।

ऋद्धिमान् उदारथ पुमान् ? । उपनीतापनीतं यथा—ऋद्धिमान् परं कृपणः २ । अपनीतोपनीतं यथा—अयं दरिद्रोऽप्यु-दारः ३ । अपनीतापनीतं यथा—अयं दरिद्रः कृपणश्च ४ । यद्वा स्त्री सुरूपा सुशीला च १ । सुरूपा कुशीला च २ । कुरूपा सुशीला च ३ । कुरूपा कुशीला च ४ ॥ ‘अज्झत्थं’ इति अध्यात्मवचनं यथा—मनोगतं किमप्यवक्तुकामोऽपि सहसा तदेव वक्ति तदध्यात्मवचनमिति । तथा सप्तदशधा संयमः पृथिन्यादियत्नलक्षणः । यदाह—“ पुढविदगअगणिमारुअ-वणसइवित्ति-चउपणिदिअज्जीवे । पंहुं-पेहेपमज्जण-परिठवणमणोवए काए ॥ १ ॥ ” ‘परिठवणत्ति’ परिष्ठापनासंयमः । शेषाणि पदानि शतीतानि । विराधनात्रिकं ज्ञानादिविराधनालक्षणम् । यद्यत्प्रतिक्रमणसूत्रम्—“पडिक्कमापि तिहिं विराहणाहिं, नाणविराह-णाए दंसणविराहणाए चरित्तविराहणाए ॥” इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अथैकविंशतितमी पद्विंशिकांमाह—

नरदिक्खदोसं अट्टा-रसेव अट्टार पावठाणाइं । दूरेण परिहरंतो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २२ ॥

व्याख्या—कण्ठ्या । नवरं अष्टादश नरदीक्षादोषाः शिशुत्वदृष्टत्वादयः । यदाह—“ वाले १ बुद्धे २ नपुंसं ३ य, कीवे ४ जडे ५ य वाहिए ६ । तेणे ७ रायावगारी ८ य, उम्मत्ते ९ य अदंसणे १० ॥ ११ ॥ दासे १२ दुद्धे १३ य मूदे १४ य, अणचे १५ जुंणिए १५ इय । उवट्टिए १६ य भइए १७, लेहनिप्फेडिया १८ इय ॥ २१ ॥ ” तत्र सप्ताष्टौ वर्षाणि यावद्बालोऽभिधीयते ? । सप्ततिवर्षेभ्य ऊर्द्धं वृद्धः २ । नपुंसकस्तृतीयवेदीयः ३ । स्त्रीभोगैर्निमन्त्रितोऽसंवृताया वा स्त्रियोऽज्ञोपाद्धानि दृष्ट्वा शत्रं वा मन्यनोऽज्ञापादिकं तासां श्रुत्वा समुद्भूतकामाभिलाषोऽधिसोढुं न शक्नोति स स्त्रीवः ४ । जडस्त्रिविधः, भाषया १ स्त्री-

रेण २ करणेन ३ च । भाषाजडः पुनरपि त्रिधा—जलमूकः १, मन्मनमूकः २, एलमूकः ३ । तत्र जलमग्न इव नुदबुडा-
यमानो यो वक्ति स जलमूकः १ । यस्य तु नुवतः स्वञ्च्यमानमिव वचनं स्वलति स मन्मनमूकः २ । यस्त्वेलक इवा-
व्यक्तमूकतया शङ्खत्रमेव करोति स एलमूकः ३ ॥ मन्मनमूको मेधाविगुणादीक्षणीयो नेतरौ १ । यः पथि भिक्षाटने
बन्दनादिषु वाज्जीवस्थूलतया शक्तो न भवति स शरीरजडः २ । करणं-क्रिया तस्यां जडः समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणासंयम-
पालनादिक्रियायां पुनः पुनरुपदिश्यमानोऽप्यतीव जडतया यो गृहीतुं न शक्नोति स करणजडः ३ । ५ । व्याधितो
भगन्दगातीसारप्रभृतिरोगैर्ग्रस्त ६ । स्तेनश्रौरः ७ । श्रीगृहान्तःपुरवृपतिशरीरतत्पुत्रादिद्रोहको राजापकारी ८ । उन्मत्तो
भूतादिगृहीतः ९ । अदर्शनः काणोऽन्धः स्थानार्द्धिको वा १० । 'दासत्ति' दासोऽङ्कितो दासीजातो वा ११ । 'दुष्टति'
दुष्टो द्विधा, कषायदुष्टो १ विषयदुष्टश्च २ । यदाह—“दुविहो य होइ दुष्टो, कसायदुष्टो १ य विसयदुष्टो २ य । सासंय-
पुत्तीओलगित्थिसिहरणी पढम आहरणा ॥ ११ ॥” तत्र सर्पभर्जिकाभिनिविष्टाश्वादिबहुत्कटकषायः कषायदुष्टः १ ।
अतीव परयोषिदादिषु गृद्धो विषयदुष्टोऽपि द्विधा, स्वपरपक्षाभ्यां चतुर्भङ्गी । विषयदुष्टस्त्रिधा, स्वलिङ्गगृहिलिङ्गान्यलिङ्ग-
भेदात् । संजईरूप्पिण वा, सिज्जायरि अज्जउत्थिणीण वा । एतो उ विसयदुष्टो, दुविहोऽपि न अरिहण दिवस्वं ॥ १ ॥ ”
१२ । 'मूढत्ति' मूढो मूर्खो व्यामूढो वा १३ । 'अणत्तेत्ति' ऋणार्तः १४ । 'जुंगिणत्ति' जातिकर्मशरीरादिभिर्दूषितो जुङ्गितः, तत्र मात-
ङ्गकोलिकवरडमूचिकादयोऽस्पृश्यता जातिजुङ्गिताः, स्पृश्या अपि स्त्रीमयूरकुर्कुटादिपोषका वंशवरत्रारोहणनखप्रसालनशौकरिक-
त्वादिनीचकर्मकारिणः कर्मजुङ्गिताः, करचरणकर्णादिवर्जिताः शरीरजुङ्गिताः १५ । 'उवट्टिणत्ति' उपस्थितो भोगलाहिकः १६ ।

१ सपत्न्यकार्थनाशाय्य पत्नीराप दत्तमन्त्र अवलम्बिका स्त्री शीलरिणी च । २ सपत्नेकल्पविनाया साध्यां यदा संयमां कालिक वा वा ॥

'भइएत्ति' भृतको वृत्तिकिङ्करः १७ । 'सेहनिष्फेडिआइयत्ति' यो हि अनुज्ञां विनाऽपहृत्य दीक्ष्यते स शिष्यानि-
स्फेदिकः १८ । एष तृतीयव्रतविलोपनप्रसङ्गाच्च दीक्षणीयो निरतिशयैरिति । अष्टादश पापस्थानानि प्राणातिपातादीनि ।
यदाह—“पाणाइवाय १ मलियं २, चोरिकं ३ मेहुणं ४ दविणमुच्छं ५ । कोहं ६ माणं ७ मायं ८, लोभं ९ पिज्जं
१० तथा दोसं ११ ॥ ११ ॥ कलहं १२ अन्धक्खाणं १३, पेसुन्नं १४ रइअरइसमाउत्तं १५ परपरिचायं १६ मायापोसं १७
मिच्छत्तसल्लं १८ च ॥ २ ॥” अपि च—“सुहुमे य वायरे वा, जो पाणे उवहिंसइ । रागहोसाभिभूयप्पा, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १ ॥ जा
मुसं भासए किंचि, अप्पं वा जइ वा वहुं । रागहोसाभिभूयप्पा, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ २ ॥ अदत्तं गिण्हई जो उ, अप्पं वा
जइ वा वहुं । रागहोसाभिभूयप्पा, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ३ ॥ मेहुणं सेवई जो उ, तिरिच्छं दिव्वमाणुसं । रागहोसाभि-
भूयप्पा, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ४ ॥ परिग्गहं गिण्हई जो उ, अप्पं वा जइ वा वहुं । गेही मुच्छाभिभूअप्पा, लिप्पई पावक-
म्मुणा ॥ ५ ॥ कोहं जो अ उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ६ ॥ माणं जो उ
उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ७ ॥ मायं जो उ उईरेइ, अप्पणो य परस्स य ।
तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ८ ॥ लोभं जो उ उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पा-
वकम्मुणा ॥ ९ ॥ रागं जो उ उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १० ॥ दमं जो उ
उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ११ ॥ कलहं जो उईरेइ, अप्पणो य परस्स य ।
तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १२ ॥ अन्धक्खाणं उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पा-
वकम्मुणा ॥ १३ ॥ पेसुन्नं जो उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १४ ॥ रइअरइ उ-
ईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १५ ॥ परपरिचायमुईरेइ, अप्पणो य परस्स य ।
तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १६ ॥ मायापोसं उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पाव-
कम्मुणा ॥ १७ ॥ मिच्छत्तसल्लं उईरेइ, अप्पणो य परस्स य । तन्निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ १८ ॥” इति
मायार्थः ॥ २२ ॥

अथ द्वाविंशतितमी पद्विंशिकायाह—

सीलांगसहंस्साणं, धारंतो तह य वंभभेयाणं । अट्टारसगमुय्यारं, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २३ ॥

व्याख्या—सुगमैव । नवरं अष्टादशसहस्रशीलाङ्गानामिय निष्पत्तिः । यथा—“करणे जोए सज्जा, इदिय भोमाइ
समणधम्म्ये य । सीलांगसहंस्साण, अट्टारसगस्स निष्पत्ती ॥ १ ॥” ब्रह्माष्टादशधा दिव्यौदारिकादिभेदभिन्नम् । यदाह—
“दिव्यौदारिककामानां, कृतानुमातिकारितैः । मनोवाक्ययतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥ १ ॥” इति मायार्थः ॥ २३ ॥

अथ त्रयोविंशतितमी पद्विंशिकायाह—

उत्सग्गदोसगुणंवी—सवज्जओ सत्तरंभेयमरणविहिं ।

भवियजणे पयडंतो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २४ ॥

१ इ-पुरादे—“वे तो कराने रूपस, भिज्जिक्खाराउत्तणेदि । पुवर्वाकायात्तं, खोउत्तमा ते मुनी बंदे ॥ १ ॥ इत्यादिचरणाया संयन्तरावपेत्तः ।

व्याख्या—सुबोधैव । नवरं उत्सर्गदोषाणामेकोनविंशतेर्वर्जको गुरुरिति । ते च घोटकादयो दोषाः । यदाह—“घो-
 ङ्ग १ ऋय २ खंभाई ३, मालु ४ ङ्गी ५ सवरि ६ नियल ७ खल्लिण ८ बहु ९ । लंघुत्तर १० षणसंजई ११, मसुहं १२
 गुलि १३-बायस १४ कविट्टे १५ ॥ १ ॥ सिरकंप १६ मूय १७ वारुणि १८, पेहत्ति १९ चइज्ज दोस उत्सग्गे । लघुत्तर-
 बहुयार्ई, तिय चउःनो समणिसङ्कीणं ॥ २ ॥ एतद्रमनिका—अश्वद्विपमपादः कायोत्सर्गं करोतीति सर्वत्र योज्यम् १ ।
 बाताहतलतावत्कम्पमानः २ । स्तम्भे कुड्यादौ वाऽवष्टभ्य ३ । माले शिरोऽवष्टभ्य ४ । शकटोद्धिवदुष्टौ पाष्णी वा मेल-
 यित्वा ५ । विवसनशबरीषद्गुहाग्रे करौ कृत्वा ६ । निगडितवच्चरणौ पृथुलौ संकीर्णौ वा विधाय ७ । कविकवद्रजोरहणं
 गृहीत्वा ८ । वधुवदवनतोचमाङ्गः ९ । जान्वधः प्रलम्बमाननिवसनः १० । दंशादिरक्षार्थं अज्ञानाद्वा हृदयं प्रच्छाद्य संयती-
 क्त्यावृत्य ११ । आलापकगणनार्थमङ्गुलीभ्रुवौ वा चालयन् १२ । वायसवच्चक्षुर्गोलकौ भ्रा(भ्र)मयन् १३ । कपित्यवत्परि-
 धानं पिण्डयित्वा १४ । यज्ञाविष्ट इव शिरः कम्पयन् १५ । मूकवत् हूहूकुर्वन् १६ । वारुणी सुरा, तद्बहुदुष्टुदायमानः १७ ।
 अनुपेक्ष्य(क्ष)माणो ज्ञानर इवौष्ठुपटौ चालयन् १८ । कायोत्सर्गं करोतीत्येकोनविंशतिर्दोषाः । तथा सप्तदशभेदं मरणमाप्ती-
 विपरणादिकम् । यदाह—“आवीइ १, ओहि २ अंतिय ३, वलायमरणं ४ वसट्टभरणं ५ च । अंतोसल्ल ६ तन्भव ७,
 बालं ८ तह पंडियं ९ मीसं १० ॥ १ ॥ छउमत्थ ११ मरणकेवलि १२, विहाणसं १३ गिद्धपिडमरणं १४ च । मरण भ-
 त्तपरिण्णा १५, इगिणि १६ पाओवगमणं १७ च ॥ २ ॥ ” एतद्विवरणश्लोकाश्चात्र—“मरणं सप्तदशधा—ऽऽवीचिपरणमा-
 दिमम् । जीवानां प्रतिसमया—युःकर्मदलिकश्रुतिः ॥ १ ॥ यान्यायुःकर्मदलिका—न्यनुभूय मृतः सकृत् । मर्ताऽनुभूय तान्येवा-

१ इ-पुस्तके—“एतद्विवरणं चात्र ” इत्यपि ॥

वधिमृत्युरय स्मृतः ॥ २ ॥ नानुभूय च मर्ता च, तदन्तिकमितीरितम् ३ । संयमयोगसन्नस्य, वलाकामरण भवेत् ४ ॥ ३ ॥
 इन्द्रियाथेवशार्तस्य, वशार्तमरणं भवेत् ५ । सशल्यमरणं प्राय-श्चित्तहीनस्य देहिनः ६ ॥ ४ ॥ मुक्त्वा संख्यायुपस्तिर्यग्-
 नरान् देवांश्च नारकान् । केषांचिदपि शेषाणां, स्यान्मृतिस्तज्जवाभिधा ७ ॥ ५ ॥ बालाख्य स्यादविरते ८, विरते विरता-
 भियम् ९ । मरणं मिश्रमाख्यातं, विरताविरते पुनः १० ॥ ६ ॥ चतुर्ज्ञानवतां याव-च्छब्दस्थ मरणं स्मृतम् ११ । स्यात्
 केवलमरणं तु, केवलज्ञानशालिनाम् १२ ॥ ७ ॥ गृद्धादिभक्षणाद्वाद्धृष्टं मरणमुच्यते १३ । उद्वन्धनादिना मृत्यु-र्भवेद्वैर्हा-
 नसाभिधम् १४ ॥ ८ ॥ मृत्युर्भक्तपरिज्ञाख्यः, सर्वाहारविवर्जनात् । मुक्तनिःशेषसङ्गस्य, जन्तोः सप्रतिकर्मणः १५ ॥ ९ ॥
 इद्रित्या(ता)ख्यं तदेवान्य-त्यतिकर्मविवर्जितम् १६ । पादपोषणमाख्यं तु, निश्चलं छिन्नदृष्टवत् १७ ॥ १० ॥ मरणेष्वेव सर्वेषु,
 त्रयमन्तिममुत्तमम् । ज्वलनाद्युपघातैस्तत्र कर्तव्यं विवेकिना १८ ॥ ११ ॥ इति गार्थः ॥ २४ ॥

अथ चतुर्विंशतितमीं पदत्रिंशिकांमाह—

वीसमसमोहिटाणे, दसेसंणा पंच गासंदोसे य ।

मिच्छंतं च चयंतो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २५ ॥

व्याख्या—विंशतिरसमाधिस्थानानि, दशैषणादोषान्, पञ्च ग्रासैषणादोषान्, मिथ्यात्वं च त्यजन्, इत्येवं पद-
 त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षेपार्थः, विस्तरार्थस्त्वयम्—विंशतिरसमाधिस्थानानि द्रुतद्रुतचारादीनि । यदागमः—“दवदव-
 चारि १ पमज्जिय २, दुपमज्जिय ३ रिचसिज्ज ४ आसणिए ५ । रायणियपरिभासी ६, थेर ७ भूओघार्ई ८ य ॥ १ ॥

२ इ-पुस्तके—“येषामसाभिधम् ” इत्यपि ॥

सजलण ९ कोहणे १० पि-ट्टमंसिए ११ भिक्खभिक्खमोहारी १२ । आहिरणकरोदीरण १३, अकालसज्जायकारी १४
 य ॥ २ ॥ ससरक्खपाणिपाए १५, सहकरे १६ कलह १७ झंझकारी १८ य । सूरप्पमाणभोई १९, वीसइमे एसणास-
 मिए २० ॥ ३ ॥ ” इत्येतत्पदसंस्कारश्चायम्—द्रुतद्रुतचारी १, अप्रमार्जितस्थायी २, दुष्प्रमार्जितस्थायी ३, घडुशा-
 लादिसेवी ४, अतिरिक्तशयनादिसेवी ५, रत्नाधिकपारिभाषी ६, स्थविरोपघाती ७, भूतोपघाती ८, सजलनोपघाती ९,
 दीर्घकोपी १०, पराद्गुहावर्णवादी ११, अभीक्ष्णमभीक्ष्णं चौरस्त्वमित्यादिवादी १२, उपशान्ताधिकरणोदीरकः १३, अ-
 कालस्वाध्यायकारी च १४, सरजस्कपाणिपादः १५, रात्रावृचैः शब्दकरः १६, कलहकरः १७. गणभेदकारी १८, सूरप्रमा-
 णमोजी १९, एषणायामसमितः २० इति ॥ तथा दशैषणादोषाः शङ्कितादयः । यदाह—“संकीय १ मक्खिय २ निरक्कत्त ३ पि-
 हिय ४ साहरिय ५ दायगु ६ म्मीसे ७ । अपरिणय ८ लिच्छ ९ छट्टिय १०, एसणदोसा दस हवंति ॥ १ ॥ ”
 एतद्रमनिका यथा—शुद्धमप्यशुद्धमिति शङ्कितमकल्पम् १ । अक्षित सचित्तेन आगमगर्हितेन वा खरण्ट-
 तम् २ । सचित्तपृथिव्यादिषु स्थापितं निक्षिप्तम् ३ । सचित्तेन फलादिना छन्नपिहितम् ४ । अयोग्यसचित्तादिपूत्सार्यं यदीयते
 तत्संहृतम् ५ । दायकदोषा आभिर्गाथाभिरवसेयाः—“थेरऽपहुं पडवेविरजरियधच्चत्तमत्तउम्मत्ते । करचरणच्छिन्नपग-
 लिय-नियलंडुपाउयारुडे ॥ १ ॥ खडइ पीसइ भुजइ, कचइ लोडेइ विक्खिणइ पिंजइ । दलइ विरोलइ जेमइ, जा गुक्खिणि
 बालवच्छा य ॥ २ ॥ तह छक्काए गिणइ, घट्टइ आरभइ खिवइ ददु जई । साहरण चोणियग, देइ परक परट्ट वा ॥ ३ ॥
 ठवइ बलि उव्वचइ, पिहराइ तहा सपच्चवाया जा । दित्तिसु एवमाइसु, ओहेण सुणी न गिा र्त्तिइ ॥ ४ ॥ योग्यमयोग्य च

१ स्वधितामपुष्पकोवधुःउज्जयित्वा । जन्तो मत्त । छि नकरचरणमिल्लदुःखिनिगदिशादितथा १ क इट ॥ २ अ-पुस्तके—“उवउचइ” इत्यपि ॥

समील्य यदीयते तदुन्मिश्रम् ७ । अपरिणतं द्विधाऽप्राप्तुमीभूतं द्रव्यापरिणत, दायकादेरशुद्धे भावे भावापरिणतम् ८ । दध्यादिलेपकृतसंश्लेषाभ्यां मात्ररूराभ्यां सावयेपद्रव्येण च त्रिभिः पदैरष्टभङ्ग्यां त्रिपमभङ्गेषु लिप्तम् ९ । यत्र दीयमाने परिसादिस्तच्छर्दितम् १० । एते एषणादोषा दश । त्रासैषणादोषाः पञ्च संयोजनाद्याः । यदाह—“सजोअणा१ पमाणेर, इंगाले३ धूम४ कारणे५ तह य ।” इति । संयोजन लौल्यात् क्षीरशर्करादिमीलनम् १ । प्रमाणातिरिक्तं पदभागोनमात्राधिकम् २ । इद्माल सरागप्रशसम् ३ । सधूमकं सद्देपनिन्दितम् ४ । अकारणं त्रेदनादिपदकारणरहितमिति ॥ एकविधं मिथ्यात्वं चादेवादिष्वपि देवन्वादिबुद्धिलक्षणम् । यदाह—“अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरो च या । अथर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्व तद्विपर्ययात् ॥ १ ॥ मिथ्यात्वं परमो रोगो, मिथ्यात्वं परमं तपः । मिथ्यात्व परमः शत्रु—मिथ्यात्वं परमं विपम् ॥ २ ॥ जन्मन्येकत्र दुःखाय, रोगो ध्वान्तं रिपुर्विपम् । अपि जन्मसहस्रेषु, मिथ्यात्वमचिकित्सितम् ॥ ३ ॥” इत्येतान् दोषान् त्यजन् पदत्रिंशद्गुणो गुरुर्जयतु । इति गार्थार्थः ॥ २५ ॥

अथ पञ्चविंशतितर्पी पदत्रिंशिकायाह—

इगवीससर्वैलचाया, सिक्खासीलैस्स पनरठाणाणं ।
अंगीकरणेण सया, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २६ ॥

व्याख्या—गदितार्थैव । नवरं शत्रुलतास्थानान्येकविंशतिः दगलेपादीनि । यदागमः—“वरिसंतो दस१ मास—स्स तिभि दगलेव माइठाणाई । आउट्टिया करंतो२, वडा३ लिया४ दिन्न५ मेहुन्ने६ ॥ १ ॥ निसिपत्त७ कम्म८ निवर्पि—ह९ कीयमाई अभिक्खसं-परि१४ । फंदाई भुजंतो १५, उदल्लहत्थाइगहणं च १६ ॥ २ ॥ सच्चित्तसिलाकोले १७, अइरावणिठाण १८ णिद्धस-सरक्खे १९ । छम्मासंतो गणसं—कमं च २० करकम्म २? मिय सवला ॥ ३ ॥” एतद्गमनिका यथा—वर्षान्तर्लेपानां दशकमाकुत्र्या कुर्वतः साधोः प्रथमं शत्रुस्थानम् ? । मासान्तर्दकलेपत्रय कुर्वतो द्वितीयम् २ । वधं कुर्वतस्तृतीयम् ३ । परमत्रानाकुत्र्येति घटाकोटिमाटीकते । आकुट्टिवधे हि मूलभागश्चित्तापत्तिः, शत्रुलता न्वप्राप्तमूलस्येति । यदुच्यते—“अत्रराहंमि पयणुए, जेण मूलं न वच्चए साह । सवलंति तं चरित्तं, तम्हा सजलत्तणं विति ॥ १ ॥” तथा-उलीतं अल्पतश्चतुर्थम् ४ । अदत्तं गृह्यतः पञ्चमम् ५ । मैधुनं सेवमानस्य षष्ठम् ६ । निशि भुञ्जानस्य सप्तमम् ७ । आधाकर्मिकं भुञ्जानस्याष्टमम् ८ । नृपपिण्ड भुञ्जानस्य नवमम् ९ । क्रीतं गृह्यतो दशमम् १० । आदिशद्भात्संभ-दायाच प्रामिन्यं गृह्यत एकादशमम् ११ । अभ्याहृतं गृह्यतो द्वादशमम् १२ । अच्छिन्नं गृह्यतस्त्रयोदशमम् १३ । अमीक्षण-मसंवरस्याप्रत्याख्यानव्रतश्चतुर्दशम् १४ । कन्दादि भुञ्जानस्य पञ्चदशम् १५ । उदकार्द्रहस्तादृह्यतः षोडशम् १६ । सच्चित्त-शिलाकोलस्थापिनः सप्तदशं, तत्र शिला सच्चित्तपृथिवीकायमयी, कोलो घुणस्तयुक्तं काष्ठादिकमपि कोलमिति १७ । तथाऽनन्तरितावनिस्थाने निर्पीदतोऽष्टादशम् १८ । स्निग्धसरजस्कशरीरस्य भुञ्जानस्यैकोनविंशतितमम् १९ । षण्मासान्त-र्गणाद्गणान्तरसंक्रमणं कुर्वतो विंशतितमम् २० । करकर्मानङ्गक्रीडादिककामोपक्रमं कुर्वत एकविंशतितमम् २१ । शत्रुलतास्था-नमिति । एतेषां परित्यागेन परिहारेणेत्यर्थः । तथा शिक्षाशीलस्य पञ्चदशस्थानानामङ्गीकरणेन, तानि च नीचैर्दृश्यादीनि । यदार्थम्—“अह पनरठाणेहि, सिक्खासीलुत्ति बुच्चइ । नीयावित्ती ? अचवले २, अमाई ३ अकुतूहले ४ ॥ १ ॥ अप्पं चाडिक्खिवई ५, पयंथं च न कुवई ६ । मित्तिज्जमाणो भयई ७, सुअं लद्धं न मज्जई ८ ॥ २ ॥ न य पावपरिक्खेवी ९,

१ ८-गुस्तके—“पनरस—” इत्यपि ॥

न य मित्तेसु कुप्पइ १० । अप्पियस्मावि मित्तस्स, रहे कल्लणभासई ११ ॥ ३ ॥ कलहडमरवज्जए १२, बुद्धे अभिजाइए १३ । हरिम १४ पडिसंलीणे १५, सुविणीउत्ति बुच्चइ ॥ ४ ॥ वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं । पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिइइ ॥ ५ ॥” इति गार्थार्थः ॥ २६ ॥

अथ पञ्चविंशतितर्पी पदत्रिंशिकायाह—

चावीसपरीसैहहियासणेण चाएण चउदंसणहं च । अविंभतरगंथाणं, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २७ ॥

व्याख्या—उत्तानार्थैव । नवरं द्वाविंशतिपरीपहाः क्षुत्पिपासादयः । यदागमः—“सुहा ? पिवासा२ सी३ उण्ह४ दसा५ उचैला६ रडिथिओ८ । चरिया९ निमीहिया१० सिज्जा११, अकोस१२ वह१३ जायणा१४ ॥ १ ॥ अलाभ१५ रोग१६ तणफासा१७, मल१८ सकार१९ परीसहा । पना२० अन्नाण२१ सम्मत्त२२, इअ चावीस परीसहा ॥ २ ॥” तथा—“पलाऽना-णपरीसह, नाणावरणमि हुति दो चेव । इको अ अतराए, अलाभपरीसहो चेव ॥ १ ॥ अरई अचेल इत्थी, निसीहिया जा-यणा य अकोसा । सकारपुरकारे, चरित्तमोहमि सत्तेव ॥ ४ ॥ दंसणमोहे दंसण—परीसहो नियमसो हवइ इको । सेसा परी-सहा खलु, इकारस वेयणिज्जंमि ॥ ३ ॥ दावोसं वायरस—पराइ चउदस य सुहुमरागमि । छउमत्थवीयरगे, चउदस इकार-स जिणंमि ॥ ९ ॥ वीसं उकोसपए, वट्टंति जहण्णओ य इक च । सीओसिणचरियनिती—हिया य जुगवं न वट्टंति ॥ ५ ॥” अभ्यन्तरग्रन्थचतुर्दशकं रागद्वेषादिकम् । यदाह—“रोगो दोसो अ मिच्छच्चं, कसाया हासच्छकं । एगो वेउत्तिये गंया, अंतरंगा चउदस ॥ १ ॥” इति गार्थार्थः ॥ २७ ॥

अथ सप्तविंशतितर्पी पदत्रिंशिकायाह—

पणवेईयाविसुद्धं, छद्मोसविमुक्क पंचवीसविहं । पडिलेहणं कुणंतो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥२८॥

व्याख्या—पञ्चविधवेदिकाविशुद्धं षट्पदोपविप्रमुक्त पञ्चविंशतिविधां प्रतिलेखनां कुर्वन्, इति पदत्रिंशद्गुणो गुरु-
र्जयत्विति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—पञ्चविधवेदिकादोषाः प्रसारितपादादयः । यदाह—“ पसरियपय १ जाणुवर्हि २,
अतोलगंति ३ गेगभुअवाहिं ५ । इअ वेइयपणणेणं, सुद्ध पडिलेहणं कुज्जा ॥ १ ॥ ” षट्पदोपा आरभटादयः । यदाह—
“ आरभटा १ संयदा २, मोसलि ३ पप्फोडणा ४ य वक्खित्ता ५ । नच्चाविय ६ त्ति पडिले—हणाए वज्जिज्ज छद्मोसे ॥ १ ॥
वितहकरणेण तुरियं, अन्ननागिन्हणे व आरभटा । अंतो व ह्ज्ज कोणा, निसियण तत्थेव संयदा ॥ २ ॥ अह उट्टुतिरिय-
भूमा—लभित्तिसंघट्टणा भवे मुसली । पप्फोडण वत्थस्स य, गाढं रयगुडियस्सेव ॥ ३ ॥ वक्खित्ता सुत्ताइसु, विमग्गणेणं
च जा कया होइ । वत्थे अप्पाणम्मि उ, चउहा नच्चाविआ होइ ॥ ४ ॥ ” प्रतिलेखनायाः, पञ्चविंशतिभेदास्तु दृष्टिप्रतिलेख-
नायाः । यदाह—“ दिट्ठिपडिलेह एगा, छ उट्टुपक्खोड तिगतित्तिरिया । अक्खोडपमज्जणया, नव नव पणवीस पडिलेहा
॥ १ ॥ ” इति गार्थः ॥ २८ ॥

अथाष्टाविंशतितमीं पदत्रिंशिकामाह—

सत्तावीसविहेहिं, अणंगारगुणेहिं भूसियसरीरो । नवकोडिसुद्धगाही, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ २९ ॥

व्याख्या—कण्ठ्या । नवरं अनगारगुणा व्रतपट्केन्द्रियनिग्रहादिकाः । यदाह—“ वयल्लर्कमिडियाण, (वि)निग्गहो
भार्वकरणंसच्चं च । खमर्याविरागयांवि य, मणमोईणं निरोहो अ ॥ १ ॥ कायाण छर्कजोग—म्मि जुत्तया वेयणाहियास-
णया । तह मारणंतिअहिया—सणा य एएणगारगुणा ॥ २ ॥ ” नवकोडिविशुद्धं त्वनाहतादिकम् । यदाह—“ न हणइ
न हणावेइ, हणंतं नाणुजाणइ । न पयइ न पयावेइ, पर्यंतं नाणुजाणइ ॥ १ ॥ न किणइ न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ ।
जो भिक्खू तस्स तं होइ, नवकोडिविसुद्धयं ॥ २ ॥ ” इति गार्थः ॥ २९ ॥

अथैकोनत्रिंशत्तमीं पदत्रिंशिकामाह—

अडवीसलद्धिपयडण—पउणो लोए तथा पयासंतो ।

अडविहपभावगत्तं, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥ ३० ॥

व्याख्या—सुवोधैव । नवरं अष्टाविंशतिलब्धय आमपौपध्यादयः । यदाह—“आमोसहि १ विप्पोसहि २, खेलो-
सहि ३ जल्लमोसही चैव ४ । सव्वोसहि ५ संभिन्ने ६, ओहि ७ रिउ ८ विउलमइलद्धी ९ ॥ १ ॥ चारण १० आसीविसा ११
के—वली य १२ गणहारिणो १३ य पुव्वधरा १४ । अरिहंत १५ चक्कवट्टी १६, वलदेवा १७ वासुदेवा य १८ ॥ २ ॥
खीरमहुसप्पिआसव १९, कुट्टयबुद्धी २० पयाणुसारी य २१ । तह वीअबुद्धि २२ तेअग २३, आहारण २४ सीयलेसा य २५
॥ २ ॥ वेउव्वियदेहलद्धी २६, अक्खीणमहाणसी २७ पुलगा य २८ । परिणामतववसेणं, एयाओ हुंति लद्धीओ ॥४॥”
एतद्विवरणगाथाश्रेयाः—“ संफारिसणमामोसो, मुत्तपुरीसाण विप्पुसो वावि । अन्ने विडित्ति विट्ठ, भासति पडित्ति पासव-
॥ १ ॥ एए अन्नेवि वहू, जेसिं सन्नेवि सुरहिणोऽवयवा । रोगोवसमसमत्था, ते हुंति तहोसहिं पत्ता ॥ २ ॥ जो सुणइ स
व्वओ मुण—इ सव्वविसए य सव्वसोएहिं । सुणइ वहुए व सहे, भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥ ३ ॥ रिउ सामन्नं तम्मत्तगा-
हिणी रिउमई मणोनाणं । पायं विसेसविमुह, घडमित्तं चित्तियं मुणइ ॥ ४ ॥ विउलं वत्थुविसेसं, नाण तग्गाहिणी मई
विउला । चित्तियमणुसरइ घट्टं, पसंगओ पज्जवसएहिं ॥ ५ ॥ अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहिं चारणा मुणओ । जंघाइ
जाइ पढमो, निस्स काउं रविकरेवि ॥ ६ ॥ एगुप्पाएण गओ, रुअगवरम्मी तओ पडिनियत्तो । वीएणं नंदीसरमेइ इह
तइयएण पुणो ॥ ७ ॥ ऊध्वेम्—पढमेण पंडगवणं, वीउप्पाएण नंदणं एइ । तइउप्पाएण तओ, इह जघाचारणो एइ ॥८॥
पढमेण माणुसोत्तर-नगंमि नंदीसरं तु वीएणं । एइ तओ तइएण, कयचेइयवंदणो इहयं ॥ ९ ॥ पढमेण नंदणवण, वीउप्पा-
एण पंडगवणंमि । एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ ॥ १० ॥ आसीविसा उ दुविहा, जाइक्कमेहिं तत्थ पढमिह्ठा ।
सप्पाई वीया पुण, मुणिणो खल्लु निग्गहसमत्था ॥ ११ ॥ केवल्लिगणपुव्वधरा—अरिहंतवल्लामासुदेवचकित्ति । सत्त महाल-
द्धीओ, पाएणं सुप्पसिद्धाओ ॥ १२ ॥ खीरमहुसप्पिसा ओ—वमाणवयणा तयासवा हुंति । कुट्टयधन्नसुनिच्चल—सुत्तथा
कुट्टबुद्धी य ॥ १३ ॥ जो सुत्तपएण वहुं, मुअमणुधावइ पयाणुसारी सो । जो अत्थपएणज्जत्थं, अणुसरइ स वीयबुद्धीओ
॥ १४ ॥ चत्तारि अ वाराओ, चउदसपुव्वी करेइ आहार । संसारमि वसंतो, एगभवे दुन्नि वाराओ ॥ १५ ॥ समओ ज-
हणमततर, उक्कोसेणं तु जाव छम्मासा । आहारसरीराणं, उक्कोसेण नवसहस्सा ॥ १६ ॥ तित्थयररिद्धिदंसण, सुहुमपयन्थो-
बगाहहेउं वा । संसयबुच्छेअत्थं, गमणं जिणपायमूलंमि ॥ १७ ॥ समंणि अवगअवेअ, परिहारपुलायमपमत्त च । चउ-
दसपुव्वि आहा—रगं च न कयाइ सहरइ ॥ १८ ॥ वेउव्वियलद्धीए, अणु व्व सुहुमा खणेण जायंति । कंचणागारि व्व गु-
इणो, लहुदेहा अकतूलं व ॥ १९ ॥ पडओ पडकोडीओ, पकुणति घडाओ घडसहस्सा उ । चित्तिअमित्तं रुव, खणेण वि-
रयंति किं बहुणा ॥ २० ॥ अंतमुहुत्तं नएए, मुहुत्त चत्तारि तिरियमणुएसु । देवेसु अद्धमासो, उक्कोस विउव्वणाकान्ठो

॥ २१ ॥ अक्वीणमहाणासिया, भिक्खं जेणाणियं पुणो तेणं । परिशुत्त चिय खिज्जइ, बहुएहि वि न उण अमोहि ॥ २२ ॥”
 अक्षीणमहालाऽप्येनदन्तर्गतैव । “ संयाइयाण कज्जे, चुण्णिजा चक्कवट्टिमि जीए । तीएँ लद्धीइ जुओ, लद्धिपुलाओ म्पुणे-
 यव्वो ॥ २३ ॥ भवसिद्धियपुरिसाण, एयाओ हुति सयललद्धीओ । भवसिद्धियमहिलाण, जित्तिय जायंनि तं धुच्छं ॥२४॥
 अरिहंतचक्रिसेसव—दलसंभिन्ने य चाग्णा पुव्वा । गणहरपुलायआहा—रगं च न हु भवियमहिलाणं ॥ २५ ॥ अभावियपुरि-
 साणं पुण, दसपुत्रिल्लाउ केवलित्तं च । उज्जुमई विउलमई, तेरस एयाओ न हवंति ॥ २६ ॥ अभावियमहिलाण पुण, ए-
 याओ न हुंति भणियलद्धीओ । बहुत्तीरासवलद्धी, वि नेव सेसाउ अवरुद्धा ॥ २७ ॥ ” तथाऽष्टविधमभावकता प्राक्-
 निकादिभिर्गुणैः । यदाह—“ पावयणी १ धम्मकही २, वाई ३ नेमिचिओ ४ तवस्मी य ५ । विज्जा ६ मिद्धो ७ अ-
 कई ८, अट्टेव पभात्रगा भणिया ॥ १ ॥ कालुचिद्वसुत्तधरो, पावयणी तित्थवाहगो मूरी । पढिन्नोहियमव्वजणो, धम्मकही
 कहणलद्धिओ ॥ २ ॥ वाई पणणकुसलो, रायदुवारेऽवि लद्धमाहणो । नेमित्तिओ निमित्तं, कज्जंमि पवजए निउणं ॥ ३ ॥
 जिणमयम्वुन्नामतो, विगंढरखवणेहिं भुंजइ तयस्सी । सिद्धवहुविज्जमतो, विजावतो य उचियणू ॥ ४ ॥ संयाइकज्जसाह-
 ग—चुण्णजणजोगसिद्धां सिद्धो । भूयत्थसत्थगथी, जिणसासणजाणओ सुक्की ॥ ५ ॥ अज्ज(ज)रक्ख १ नंदिसेणो २,
 सिरिगुत्तविणेय ३ भदवाहु य ४ । खवग ५ जखवढ ६ समिया ७, दिवायरो ८ वाईयाहरणा ॥ ६ ॥ अमीणां चरित्राणि
 कयानक्रेभ्योऽवसेयानि । इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथ त्रिंशत्तर्मा षट्त्रिंशिकायाह—

१ “ चक्रवर्तिमणये ” इति ॥ २ च—पुं के—“ वा इह—हाराणा ” इत्यपि । ३ द—पुं नक— ‘ अमीणां चरित्राणि दर्शनसामतिकार्यं कर्तुं प्रेषामि ” इत्यपि णठ ॥

एगुणतीसभेए, पावसुए दूरओ विवजंतो । सगविहसोहियुणणू, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥ ३१ ॥

व्याख्या—सुगमैव । नवरं एकोनत्रिंशत् पापश्रुतभेदा अष्टनिमित्ताद्वाधाः । यदाह—“ अष्टनिमित्तंगाई, दिव्वुप्पाय-
 तल्लिक्खभोमं च । अंग सरलक्खण चं—जण च तिविह पुणिकिणं ॥ १ ॥ सुत्त वित्ती तहव—चित्तं च पावसुअमउणतीसविहं ।
 गंधव्वनद्ववत्थु—माउं धणुवेयसजुत्तं ॥ २ ॥ ” सप्त शोधियुणास्तु लघुताद्वादजनकत्वादयः । यदागमः—“ लहुया १
 ऽऽह्हाईजणणं २, अप्पपरनियत्ति ३ अज्जवंसोही ४ । दुक्करकरणं ५ विणओ ६, निस्तल्लचं च सोहियुणा ७ ॥ १ ॥ विय-
 वंतस्स उ दोसे, असाकिलिट्ठस्स सुद्धवित्तस्स । सो परिहायइ बहुसो, पुव्वज्जियकम्मपन्भारो ॥ २ ॥ जए जह सुद्धसहावो,
 दोसे विअडेइ सम्मपुवउत्तो । तह तह पल्हाइ म्पुणी, नवनवसंवैगसद्धाए ॥ ३ ॥ न कुणइ पुणोऽवरहे, पच्छिचभया निय-
 त्तिओ अप्पा । तं दट्ठुं अकुणतो, पावाओ नियत्तिया अत्ते ॥ ४ ॥ सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ । निव्वार्णं
 परम णाह, पयसित्तु व्व पावए ॥ ५ ॥ लज्जा अभिमाणार्इ, महादलेऽणोगभवसदन्भत्या । वियदंति जे अगणित्तं, ते दुक्क-
 कारगा भणिया ॥ ६ ॥ तित्थयराणापालण, गुरुजणविणओ पसेविओ होइ । आलोअणापयाणे, सम्मं नाणाइविणओऽवि
 ॥ ७ ॥ जं जायइ निस्तल्लो, नियमा आलोइउं कुणइ सत्थो । नो अचहात्ति तम्हा, निस्तल्लचं गुणो तीए ॥ ८ ॥ ” इति
 गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अथैकत्रिंशत्तर्मा षट्त्रिंशिकायाह—

महमोहवंधंठाणे, तीसं तह अंतरारिच्छिक्कं च । लोए निवारयतो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥ ३२ ॥

व्याख्या—स्फुटार्थेव । नवरं त्रिंशन्महामोहवन्धस्थानानि अतिसंक्लिष्टपरिणामेन जन्तुघातकत्वादीनि । यदागमः—“ वा-
 रिमज्जेऽवगाहित्ता, तसे पाणेवि हिंसइ १ । छाएइ मुहं हत्थेणं, अंतोनायं गलेरवं २ ॥ १ ॥ सीसावेठेण वेदिता, संकिलेसेण मारउ ३ ।
 सीसम्मि जे य आहंतु, दुहमारेण हिंसइ ४ ॥ २ ॥ बहुजणस्स नेयारं, दीवं नाण च पाणिणं ५ । साहारणे गिलाणमि, पहुकिच्चं न कु-
 व्वइ ६ ॥ ३ ॥ साहूण धम्मकम्माओ, जो भंसेइ उवट्ठियं ७ । नेयाउयस्स मगस्स, अवगारंमि वट्ठइ ८ ॥ ४ ॥ जिणाणं णंतनाणीणं, अवण्णं
 जे पभासइ ९ । आयारिय उवज्जाए, खिसई मंदवुद्धिए १० ॥ ५ ॥ तेसिमैव य नाणीणं, सम्मं नो पडित्तप्पइ ११ । पुणो पुणो अहिरण,
 उप्पाए तित्थ भेयए १२ ॥ ६ ॥ जाण आहम्मिए जोए, पउंजइ पुणो पुणो १३ । कामे वमित्ता पत्थेइ, इहमि भविण्णइ १४ ॥ ७ ॥ अ-
 भिक्खणं अवहुस्सुत्तं, जे भासंति बहुस्सुए १५ । तह य अतवस्सी य, जे तवस्सिचिऽहं वए १६ ॥ ८ ॥ जायतेएण बहुजणं, अन्तोधू-
 मेण हिंसइ १७ । अकिच्चमपणा काउ, कयमेएण भासइ १८ ॥ ९ ॥ नियडुवहिपणिहीए, पैलिउचे साइजोगेजुत्ते य १९ । वेइ सव्वं
 मुसं वयसि, अज्झीणं झज्जाए सया २० ॥ १० ॥ अद्धाणंमि पवेसित्ता, जो घण हरइ पाणिणं २१ । वीसभिन्नो उवाएणं,
 दारे तस्सेव लुप्पइ २२ ॥ ११ ॥ अभिक्खमकुमारोउ, कुमारोऽहं च भासए २३ । एवमबंधयारीउ, वंधयारिचिऽहं वए २४
 ॥ १२ ॥ जेणेवेसरिय नीए, विचे तस्सेव लुंभइ २५ । तप्पभावुट्टिए वावि, अंतरायं करेइ से २६ ॥ १३ ॥ सेणावइं पस-
 त्तारं, भत्तारं च विहिंसइ २७ । इट्ठस्स वावि निगमस्स, नायगं सिट्ठियेव वा २८ ॥ १४ ॥ अपस्सयाणे पस्सामि, अहं दे-
 वत्ति वा वए २९ । अवण्णेणं च देवाणं, महामोहं पकुव्वइ ३० ॥ १५ ॥ ” अन्तरद्धारिपट्ठं तु अयुक्ततामयुक्तं कामादिकम् ।

यदाह—“कायो१ कोहो२ लोहो३, हरिसो४ माणो५ मओ६ य इअरुवं । दुरियारिछकमंतर—मलदपसरं सया कुजा ॥ १ ॥” इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

अथ द्वात्रिंशत्तर्मा पदत्रिंशिकामाह—

इगहियतीसविहाणं, सिद्धगुणाणं च पंच नाणैणं । अणुकित्तणेण सस्मं, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥३३॥

व्याख्या—सुगमं च । नवरं एकत्रिंशत् सिद्धगुणाः संस्थानायभावलक्षणाः । यदाह—“पडिसेहणसंठाणे, बण्ण गंध रस कासवेए य । पणपणदुपणद्वतिहा, इगतीसमैकायसंगरूहा ॥ १ ॥” अकायोऽशरीरः१, असङ्गः सङ्गवर्जितः२, अरु-होऽजन्मा३, एभिः सहैकत्रिंशद्भवन्ति । तथा चोक्तम्—“से न दीहे१, न वट्टे२, न तंसे३, न चउरंसे४, न परिमंढले५, न किण्हे६, न नीले७, न लोहिण्ठे८, न झालिहे९, न मुक्किले१०, न सुरभिगंधे११, न दुराभिगंधे१२, न तिचे१३, न कडुए१४, न कसाए१५, न अंवल्ले१६, न महुरे१७, न ककडे१८, न मउए१९, न गुरुए२०, न लहुए२१, न सीए२२, न उण्हे२३, न निद्धे२४, न लुवखे२५, न संगे२६, न रुहे२७, न काए२८, न इत्पी२९, न पुरिसे३०, न नपुंसे३१ । अहवा कम्म—“नवररिसणमि चत्ता—रि आउए पंच आइमे अंते । सेमे दो दां भेया, खीणभिलावेण इगतीसं ॥ १ ॥” ज्ञानपञ्चकं आभिनिबोधिकादिकम् । यदाह—“आभिणिबोहियनाण, सुअनाणं चेत्त आहिनानं च । तह यणपज्जवनानं, केवल-नानं च पंचमय ॥ १ ॥ एतद्विवरणं यथा—अर्थाभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः, अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकम्, इक्षणि, तच्च तद् ज्ञानं चेति समासः । उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं सांपतकालविषयं अवग्रहाद्यष्टाविंशतिभेदभिन्नं आत्मप्रकाशकं

१ अन्न-रविसारं ॥ २ “सुको” इत्यपि । ३ अकायं च ममत्वं अहंत्वम् ॥

आभिनिबोधिकं ज्ञानं, प्रतिज्ञानमित्यपरपर्यायम् । तथा भ्रूयते इति श्रुतं श्रुतत्वात्मकं, श्रुतं च तज् ज्ञानं चेति श्रुतज्ञानम् । उ-त्पन्नानुत्पन्नविनष्टार्थग्राहकं त्रिकालविषयं अज्ञानज्ञादिभेदभिन्नं इति स्वपरप्रकाशकं श्रुतज्ञानमिति । यत् उक्तम्—“सुअ-नाण महिद्धीयं, केवलं तयणनरं । अप्पणो य परेसिं च, जम्हा तं पवियांहियं ॥ १ ॥” ‘चः’, समुच्चये, ‘एवः’ अवधारणे । अवधीयतेऽन्नेत्यवधिः, स च ज्ञानं चेति अवधिज्ञानं, इदमप्युत्पन्नानुत्पन्नविनष्टार्थग्राहकं त्रिकालविषयं अनुगाम्यादिषद्-भेदभिन्नं अनधिज्ञानम् । तथा परिः सर्वतो भावे अवनं अवः गमनं वेदनं वा, नतः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः, स एव ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानम् । मनुष्यक्षेत्रवार्त्तिसंज्ञिषञ्चेन्द्रियद्रव्यमनोगतभावविज्ञानविषयं, तच्च ऋद्धिमाप्ताप्रमत्तसंयतसम्यग्गृह्येपर्या-प्तसख्यानापुष्पकर्मभूमिकगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणामेव संभवि, नैतद्विपरीतानामिति, ऋजुविपुलमतिभेदभिन्नमिति । केवलमस-हायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षं, केवलं च तज् ज्ञानं चेति केवलज्ञानं सकललोकालोकप्रकाशकं, तच्च पञ्चमं पञ्चमसंख्यात्मकम् । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशत्तर्मा पदत्रिंशिकामाह—

तह बत्तीसविहाणं, जीवाणं रक्खेणामि कयचित्तो । जियचउव्विहोवसंगो, छत्तीसगुणो गुरू जयउ ॥३४॥

व्याख्या—उत्तानार्थं च । द्वात्रिंशद्विंश जीवाः, भूजलानलानिलानन्तवनस्पतिरूपाः पञ्च पञ्चापि सूक्ष्मवादाभेदभि-न्नत्वाद्वा, ते च समत्येकवनस्पतिका एकादश, तेऽपि द्वित्रिचतुरिन्द्रियाऽऽंशिसक्षियुताः षोडश, ते च षोडशापि पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नत्वाद् द्वात्रिंशदिति । तथा चाह—“सुहुमियरभूजलानलवाउवणणंत दस सपत्तेया । वितिचउसभियरजुया

१ व-पुस्तके—“अविन-” इत्यपि । २ तद् प्रकृत्या प्रकृत्यात् । ३ भेदिसासं । ४ रजुपदं ॥

सोलस पजेयर द्दतीसं ॥ १ ॥” चतुर्विधोपसर्गास्तु देवकृतमानवकृततिर्यक्कृतात्मसवेदनलक्षणाः । तत्र देवकृतोपमर्गाश्च-तुर्धा, हास्याद्वा रागाद्वा द्वेषाद्वा विमर्शाद्वा । तत्र हास्याद् व्यन्तरीकृतोपसर्ग ईदरीक्षुलकस्येव । रागाद् स्नेहगात् सीतेन्द्रकृतः श्रीरामचन्द्रस्येव । प्रद्वेषात् सङ्गमकृतः श्रीवर्धमानस्येव । विमर्शाद् अश्रद्धानपरामरकृतो नन्दिपेणस्येव ॥ तथा मानवकृतो-पसर्गोऽपि चतुर्धा, हास्याद्वा रागाद्वा द्वेषाद्वा विमर्शाद्वा । तत्र हास्याद्देव्यासुताकृतः क्षुलकस्येव । रागात्कोशाकृतः श्रीस्थूलभ-द्रस्येव । प्रद्वेषात्सोमिलकृतो गजसुकुमालस्येव । विमर्शाद्गुपतिःकारितो गजाधिरूढमहामात्रोत्पादितत्रासकमत्यन्ककतिचिचीवराया वृद्धार्थिकाया इव ॥ तिर्यक्कृतोपसर्गोऽपि चतुर्धा, भयाद्वा प्रद्वेषाद्वा आहारहेतोर्वा अपन्यालयसंरक्षणार्थं वा । तत्र भयान् म-ण्डलकुण्डलिप्रभृतिभूतभूत भवति इति सुप्रतीतमेव । प्रद्वेषाच्चण्डकोशिकसर्पकृतो भगवद्दीरस्येव । आहारहेतोर्व्याघ्रीकृतः सुको-शलस्येव । अपन्यालयसंरक्षणार्थं गोसिंहादिकृतो भवतीत्यपि सुप्रतीतमेव ॥ तथाऽऽत्मसवेदनोपसर्गोऽपि चतुर्धा, सङ्घटनाद्वा, मपतनाद्वा, स्तम्भनाद्वा, लेशनाद्वा । तत्र संघटनात्स्वयमेवाक्षिरजोमलनादिकृतः स्यादिति । मपतनाद्वाऽत्यपादस्य सहसालम-गाढमहारस्येव । स्तम्भनान्मूर्च्छितवातप्रयोगक्षणस्तब्धीभूतहस्तपादादेरिव । लेशनाद्वाऽदरोगकशिताङ्गभाग्यस्येव ॥ अन्ये तु देवकृतोपसर्गभेदेषु रागाद्वेति पदं परिहृत्य चतुर्थं पदं विमर्षं (शं) प्रद्वेषादिद्वित्रिसंयोगसंभव पठन्ति । तथा मानवकृतोपसर्ग-भेदेष्वपि रागाद्वेति पदं परिहृत्य कुशीलप्रतिसेवनाख्यं चतुर्थं पदं वदन्ति इति । तथा चोक्तम्—“उवसज्जणमुवसगो, तेण तओ वाऽवसज्जए जम्हा । सो टिव्वमणुयतेरिच्छअ-उवेयणाभेओ ॥ १ ॥ हासपपओसवीमं सुभयपयभेयओ भवे दिव्वो । एयं चिय माणुस्सो, कुसीलपडीसेवण चउत्थो ॥ २ ॥ तिरिओ भयपपओसा-हारावचाइरक्खणत्थं वा । घट्टणर्थं पवडण-

लेसणओ वाऽऽसवेओ ॥ ३ ॥ ” इति गाथार्यः ॥ ३४ ॥

अथ चतुर्विंशत्तर्मा पदत्रिंशिकामाह—

वत्तीसदोसविरहिय—वंदणदाणंस्स निच्चमहिगारी। चउविहृविगहंविरोत्तो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥३५॥

व्याख्या—कण्ठ्या । नवरं द्वात्रिंशद् गन्दनकटोषा, अनाहतादयः । यदाह—“ अणादियं१ च घट्ट२ च, पवि-
द्धं३ परिपिडियं ४ । टोलगइ५ अंकुसं६ चैव, तथा कच्छभरिगियं ७ ॥ १ ॥ मन्हुवत्तं८ मणमा, पउट्ट९ तह य वेडयावद्धं
१० । भयसा ११ चैव भयंतं१२, मिची१३ गारव१४ कारणा१५ ॥ २ ॥ तेणियं१६ पडिणियं१७ चैव, रुट्टं१८ तज्जिय-
मेव१९ य । सट्टं२० च हीलियं२१ चैव, तह विप्पलिउंचियं२२ ॥ ३ ॥ टिट्टमदिट्टं२३ च तथा, सिंगं२४ च करमोयण २५ ।
आलिद्धं२६ मणालिद्धं २७, ऊणं२८ उत्तरचूलियं२९ ॥ ४ ॥ मूर्यं३० च टट्टर३१ चैव, चुडुलिय च अपाच्छिमं३२ । व-
त्तीसदोर परिसुद्धं, किडकम्मं पउजए ॥ ५ ॥ आयरकरणं आढा, तच्चिवरीय अणादियं होइ । टव्वे भावे थद्धो, चउभंगो
दव्वओ भइओ ॥ ६ ॥ पच्चिद्धमणुयवारं, जं अप्यंतोणिजंतितो होइ । जत्य व तत्य व उज्झइ, कयकिच्चोऽवत्तरं चैवं ॥७॥
सांपिट्टिए वि वंदइ, परिपिडियवयणकरणओ वावि । टोलु व उप्पिडंतो, ओसकहिसकणं कुणइ ॥८॥ उवगरणे इत्थंमि-
व, धित्तु निवेसेइ अंकुसं चैव । टियचिट्टरिगैणं जं, तं कच्छभरिगिय नाम ॥ ९ ॥ उट्टित निवेसंतो, उव्वचइ मच्छउ व्व
जलमज्जे । वंदिउकामो वऽणं, झंसु व्व परिअत्तए तुरियं ॥ १० ॥ अप्पपरपच्चएणं, मणप्पओसो अणेगउट्टाणो । पंचेव
वेइयाइ, भयंति निज्जेहणाईयं ॥ ११ ॥ भयइ व भइस्सइत्ति य, इय वंदइ न्होरंयं निवेसंतो । एमेन य मिचीए,

१ वदणमपयन् निर्घणित इव भवति । २ गणकर इव कचवर इव । ३ स्थिरोपण्टि । ४ मत्तव इव । ५ निष्ठाशनादिवत् । ६ व-पुस्तके—“ मयसइधि ” इत्यपि । ७ आशाम् ॥

तैव । यत्प्रतिक्रमणसूत्रम्—“ पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं,—इत्थीकहाए भत्तकहाए टेसकहाए रायकहाए । ” अन्यत्रापि
पठ्यते—“ सातन्वी सुभगा मनोहररुचिः कान्तेक्षणा भोगिनी, तस्या हारि नितम्बविम्बमथवा विभेक्षितं सुभ्रुवः । धिक्
तामुद्रागतिं मलीमसतनुं काकस्वरा दुर्भगा—मित्य स्त्रीजनवर्णनिन्दनकथा दूरेऽस्तु धर्माधिनाम् ॥ १ ॥ अहो ! क्षीरस्यामं
मधुरमधुरं चाज्यखण्डान्वितं चेद्, रसः श्रेष्ठो दग्धो सुखसुखकरं व्यञ्जनेभ्यः किमन्यत् । न पक्वान्नादन्यद्रमयति मनः स्वाद्
ताम्बूलमेकं, परित्याज्या पाद्मैरशनविषया सर्वदैवेति वार्ता ॥ २ ॥ रम्यो मालवकः सुधान्यजनकः काञ्च्यास्तु किं वर्णयते ?
दुर्गा गूर्जरभूमिरुद्धतटलाटाः किराटोपमाः । काश्मीरे वरस्ययतां सुखनिधौ स्वर्गोपमाः कुन्तला, वर्ज्या दुर्जनसङ्घवच्छु-
भधिया दैशी कथैवंविधा ॥ ३ ॥ राजास्यं रिपुवारदारणसहः क्षेमङ्करश्चौरहा, युद्धं भीममभूतयोः प्रतिकृत साध्वस्य तेनाघु-
ना । दुष्टोऽयं म्रियतां करोतु सुचिरं राज्यं ममाप्यायुषा, भूयो बन्धनिबन्धनं बुधजनै राज्ञां कथा हीयताम् ॥ ४ ॥ ” इति
गाथार्यः ॥ ३५ ॥

अथ पञ्चत्रिंशत्तर्मा पदत्रिंशिकामाह—

तित्तीसविहासायणं—वज्जणजुग्गो य वीरिआयारं । तिविहं अणिगूहंतो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥३६॥

व्याख्या—सुगमैव । नवरं त्रयस्त्रिंशदाशतना गुरुपुरोगमनादिकाः । यदाह—“ पुरओ पक्खाऽसत्ते गतारे चिह्-
णं६ निसेयीणाऽऽस्यमणे१० । आलोअण११पडिसुणणे१२, पुव्वालवणे१३य आलोए१४ ॥ १ ॥ तह उवदंस१५ निमतण१६,
खद्धा१७ ययणे१८ तथा अ पडिसुणणे१९ । खद्धति अ२० तत्यगए२१, किं२२ तुम२३ तज्जाय२४ नोसुमणे२५ ॥ २ ॥

१ व-पुरस्क “ क शमीरे वरसुरयता ” इत्यपि ॥

गारवसिन्धवाविणीओहं ॥ १२ ॥ नाणाइतिगं मुत्तुं, कारण इहलोगसाहगं होइ । पूयागारवहेउं, नाणगह-
णेवि एमेव ॥ १३ ॥ आगरतरेण हंटी, वंदामि तेण पच्छ पणइस्स । वंदणगपुल्लभावो, न करिस्सड मे पण-
यभगं ॥ १४ ॥ हाउं परस्स दिट्ठिं, वंदंतो तेणिय हवइ एयं । तेणो विव अप्पाणं, गूहइ उव्भावणा मा मे
॥ १५ ॥ आहारस्स उ काले, नीहारस्सावि होइ पडिणीयं । रोसेण धमधमंतो, ज वदइ रुट्टेय तु ॥ १६ ॥
नवि कुप्पसि न पसीयसि, कट्टसिवो चैव तज्जिय एयं । सीसंगुलिमाईहिं, तज्जेड गुरुं पणिवयतो ॥ १७ ॥ वीसंभट्टाण-
मिणं, सव्भावजडे सड हवइ एयं । कयडंति कयवयंति य, सट्टयावि य हुंति एगट्टा ॥ १८ ॥ गणिवायगजिट्टज्जति हीलियं
किं तुमे पणिवएणं । दरवंदियंमि वि कहं, करेइ पलिउंचियं एयं ॥ १९ ॥ अतरिओ तपसे वा, न वंदइ वंदई उ दीसंतो ।
एव टिट्टमदिट्टं, सिंग पुण कुंभपाणेहिं ॥ २० ॥ करमिव मन्नइ दिंतो, वंदणयं आरिहंतियकरोत्ति । लोइय-
कराओ मुक्का, न मुच्चिमो वंदणकरस्स ॥ २१ ॥ आलिद्धमणालिद्ध, गुरुपयसीसे य होइ चउभंगो । वयगमत्तरेहिं ऊणं, ज-
हण्णकाले त्रिसैसेइ ॥ २२ ॥ दाऊण वदण मत्थएण वंदामि चूलिया एसा । मूउ व्व सदरहिओ, ज वदइ मूर्यगं त तु ॥ २३ ॥
वट्टरसरेण जो पुण, मुत्तं घोसेइ वट्टर तमिह । चुडुलि व गिण्हिऊण, रयहरणं होइ चुडुलीयं ॥ २४ ॥ वत्तीसदोसपरिसुद्ध,
किडकम्मं जो पउजंइ गुरुणं । सो पावइ निव्वाण, अचिरेण विमाणवास दा ॥ २५ ॥ किडकम्मंपि कुणतो, न होइ किह-
कम्मनिज्जराभार्गी । पर्णवीसाभन्नयरं, साहू ठाणं विराहतो ॥ २६ ॥ ” विकथा चतुर्विंशत्तर्मा त्रीभक्तदेशराजकथारूपा सुप्रती-

१ वयधिया । २ अफगानना । ३ व-पुस्तके—“ विसैसेहिं इत्यपि ॥ ४ व-पुरस्क—“ चुडुलिय त तु ” इत्यपि । ५ व-पुरस्क—“ पत्तए ” इत्यपि । ६ व-पुरस्क—“ वराहानन्दर ” इत्यपि ॥

नोसरासि २६ कर्हं छित्ता २७, परिसं भित्ता २८ अणुद्वियाइ कहे २९ । संयारपायपट्टण ३०, चिट्ठु ३१ ष ३२ समासणे ३३ यावि ॥ ३ ॥" आसां व्याख्या—गुरोः पुरतः पार्श्वयोरासन्ने च पृष्ठतः प्रत्येकं गमनं स्थानं निषीदनं च कुर्वतः ९ । गुरोः पूर्वं बहिर्गतेनाचमनम् १० । पूर्वं गमनागमनालोचनम् ११ । रात्रौ कः स्वपिति को जागति, इति पृच्छति गुरौ जाग्रतोऽप्यप्रतिश्रवणम् १२ । साध्वाटेरागतस्य प्रथममालापनम् १३ । भिक्षां शौक्षकस्य कस्याचिदालोच्य पश्चाद्गुरोरालोचनम् १४ । एवमुपदर्शनम् १५ । निमन्त्रणं च १६ । गुरुमनापृच्छय यथारुचि साधुभ्यः 'खद्दति' प्रचुरं ददतः १७ । गुरोर्यत्किंचिद्विष्वा स्वयं स्निग्धमधुराद्युपभोगोऽदनम् १८ । अप्रतिश्रवणं रात्रिवच्छेषकालेऽपि १९ । 'खद्दति' गुरुं प्रति निष्ठुरं भणनम् २० । 'तत्थगयति' तत्रस्थस्यैव प्रतिनचनं ददतः २१ । गुरुं प्रति किमिति भणनम् २२ । त्वंकारश्च २३ । गुरुणा इदं कुरु इत्युक्तो यूयमेव किं न कुरुध्वं, इति तथावचनम् २४ । गुरौ कथां कथयति उपहतमनस्त्वम् २५ । न स्मरासि त्वं नायमर्थः संभ्रति २६ । स्वयं कथाकथनेन कथाछेदनम् २७ । अधुना भिक्षावेला, इत्यादिभिषैः पर्षज्जेदनम् २८ । अनुत्थितायां पर्षदि सविशेषकथनम् २९ । गुरुशय्यादेः पादेन घट्टनम् ३० । 'चिट्ठति' गुरुशयनादौ निषीदनादि ३१ । एवमुच्चासने, समासनेऽपीति ३२ ॥ तथा त्रिविधं वीर्याचारं मनोवचनकायवीर्याचारलक्षणं सुमतीतमेव । इति गार्थः ॥ ३६ ॥

अथ षट्त्रिंशत्तर्पी षट्त्रिंशिकाप्राह—

गणिसंपयट्टुचैउविह, वत्तीसं तेसु निच्चमाउत्तो । चउविहविणयपवित्तो, छत्तीसगुणो गुरु जयउ ॥३७॥

व्याख्या—गणिसंपदस्तावदष्टाष्टसंख्याकाः ताः प्रत्येकं चतुर्विधाः इति द्वात्रिंशत्, तेषु द्वात्रिंशद्गणिसंपद्रेटेषु नित्य-

१ न-पुस्तके—“ स्वयं रूपनेन ” इत्यपि ॥

मायुक्तः, तथा चतुर्विधविनयप्रवृत्तः, इति षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्जयत्विति संक्षपार्थः । विस्तरार्थस्त्वयम्—आचारसंपत् १, भुतसंपत् २, शरीरसंपत् ३, वचनसंपत् ४, वाचनासंपत् ५, मतिसंपत् ६, प्रयोगमतिसंपत् ७, संग्रहपरिज्ञासंपत् ८, इत्येता अष्टौ गणिसंपदः । तत्र चाचारसंपत्चतुर्था—चरणसप्ततियुक्तता १, निर्मदता २, अनियतविहारिता ३, अचञ्चलेन्द्रियत्वं ४ चेति । तथा श्रुतसंपत्चतुर्था—युगमथानागमज्ञता १, परिचितसूत्रार्थता २, उत्सर्गादिवेदित्वम् ३, उदात्तादिपदुवर्णोच्चारित्वम् ४ । तथा शरीरसंपत्चतुर्था—समचतुरस्रसंस्थानता १, संपूर्णाङ्गोपाङ्गता २, अविकलेन्द्रियत्वम् ३, तपःपरीषहादेः सहिष्णुता ४ चेति । तथा वचनसंपत्चतुर्था—अनाहतप्रतिभात्वम् १, मधुरवाक्यता २, निर्विकारवचनता ३, स्फुटवचनता ४ चेति । तथा वाचनासंपत्चतुर्था—योग्यायोग्यपात्रज्ञता १, पूर्वस्मिन् सूत्रार्थजाते परिणतेऽपरसूत्रार्थदानम् २, सूत्रं प्रति निर्यापणमुत्साहनम् ३, अर्थं प्रति निर्वाहित्वं ४ चेति । तथा मतिसंपत्चतुर्था—अवग्रहोऽव्यक्तग्रहणम् १, इहा विमर्शः २, अपायो निश्चयः ३, धारणा अविस्मरणं ४ चेति । प्रयोगमतिर्वादबुद्धिः, साऽपि चतुर्था—स्वशक्तिपरिज्ञानम् १, पुहंपपरिज्ञानम् २, स्वपरानुकूलक्षेत्रपरिज्ञानम् ३, स्वपरानुकूलराजादिवस्तुविज्ञानं ४ चेति । संग्रहपरिज्ञासंपत्चतुर्था—गणविहारयोग्यक्षेत्रादिपरीक्षणम् १, भद्रकादीनामुपदेशतो गणचिन्तादौ स्थिरीकरणम् २, स्वाध्यायाङ्गानां पुस्तकादीनां संगच्छर्नम् ३, तपोऽनुष्ठानादौ शौक्षकादीना यद्यथायोग्यकृत्यज्ञता ४ चेति । एव गणिसंपद्रेटा द्वात्रिंशदिति । तथाऽऽचारश्रुतविक्षेपदोषप्रतिघातभेदभिन्नत्वाद् विनयोऽपि चतुर्था । तत्राचारविनयः स्वस्य परस्य वा संयमतपोगणप्रतिमाविहारादिसामाचारीसाधनलक्षणः १, श्रुतविनयः सू-

१ न-पुस्तक—“ वगोच्चारणम् ” इत्यपि । २ न-पुस्तके—“ पूर्वसूत्रार्थजाते ” इत्यपि । ३ न-पुस्तक—“ निर्वाहकत्व ” इत्यपि । ४ नाम वि. तार्थता । ५ न-पुस्तके—“ पणुपपरिज्ञानम् ” इत्यपि । ६ न-पुस्तके—“ राज्यादि ” इत्यपि । ७ न-पुस्तके—“ गणसहितहार ” इत्यपि । ८ “ समो गच्छादतति ” । ९ न-पुस्तके—“ तत्र चाचार ” ॥

त्रार्थोभयभावरस्यानां दानग्रहणपरणोपदंहणादिभिः २, विक्षेपविनयो मिथ्यात्वतो गार्हस्थ्यत प्रमादाद्वा विक्षिप्य तद्दुष्परभावेण स्थापनमिति ३, तद्दोषप्रतिघातविनयो विषयकपायादिदोषप्रतिघातनेनेति ४ । एतदर्थसूचिकाः पूर्वर्षिभणीतगाथाश्चाश्रु—“ आचार १ सुय २ सरीरे ३, वयणे ४ वायण ५ मई ६ पओगमई ७ । एणसु सपया खलु, अट्टमिया सगहपरिण्णा ८ ॥ १ ॥ चरणजुओ १ मयरहिओ २, अनिययवित्ती ३ अचंचलो ४ चैव । जुग १ परिचय २ उस्सग्गो ३, उदत्तयोसाइ विन्नाया ४ ॥ २ ॥ चउग्ग १ अंकुटाई २, बहिरत्तणवज्जिओ ३ तवे सत्तो ४ । वाइ १ महुरत्त २ निम्मिय ३, फुडवयणो ४ संपया वयणे ॥ ३ ॥ जोगे १ परिणयवयणो २, निज्जवया ३ वायणाइ निव्वहणे ४ । उग्गह १ ईह २ अवाया ३, धारण ४ मईसंपया चउरो ॥ ४ ॥ सत्ती १ पुरिसं २ खित्तं ३, वत्थुं ४ नाउं पउंजए वायं । गणजोगं १ संसत्त २, सञ्जाए ३ सिक्खगं ४ जाण ॥ ५ ॥ आयारे सुअविणए, विकखे चैव होइ वोद्धवे । दोसस्स परिग्घाए, विणए चउहेस पढिवत्ती ॥ ६ ॥” इति गार्थः ॥ ३७ ॥

अथ सूरिवरगुणानामनन्तत्वं स्वस्य चात्यन्तं सामर्थ्याभावं दर्शयितुमाह—

जइवि हु सूरिवराणं, सम्मं गुणकित्तणं करेउं जे । सक्कोवि नेव सक्कइ, कोऽहं पुण गाढमूढमई ॥३८॥

व्याख्या—कण्ठ्या ॥ ३८ ॥ किं च—

तहवि हु जहासुआओ, गुरुगुणसंगहमयाउ भत्तीएइय छत्तीसं छत्तीसियाउ भणियाउ इह कुलए ॥३९॥

व्याख्या—सुवोधैव ॥ ९ ॥ अथैतद्गुणषट्त्रिंशिकासंग्रहगाथाकुल कार्यानुसारिणां प्राणिनामाशीर्वचनमाह—

सिरिवयरसेणसुहगुरु—सीसेणं विरइयं कुलगमेयं। पढिऊणमसढभावा, भव्वा, पावंतु कळ्ळणं ॥४०॥

श्याख्या—सुगमेव ॥ ४० ॥

॥ समाप्ता चेयं सद्गुरुगुणवद्त्रिंशत्पद्त्रिंशिकाकुलकदीपिका ॥

भीमद्रुहद्वेषपयोजहंसः, समस्तवादीन्द्रशिरोऽवतंसः । प्रहापराभूतसुरेन्द्रसूरिर्जीयाज्जगत्यां गुरुदेवसूरिः ॥ १ ॥

तद्रुचे स्वच्छमनाः, समजनि जयशेखरो गुरुः श्रीमान् । तत्पट्टगगनभानुः, सूरिः श्रीनञ्जसेनाहः ॥ २ ॥

तत्पट्टनायकाः श्री—हेमतिलकसूरयस्तदादेशात् । श्रीरत्नशेखराख्यः, शिष्यो लिखति स विद्वत्प्रियाम् ॥ ३ ॥

॥ प्रयागम् १३०० ॥



